



उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-111

रीडर-एक
निबंध और अन्य
गद्य विधाएँ

हिन्दी गद्य विवेचना
(आलोचनात्मक लेखों का संग्रह)

संकलन और संपादन
डॉ. जवरीमल्ल पारख

सहयोग
संजीव कुमार

MAHI-111/1

MAHI-111/2

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अक्खी	संकाय सदस्य
प्रो. गोपाल राय	प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
प्रो. नामवर सिंह	(कार्यक्रम संयोजक)
प्रो. नित्यानंद तिवारी	डॉ. जयदीपलाल पास्त्र
प्रो. निर्मला जैन	डॉ. रीता रानी पालीवाल
प्रो. प्रेम शंकर	डॉ. सत्यकाम
प्रो. मुजीब रिज़वी	डॉ. राकेश कर्त
प्रो. मीनेजर पाण्डेय	डॉ. शत्रुघ्न कुमार
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी	डॉ. नीलम फ़ारूकी
प्रो. लल्लन राय	श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
प्रो. शिवकुमार मिश्र	डॉ. विमल खांडेकर
डॉ. शिव प्रसाद सिंह	
प्रो. सुरजमान सिंह	पाठ्यक्रम संयोजक
	डॉ. जयदीपलाल पास्त्र

निर्माण सहयोग

श्री कुलवंत सिंह	सचिवालय सहयोग एवं
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)	कैम्परा रेड्डी कॉपी निर्माण
	श्री नरेश कुमार

अक्टूबर 2001 (मुद्रण)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2001

ISBN- 81-266-0314-1

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिनियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 088 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. वी.रा. जगन्नाथन, निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय प्रयागराज की ओर से विनय कुमार कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित वर्ष 2024
मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा० लि० 42/7 जवाहर लाल नेहरू रोड प्रयागराज 211002.

विवरणिका

भूमिका	पृष्ठ संख्या
1. निबंध रचना, शैली और व्यक्तित्व : डॉ. रामविलास शर्मा	6
2. 'अशोक के फूल से देवदारु वन तक : कृष्ण विहारी मिश्र	26
3. निबंधों में द्विवेदी जी का व्यक्तित्व : त्रिलोचन पाण्डेय	38
4. व्यंगकार : हरिशंकर परसाई : भीष्म साहनी	42
5. गद्यकार महादेवी : गंगा प्रसाद पाण्डेय	47
6. बहुमुखी रचना—कर्म की परंपरा और अज्ञेय : प्रयाग शुक्ल	68
7. एक व्यक्ति : एक युग : शिवप्रसाद सिंह	74
8. राहुल का हिमालय—प्रेम गुणाकर मुले	79
9. संगेय राघव के रिपोर्ताज : मधुरेश	98
10. श्री कांत वर्मा की जिरह : अरविंद त्रिपाठी	102
11. प्रताप नारायण मिश्र और 'धोखा'	112
12. रामचंद्र शुक्ल और 'लोभ और प्रीति'	124
13. हजारी प्रसाद द्विवेदी और 'कुटज'	152
14. रामविलास शर्मा और 'संस्कृति और जातीयता'	168
15. परिशंकर परसाई और 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय'	187
16. महादेवी वर्मा और 'ठकुरी बाबा'	198
17. अज्ञेय और 'बसंत के अग्रदूत'	230
18. अमृत राय और 'कमल का सिपाही'	254
19. बच्चन और 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ'	271

20.	राहुल सांकृत्यायन और 'किन्नर देश की ओर'	287
21.	संगेय राघव और 'अदम्य जीवन'	310
22.	श्रीकांत वर्मा और 'ऑक्टोवियो पॉज'	327

1. निबंध-रचना, शैली और व्यक्तित्व

डॉ. रामविलास शर्मा

'चिन्तामणि' में शुक्लजी के दस निबंध ऐसे हैं जिनका संबंध मुख्यतः मनोविज्ञान से है। ये निबंध शुक्लजी के साहित्यालोचन का मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट करते हैं। हम पहले देख चुके हैं कि शुक्लजी की आलोचना-पद्धति न तो रीतिशास्त्रों का अनुसरण करती है, न पच्छिम के काव्यशास्त्र का। इसलिए मनोविज्ञान के बारे में उनकी स्थापनाएँ और भी दिलचस्प हो जाती हैं। इनमें न तो शुक्लजी ने रीतिशास्त्र के भाव-विवेचन को अपना आधार बनाया है, न पच्छिम के मनोविज्ञान को। उनकी स्थापनाएँ मौलिक हैं और न केवल साहित्यशास्त्र को, वरन् मनोविज्ञान और समाजशास्त्र को भी महत्वपूर्ण देन हैं।

पच्छिम के मनोविज्ञान की मूल प्रवृत्ति व्यक्तिवाद को लेकर चली है। उनका मुख्य रुझान व्यक्ति को समाज से, उसके वर्ग से अलग करके उसके मनोविकारों का अध्ययन करना रहा है। मनोविज्ञान की कुछ धाराएँ जड़ भौतिकवाद को लेकर चली हैं। वैज्ञानिक भौतिकवाद के विपरीत ये धाराएँ मनुष्य को निष्क्रिय पदार्थ मानकर, उसकी स्वतंत्र इच्छाशक्ति और चिंतन को कोई जगह न देकर उसे परिस्थितियों का नपा-तुला परिणाम मात्र मान लेती हैं। बिहेवियरिस्ट धारा यांत्रिक भौतिकवाद की धारा है जो मनुष्य की हर क्रिया को परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मानकर चलती है। इसी अवैज्ञानिक विचारधारा से मिलता-जुलता फ्रायड आदि का मनोविश्लेषण है जो प्रायः मनुष्य की हर क्रिया के पीछे उसकी दमित कामवासना का खेल देखता है। भारतीय भाववादी दर्शन का रुझान ज्ञान और भावना को मनुष्य के सामाजिक जीवन, उसके सामाजिक व्यवहार से अलग करके देखने का है। यह रुझान भारतीय दर्शन की एकमात्र धारा नहीं है। हमारे दर्शन में वस्तुवाद की ओर उन्मुख और धाराएँ भी हैं लेकिन रीतिशास्त्र पर इनका प्रभाव नहीं पड़ा, मुख्य प्रभाव भाववादी दर्शन का पड़ा है। नतीजा यह कि इस तरह के दर्शन से जो मनोविज्ञान और साहित्यशास्त्र प्रभावित होगा, वह भावों का संबंध मनुष्य के व्यवहार से न जोड़ सकेगा, वह यह न दिखला सकेगा कि भावों का सामाजिक आधार क्या है; कौन से भाव अच्छे हैं, कौन से बुरे; भावों का सामाजिक परिणाम क्या होता है; उनका प्रभाव मनुष्य के सामाजिक जीवन पर क्या पड़ता है, इत्यादि। उनकी प्रवृत्ति साहित्य को लोक-जीवन से

हिंदी गद्य विवेचना

अलग करके देखने, रस या आनंद को मानव-संस्कारों से दूर रखने, शुद्ध कला या लोकोत्तर आनंद की व्याख्या करने की ओर होगी। शुक्लजी का मनोविज्ञान और साहित्यशास्त्र इससे विरोधी दशा में विकसित होता है।

मनुष्य के हृदय में भाव क्यों पैदा होते हैं? इनका संबंध किसी शुद्ध आत्मा या अशुद्ध माया नाम की वस्तु से है या इनका स्रोत मनुष्य के सामाजिक व्यवहार, उसके भौतिक जीवन में ढूँढना चाहिए? शुक्लजी का कहना है : 'संसार-सागर की रूप-तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है।' (रसात्मक बोध के विविध रूप)

मनुष्य के भावों का विधान संसार की रूप-गति में हुआ है। उनका आधार मनुष्य का भौतिक जीवन है, उससे अलग हम शुद्ध आत्मा की तरह विशुद्ध भावों या 'इंस्टिंक्ट' की कल्पना नहीं कर सकते। बहुत-से पच्छिमी विचारकों का 'इंस्टिंक्ट' — यानी अपरिवर्तनशील मूल भाव — आत्मा का ही पर्यायवाची है। शुक्लजी के लिए ऐसे अपरिवर्तनशील भावों की सत्ता नहीं है। भावों की सत्ता अनुभूति पर निर्भर है और अनुभूति विषय-वस्तु के बिना, बाह्य जगत् के बिना नहीं होती। मनुष्य की काल्पनिक अनुभूति भी बाह्य जगत् की ही प्रतिच्छवि रहती है। कारण यह है कि 'मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है।' (काव्य में रहस्यवाद)

सत्ता का ज्ञान विशुद्ध आत्मानुभूति नहीं है वरन् लोकबद्ध है। कविता का विकास - मनुष्यों के भावों और उनकी व्यंजना का विकास - लोक के ही भीतर होता है, इसलिए भावों में जो विभिन्नता दिखाई देती है, वह लोक की ही विभिन्नता, मनुष्य के व्यवहार और बाह्य जगत् की विभिन्नता का ही परिणाम है।

'अनुभूति के द्वंद्व ही से प्राणी के जीवन का आरंभ होता है।' (भाव या मनोविकार)। यह द्वंद्व सुख और दुख का है। 'मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार' नये-नये भाव पैदा करती है। भाव की विभिन्नता दो कारणों से होती है - मनुष्य की इच्छा से और विषयबोध से। आत्मगत और वस्तुगत दोनों ही तरह के कारणों से भावों का विकास होता है। यदि आत्मगत कारण न हों तो मनुष्य दर्पण की तरह यांत्रिक ढंग से वस्तुगत व्यापारों को ही प्रतिबिंबित करता रहे। शुक्लजी ने लिखा है : 'विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे संबंध रखने वाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है।' इस तरह के भावों की कोई विशुद्ध आत्मगत सत्ता नहीं है; उनकी विभिन्नता का विकास विषय-बोध पर भी निर्भर है। मनुष्य के भाव उसके सामाजिक जीवन से किस तरह उत्पन्न होते हैं, इसकी एक मिसाल ईर्ष्या है। ईर्ष्या के बारे में

शुक्लजी ने लिखा है : 'ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है।' इसी तरह उत्साह को लीजिए : 'साहसपूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौंदर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।' यहाँ भी उत्साह का संबंध मनुष्य के व्यवहार से है। इसी तरह श्रद्धा वह आनंद-पद्धति है जो 'किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख' कर पैदा होती है। यहाँ भी उसका वस्तुगत कारण मौजूद है। करुणा का तो कहना क्या! 'जब बच्चे को संबंध-ज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं।' यह संबंध-ज्ञान न हो, बाह्य जगत् का बोध न हो तो करुणा का भी अस्तित्व न हो। व्यक्तिगत दुःख की अनुभूति से करुणा को अलग करते हुए शुक्लजी ने लिखा है : 'पर दूसरों की पीड़ा, वेदना देख जो 'करुणा' जगती है, उसकी अनुभूति सच्ची रसानुभूति कही जा सकती है।' (रसात्मक बोध के विविध रूप) करुणा लोकजीवन से विमुख एकांतवासी कवियों की आत्मानुभूति नहीं है, वह दूसरों की पीड़ा देखकर जगती है, उसके संचार के लिए दूसरों का अस्तित्व भी जरूरी है।

मनुष्य के हृदय में लज्जा क्यों पैदा होती है? जब उसे यह आशंका होती है कि 'दूसरों के चित्त में' उसके प्रति बुरी धारणा है, तब उसकी वृत्तियों का संकोच होता है और वही लज्जा है। इस तरह लज्जा का जन्म भी लोक-व्यवहार में होता है। लोभ कब पैदा होता है? जब किसी सुख देने वाली 'वस्तु के संबंध में' प्राप्ति की इच्छा पैदा होती है। 'अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर' घृणा पैदा होती है। 'किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से' भय पैदा होता है। 'दुःख के चेतन कारण या अनुमान से' क्रोध पैदा होता है। सारांश यह कि हर मनोविकार का कोई-न-कोई वस्तुगत कारण होता है। काव्य का संबंध मनोविकारों से है और मनोविकारों का संबंध मनुष्य के व्यवहार-जगत् से। इसलिए व्यवहार-जगत् का ज्ञान प्राप्त किए बिना, उससे भावात्मक संबंध स्थापित किए बिना कोई भी शुद्ध आत्मानुभूति के बल पर कवि नहीं बन सकता। शुक्लजी के साहित्यालोचन का यह वस्तुवादी सूत्र है : 'शब्द-काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।'

भावों के वस्तुगत कारण हैं। उनका आधार मनुष्य का व्यवहार जगत् है लेकिन वे उत्पन्न होते हैं मनुष्य में ही। भाव-धारणा की यह क्षमता मनुष्य के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। शुक्लजी ने कई जगह पशुओं और मनुष्यों में भेद करते हुए मानव के विकास के साथ उसका ज्ञान-प्रसार और भाव-प्रसार बढ़ता हुआ दिखाया है। 'कविता क्या है' नाम के निबंध में उन्होंने कहा है : 'पर मनुष्य में ज्ञान-प्रसार के साथ भाव-प्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है, अकस्मात् मनुष्य इस भाव-प्रसार के साथ पैदा नहीं हो गया। मनुष्य अपने विकासक्रम में कुछ संस्कार पूर्वजों से पाता है, कुछ अपने नए अनुभवों से संचित

हिंदी गद्य विवेचना

भी करता जाता है। ऐसा न हो तो उसके कुछ आदिम संस्कार ही बने रहें, उनसे वह आगे न बढ़े। 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नाम के निबंध में शुक्लजी ने लिखा है : 'पूर्वजनों की दीर्घ परंपरा द्वारा चली आती हुई जन्मगत वासना के अतिरिक्त जीवन में भी बहुत से संस्कार प्राप्त किए जाते हैं।' मनुष्य को आज जो भावनाशक्ति मिली है, वह एक दीर्घ परंपरा का फल है और अपने नए संस्कार जोड़कर मनुष्य उसे आगे भी बढ़ाता चलता है। मनुष्य की वासना, सहृदयता, उसकी रसग्राहिका शक्ति के विकास का यह वैज्ञानिक सिद्धांत है। शुक्लजी ने संस्कृत के रसशास्त्रियों की वासना को स्थिर और शाश्वत न मानकर उसे एक ऐतिहासिक विकास का परिणाम स्वीकार किया है। इस तरह भावों में बाह्य जगत् के अलावा मनुष्य की जिस आत्मगत चेतना, इच्छा आदि का योग रहता है, उसकी भी एक वस्तुगत सत्ता है, वह भी ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। विषय-वस्तु के विचार से भी और मनुष्य की अपनी इच्छा के विचार से भी भाव की वस्तुगत सत्ता सिद्ध होती है, इसलिए भावों को प्रकट करने वाली कविता भी एक वस्तुगत व्यापार है जिसका वैज्ञानिक अध्ययन संभव है।

भाव का संबंध किसी शाश्वत आत्मा से नहीं है, इसी कारण विभिन्न मनुष्यों और वर्गों में रुचि की भिन्नता दिखाई देती है। रुचि की समानता का आधार मानव-जीवन की समानता है। मानव-जीवन की विषमता से रुचि की विषमता भी पैदा होती है। 'भाव या मनोविकार' में शुक्लजी शासक वर्ग का जिक्र करते हैं जो भावों का उपयोग 'अपनी रक्षा और स्वार्थसिद्धि के लिए भी' करते आए हैं, 'उसी प्रकार धर्म-प्रवर्तक और आचार्य अपने स्वरूप-वैचित्र्य की रक्षा और अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा के लिए भी।' इसलिए जन-साधारण का भाव-व्यापार वही नहीं है जो शासकों और धमाचार्यों का होता है। रुचि का वर्ग-आधार, वर्गों द्वारा भावों का उपयोग शुक्लजी के इन दो वाक्यों में बहुत अच्छी तरह प्रकट हुआ है। 'शासकवर्ग अपने अन्याय और अत्याचार के विरोध की शांति के लिए भी डराते और ललचाते आए हैं। मत्-प्रवर्तक अपने द्वेष और संकुचित विचारों के प्रचार के लिए भी जनता को कँपाते और ललचाते आए हैं।' यह द्वेष और संकुचित विचार कहाँ से पैदा होते हैं? मत्-प्रवर्तकों और शासकों के स्वार्थमय जीवन से। उनका जीवन जन-साधारण से भिन्न है। एक अत्याचार और अन्याय करने वाला है, दूसरा सहने वाला है। इसी विषमता के कारण उनकी रुचि में भी विषमता होती है। इसलिए 'कविता क्या है' में 'अर्थागम से हृष्ट' ज्योतिषियों, कर्मकाण्डियों, बनियों और दलालों, अमलों और मुख्तारों को कवि और साहित्यकार निठल्ले और खब्तुलहवास लगते हैं; इस रुचि-भेद का कारण सामाजिक जीवन की असमानता है। यह असमानता अखंड और निरपेक्ष नहीं होती; असमानता के साथ बहुत सी समानता भी कायम रहती है। यही कारण है कि बहुत-सी बातों में रुचि की असमानता के साथ कुछ बातों में रुचि की समानता भी मिलती है। उसी निबन्ध में

निबंध-रचना, शैली और व्यक्तित्व

शुक्लजी ने कविता पर अत्याचार की बात कही है, लोभियों और स्वार्थियों द्वारा उसके गला दबाए जाने की बात कही है, केशव आदि के विवेचन में राज-दरबारों के कुसंस्कारों का उल्लेख किया है - यह सब सिद्ध करता है कि मनुष्य की रुचि का आधार उसके जीवन की परिस्थितियाँ हैं। रुचि के वर्ग-आधार का यह अर्थ नहीं होता कि मनुष्य की अपनी इच्छा-शक्ति की कोई भूमिका नहीं होती। इच्छा-शक्ति परिस्थितियों से प्रभावित होती है लेकिन जिनका मनोबल दृढ़ होता है, वे अपने वर्ग की परिस्थितियों से ऊपर भी उठ सकते हैं और उठ जाते हैं।

रुचि और भावना का आधार पहचानने के कारण शुक्लजी ने सामंती संस्कारों और सामंती साहित्यशास्त्र का बार-बार खंडन किया है। भावना और नैतिकता का गहरा संबंध है। मनुष्य के कर्मों के नियामक बुद्धि से ज्यादा उसके भाव, उसके संस्कार होते हैं। शुक्लजी ने सामंती और पूँजीवादी वर्गों की रुचि और नैतिकता का तीव्र खंडन किया है। 'गेरूआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका' पीटने वाले 'देश-हितैषिता का लम्बा चोगा पहने' देशोद्धार की पुकार करने वाले उन्हें धोखा नहीं दे सकते (श्रद्धा-भक्ति)। दूसरों की श्रद्धा के लिए ललकने वाले धूर्तों को उन्होंने कड़ी फटकार बतलाई है। इनके लिए ठगविद्या का ही दूसरा नाम है। दूसरों के कर्मों के लिए सच्ची सम्मान-भावना से उसका कोई संबंध नहीं है। शुक्लजी ऐसे ठगों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं : 'परश्रद्धाकर्षण की विद्या की भी आजकल खूब उन्नति हुई है। आश्चर्य नहीं कि इसके लिए कुछ दिनों में एक अलग विद्यालय खुले।' यह व्यापार-युग है। यहाँ हर चीज़ बिकती है, 'तब श्रद्धा ऐसे भाव क्यों न बिके?' पूँजीवादी वर्ग बिकाऊ माल के सहारे जीता है। यह उसका वर्गधर्म है, उसकी वर्ग-नैतिकता है। इसलिए वह श्रद्धा को भी बिकाऊ माल बना डालता है। और व्यापार-युग से पहले दान-दक्षिणा का युग था। पंडों और पुरोहितों के लिए श्रद्धा का अर्थ दक्षिणा हो गया। यजमान कहता है, 'इतनी ही श्रद्धा है' और पंडे कहते हैं, 'जितनी श्रद्धा हो, उतना दो।' 'यद्यपि इन पंडों और पुरोहितों के संबंध में सदा यह निश्चय नहीं रहता कि वे बड़े विद्वान्, बड़े धार्मिक या बड़े परोपकारी हैं।' (उप.) धर्म के नाम पर श्रद्धा का व्यापार यहाँ भी होता है।

लोक-दिखावे के लिए धनी व्यक्ति सदाचार का ढोंग रचते हैं, दूसरों पर दया का अभिनय करते हैं! लेकिन वे भूल जाते हैं कि 'मनोवेग-वर्जित सदाचार दंभ या झूठी कवायद है।' (करुणा)। इसी तरह निःसंकोच होकर अपने संकोची होने का दावा करने वालों को शुक्लजी ढोंगी कहते हैं। हमारे यहाँ के समाज में ऊँच-नीच का भेद रहा है। जो आदर और सम्मान के योग्य हैं, वे आदर पायें, लेकिन जनता को दबाकर जब आदर पाने का एक पेशा बन जाता है, तब उस समाज-व्यवस्था को जीर्ण-शीर्ण समझ लेना चाहिए। शुक्लजी कहते हैं : 'जिस जाति में इस छोटाई-बड़ाई का अभिमान जगह-जगह जमकर

हिंदी गद्य विवेचना

दृढ़ हो जाता है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और संघ-शक्ति का विकास बहुत कम अवसरों पर देखा जाता है।' (ईर्ष्या) ईर्ष्या का यह सामाजिक आधार हुआ। संघ-शक्ति का तभी विकास हो सकता है जब वर्गों के बीच की यह विषमता न रहे। लेकिन विषमता घटने के बदले और बढ़ती जाती है। उसका बढ़ना एक वस्तुगत क्रम है, वह कुछ लोगों की व्यक्तिगत इच्छा का परिणाम नहीं है। उसका निवारण वर्गहीन समाज के निर्माण से ही संभव है। शुक्लजी ने लिखा है : 'किसी अवध के ताल्लुकेदार के लिए बड़ाई का यह स्वाँग दिखाना आवश्यक नहीं है कि वह जब मन में आए तब कामदार टोपी सिर पर रख, हाथी पर चढ़ गरीबों को पिटवाता चले।' (ईर्ष्या) टोपी बदल गई है लेकिन गरीबों पर अत्याचार कायम हैं बल्कि राइफल और टियर गैस की मदद से और बढ़ गए हैं।

पूँजीवादी समाज में एक संस्कार खूब पनपता है। यह संस्कार 'खुद कमाओ और जियो, दूसरों को मरने दो' का है। पूँजीवादी नैतिकता का आधार वह स्वार्थ-वृत्ति है जिसे व्यक्ति की स्वाधीनता का नाम दिया जाता है। अंग्रेज़ी में इसे झूठे सिद्धांत का रूप दिया गया है - सर्वाइवल ऑफ दि फिटेस्ट। समाज में जो शक्तिशाली है, वह दूसरों को मारकर या मर जाने देकर खुद जिएगा। डार्विन ने विकासवाद के वैज्ञानिक सिद्धांत के साथ यह कल्पना भी जोड़ दी थी। इस कल्पना का आधार इंग्लैंड के पूँजीवादी समाज में स्वार्थ की होड़ थी। आजकल इस सिद्धांत का उपयोग पूँजीवादी लूट और युद्धों को जायज़ ठहराने के लिए किया जाता है। शुक्लजी ने इस धारणा को पास नहीं फटकने दिया। उनके लिए मनुष्यता का विकास परस्पर सहयोग के आधार पर होता है और होना चाहिए, न कि इस हिंसा के द्वारा। अपने 'श्रद्धा-भक्ति' वाले निबंध में शुक्लजी ने लिखा है : 'अपने कार्य-क्षेत्र के बाहर यदि वह अपने इन भावों का सामंजस्य ढूँढता है तो नहीं पाता है -- कहीं उसे जीवो जीवस्य जीवनं का सिद्धांत चलता दिखाई पड़ता है, कहीं लाठी और भैंस का। वह सोचता है कि इन बातों का अनुसरण मनुष्य-समाज में भी जान-बूझकर क्यों न किया जाए, यह नहीं सोचता कि मनुष्य जाति की स्थिति इन अवस्थाओं से बहुत आगे बढ़ी है और चेतना की श्रेणी में उसके आगे की ओर कोई भूमि उसे दिखाई नहीं पड़ रही है।' जीवो जीवस्य जीवनं - जंगल का नियम है। जिस समाज में यह नियम लागू हो, वह सभ्य समाज कहलाने का अधिकारी नहीं, वह मनुष्यता की स्थिति तक पहुँचा हुआ नहीं, उसकी चेतना अवरुद्ध और कुंठित हो गई है।

पच्छिम के कुछ मनोवैज्ञानिकों ने समाज-विशेष के वर्ग-संबंधों में पनपने वाली स्वार्थपरकता को शाश्वत नियम का रूप दिया। उनके लिए मनुष्य का कोई काम निःस्वार्थ होता ही नहीं, कोई देश और जनता के लिए हँसते-हँसते प्राण भी दे दे तो वे उसमें उनके अहंकार की तुष्टि या किसी दमित वासना की अभिव्यक्ति देख लेंगे और

निबंध-रचना, शैली और व्यक्तित्व

उसकी निःस्वार्थ सेवा से इन्कार करेंगे। ऐसे लोगों के लिए करुणा, सहानुभूति आदि का कोई अस्तित्व नहीं है। इन्हें लक्ष्य करके शुक्लजी ने लिखा है : 'समाजशास्त्र के पश्चिमी ग्रंथकार कहा करें कि समाज में एक-दूसरे की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है, यदि ध्यान से देखा जाए तो कर्मक्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी-न-किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी।' (करुणा)। शुक्लजी का मनोविज्ञान पच्छिमी मनोविज्ञान से किस तरह भिन्न है, उसकी यह मिसाल है।

शुक्लजी ने कई जगह अंग्रेज़ आलोचक आई.ए.रिचार्ड्स का नाम प्रशंसा के साथ लिया है। वह इसलिए कि रिचार्ड्स ने शुद्ध कलावाद का खंडन किया था, साहित्य को अनुभूति से अलग न किया था। पच्छिम के दूसरे पतनशील विचारकों के मुकाबले में उन्होंने उसकी प्रशंसा की थी। लेकिन रिचार्ड्स के मनोविज्ञान का आधार भी व्यक्तिवाद है। वह कविता का लक्ष्य मनुष्य के मनोविकारों में संतुलन मानता है। लेकिन कौन-सी प्रवृत्तियाँ अच्छी हैं और कौन-सी बुरी, इसकी छानबीन उसने नहीं की। रिचार्ड्स के विपरीत शुक्लजी के विवेचन की आधारशिला है लोकहित। कौन-सा भाव अच्छा है, कौन-सा बुरा, भिन्न-भिन्न वर्गों में एक ही भाव के कौन-कौन से रूप होते हैं (वास्तव में भाव-विशेष का नाम एक होता है, उसके तत्व अलग-अलग होते हैं), ये समस्याएँ शुक्लजी ने उठाई हैं, रिचार्ड्स ने नहीं। भाव अच्छा है या बुरा, इसकी कसौटी यह है : 'किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम से होता है।' (उत्साह)। रिचार्ड्स ने मानव-वृत्तियों के परिणाम का सवाल नहीं उठाया, इसीलिए उसने कलावाद का जो खंडन किया है, वह संगत नहीं है।

उत्साह क्या है? 'कर्ममात्र से संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनंद देखा जाता है', वही उत्साह है। कर्म के साथ फल की इच्छा भी होती है और यह इच्छा अनुचित नहीं है यदि फल का संबंध शुद्ध स्वार्थ न हो। देशरक्षा में भी साहस देखा जाता है, परपीड़न और डकैती में भी। दूसरी तरह का साहस पहले के सौंदर्य तक 'कभी नहीं पहुँच सकता'। (उत्साह)। परिणाम के अनुसार यह भाव का सौंदर्य-निरूपण हुआ।

श्रद्धा से क्या सिद्ध होता है? यही कि 'जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित होता है।' इस तरह लोकहित भावों का शुभ या अशुभ रूप परखने की कसौटी बनता है। इसी लोकहित के कारण श्रद्धालु की दृष्टि 'सामान्य की ओर होनी चाहिए, विशेष की ओर नहीं।' अंध श्रद्धा क्यों खराब है? इसलिए कि उससे समाज का अनिष्ट होता है। अंध श्रद्धा के ही कारण धर्म और देशहितैषिता के नाम पर लोग ठगे जाते हैं।

1हंदी गद्य विवेचना

क्रोध के त्याग का उपदेश बहुत से महात्माओं ने दिया है लेकिन समाज-रक्षा के लिए क्रोध आवश्यक हो, तो उसका पूर्ण त्याग हानिकर होगा। किसी स्त्री पर अत्याचार होते देखकर हम क्रोध करें तो 'उस समय का हमारा क्रोध कितना सुंदर और अक्रोध कितना गर्हित होगा!' इसी तरह करुणा की आवश्यकता 'जीवन-निर्वाह की सुगमता के लिए है। मनुष्य बनने के लिए शील और संकोच की ज़रूरत होती है। लेकिन लज्जा को स्त्रियों का भूषण कहकर पुरुषों ने उसे 'आनंद और विलास की एक सामग्री' बना डाला। लोभ का एक रूप प्रेम होता है जिसका उत्कृष्ट रूप देशप्रेम है। इसके विरुद्ध पैसे का लोभ है, जिससे लोभ का मतलब ही पैसे का लोभ हो गया है। घृणा और क्रोध का नज़दीकी संबंध है और जैसे जीवन में क्रोध आवश्यक है, वैसे ही घृणा भी। भय की स्थायी वृत्ति कायरता कहलाती है। असभ्य, पिछड़ी हुई और जंगली जातियों में भय की मात्रा ज्यादा होती है। जैसे-प्रकृति के बारे में मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसका भय कम होता जाता है। ईर्ष्या एक ऐसा भाव है जो समाज की कृत्रिमता से पैदा होता है और जिसे कोई प्रकट नहीं करना चाहता।

इस तरह शुक्लजी ने हर मनोविकार का सामाजिक आधार बतलाया है, उसका संबंध मनुष्य के व्यवहार से जोड़ा है, उसके सामाजिक परिणाम के हिसाब से उसे शुभ या अशुभ माना है। इससे सिद्ध हुआ कि शुक्लजी के मनोविज्ञान का एक ठोस सामाजिक आधार है।

जीवन में भावों की महत्वपूर्ण भूमिका है। 'समस्त मानव-जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं।' (भाव या मनोविकार)। भावों का संबंध मनुष्य के कर्मों से है। जैसे उसके भाव और संस्कार होते हैं, वैसे ही उसके कर्म होते हैं। 'मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है।' (करुणा)। इसलिए भावों की छानबीन का काम सामाजिक महत्व का है। कविता मनुष्य के भावों को प्रतिबिंबित करती है, इसलिए उसे भी मानव-जीवन की प्रवर्तक मानना होगा, उसे भी मनुष्य की सजीवता का कारण मानना होगा। योग वाला चित्तवृत्ति का निरोध काव्य का मार्ग नहीं है। साहित्य में मनोविकार प्रकट ही नहीं किए जाते, उनका परिष्कार भी किया जाता है। यह साहित्य की सामाजिक उपयोगिता है। मनोविकारों का दमन करने वालों को लक्ष्य करके शुक्लजी कहते हैं : 'नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त संबंध-निर्वाह पर जोर देते हैं।' (करुणा)। कवि तीन काम करता है -- मनोवेगों को तीव्र करता है, उन्हें परिमार्जित करता है और संसार के साथ उनके उपयुक्त संबंध-निर्वाह पर जोर देता है। शुक्लजी का यह सिद्धांत अरस्तू के कैथार्सिस या भाव-परिष्कार के सूत्र से ज्यादा भरा-

निबंध-रचना, शैली और व्यक्तित्व

पूरा है। संस्कृति का आधार मानव-संबंध है, उसका प्रभाव मानव-संबंधों पर पड़ता है, संस्कृति अपने उस आधार को दृढ़ या निर्बल करती है। यह बात साहित्य के लिए भी नहीं कही जा सकती। साहित्य केवल भाव-परिष्कार ही नहीं करता, वह किन्हीं मानव-संबंधों को दृढ़ या कमज़ोर भी करता है। इस तरह किसी समाज-व्यवस्था को कायम रखने या उसे निर्मूल करने में साहित्य का बहुत बड़ा हाथ होता है। इसी कारण साहित्यकार किन्हीं मानव-संबंधों या किसी समाज-व्यवस्था की रक्षा या विनाश के प्रति तटस्थ नहीं रह सकता, चाहे तो भी उसके लिए यह संभव नहीं है।

साहित्य की अनुभूति भावों की अनुभूति है। भावों की अनुभूति वास्तविक जीवन में, मनुष्य के व्यवहार-जगत् में होती है। इसलिए साहित्य की अनुभूति वास्तविक जगत् की अनुभूति से निराली नहीं है। जिन बातों से संसार में दुख मिलता है, उनसे साहित्य में भी मिलता है। ट्रेजेडी पर आँसू बहाने में शुद्ध आनंद का अनुभव होता है, शुक्लजी यह नहीं मानते। वह पहले आलोचक हैं जिन्होंने पूर्व और पश्चिम के विचारकों से इस बारे में मतभेद प्रकट किया है।

भावों की अनुभूति का नाम ही रस है। शुक्लजी ने एक ओर क्रोचे का खण्डन किया है जो काव्य (या कला) को शुद्ध अभिव्यंजना मानता है लेकिन कहीं-कहीं दबी ज़बान से भावानुभूति स्वीकार भी कर गया है, दूसरी ओर उन्होंने उन भारतीय विचारकों को भी फटकारा है जो हृदय की अनुभूति की बातें तो करते हैं लेकिन रस शब्द से परहेज़ करते हैं। उन्होंने ऐसे लोगों को याद दिलाया है कि हृदय की अनुभूति रस से अलग कोई अनूठी चीज़ नहीं है।

साहित्य के व्यापक प्रभाव का कारण भावना की लोक-सामान्य भूमि है। रस-दशा लोक-हृदय में लीन होने की दशा का ही नाम है। इसलिए साहित्य का भाव-जगत् जनसाधारण का भाव-जगत् होना चाहिए, मुट्ठी-भर लोगों का कृत्रिम भाव-जगत् नहीं। साहित्य राज-दरबारों, पंडों-पुरोहितों और देशभक्ति का सौदा करने वालों का गुलाम बन जाए, उन्हीं की भावनाएँ व्यक्त करने लगे तो वह अपनी व्यापकता खो देगा। साहित्य में आत्माभिव्यक्ति वहीं तक मान्य है जहाँ तक वह लोक-जीवन की भी अभिव्यक्ति है। इससे आगे व्यक्ति-वैचित्र्यवाद आ जाता है जिसकी जगह किसी अजायबघर में है, साहित्य में नहीं। पच्छिम से व्यक्तिवाद के मुकाबले में शुक्लजी ने भारत का साधारणीकरण का सिद्धांत रखा है। उन्होंने इसकी नई व्याख्या की है। 'यह सिद्धांत यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके।' (साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद)। काव्य में भाव-व्यंजना किसी विशेष आलंबन के सहारे ही होती है लेकिन यह विशेष सामान्य का विरोधी नहीं होता। कवि-कौशल विशेष और सामान्य की

हिंदी गद्य विवेचना

एकता स्थापित करके उनका विरोध मिटा देता है। 'भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से सामान्य के उद्घाटन की ओर बराबर रही है।' (उप.)

साहित्य का भाव-व्यापार बौद्धिक क्रिया का विरोधी नहीं है, न वह उससे स्वतंत्रत या तटस्थ है। शुक्लजी ने अबुद्धिवाद का बार-बार खंडन किया है, उन लोगों पर फब्तियाँ कसी हैं जो बुद्धि के विकास को काव्य के ह्रास का कारण मानते हैं। उन्होंने दिखलाया है कि मनुष्य के भावों का परिष्कार और संचार वर्तमान सभ्यता और मनुष्य के बनावटी सामाजिक जीवन से रुक सकता है, बुद्धि के प्रसार से नहीं। बुद्धि को कोसना वर्तमान सभ्यता (अर्थात् पूँजीवादी सभ्यता) और सामाजिक जीवन के बनावटीपन पर पर्दा डालता है। इन्दौर वाले भाषण में शुक्लजी ने बुद्धि और हृदय, बौद्धिक ज्ञान और भावना का संबंध बहुत अच्छी तरह बतला दिया है। बुद्धि और हृदय एक-दूसरे के विरोधी न हों, 'दोनों एक-दूसरे के सहयोगी के रूप में काम करें।' यह सहयोग किस तरह कायम होता है? बुद्धि अपने 'विशेष मनन और चिंतन द्वारा' जिन तथ्यों का निरूपण करती है, कवि उन्हीं को 'गोचर और मार्मिक रूप में' सामने रखता है। भावना का आधार अज्ञान नहीं, ज्ञान ही है। ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। 'ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।' काव्य को अबौद्धिक क्रिया मानने वालों को शुक्लजी का यह अकाट्य उत्तर है। ज्ञान और भावना का यह संबंध उसी सूत्र को लेकर चला है जिसके अनुसार 'हृदय सिंधु मति सीप समाना' है और 'बरबारि बिचारू' के बरसने पर 'कवित मुक्त मनि चारू' उत्पन्न होते हैं। साहित्य विचार शून्य, विचारों से तटस्थ, ज्ञान के प्रति उदासीन क्रिया नहीं है। श्रेष्ठ साहित्य सदा ज्ञान-प्रसार के भीतर भाव-प्रसार के मार्ग पर चलता है।

साहित्य के भाव-जगत् के एक छोर पर विचार और बौद्धिक चिंतन हैं तो दूसरे छोर पर इन्द्रियबोध और मूर्तिमत्ता है। साहित्य और शिल्प, स्थापत्य आदि की सामान्य भूमि यह गोचरता है। शुक्लजी ने कई जगह साहित्य को कला की संज्ञा न देने पर ज़ोर दिया है। ऐसा उन्होंने उसे शुद्ध कलावाद से बचाने के लिए किया है। लेकिन शिल्प आदि कलाओं की सामान्य भूमि यह गोचरता है, गोचरता के आधार पर उनका सौंदर्य है, सौंदर्य के साथ मनुष्य की वासना का संस्कार और आनंद है। इस कारण साहित्य को ललित कलाओं से एकदम अलग नहीं किया जा सकता, न साहित्य-मीमांसा से सुंदर शब्द खारिज किया जा सकता है।

ऊपर हमने देखा है कि बुद्धि अपने चिंतन और मनन द्वारा जिन तथ्यों का निरूपण करती है, कल्पना उन्हीं को 'गोचर और मार्मिक रूप में' सामने रखती है। जहाँ गोचर रूप होगा, वहाँ यह भी देखा जाएगा कि यह रूप किस तरह सँवारा गया है, उसका आकार-प्रकार, रंग आदि हमारे सौंदर्य-बोध के अनुकूल है या नहीं। पच्छिम के कुछ विचारकों ने साहित्य को गोचरता तक, इन्द्रियबोध और रूपरंग की सुंदरता तक सीमित कर दिया है।

निबंध-रचना, शैली और व्यक्तित्व

इसी कारण शुक्लजी काव्यशास्त्र के बदले सौंदर्यशास्त्र का प्रयोग गलत मानते हैं। उनका यह विरोध सही है। सौंदर्य से इन्द्रियबोध का ही सौंदर्य लेना गलत है। सौंदर्य का अर्थ केवल इन्द्रियबोध वाला सौंदर्य नहीं है। 'कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप के सौंदर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौंदर्य के भी अत्यंत मार्मिक दृश्य सामने रखती है।' (कविता क्या है)

साहित्य या कला की गोचरता का सिद्धांत शुक्लजी के ज्ञान-शास्त्र का ही परिणाम है। ज्ञान न तो आत्मा का प्रकाश है, न इलहाम होने से प्रकट हुआ है, न वह मनुष्य की सहज भावना (Intuition) का फल है। इस तरह के ज्ञान-शास्त्रों का विरोध करने के बाद शुक्लजी ने अपना वैज्ञानिक सिद्धांत रखा है। वह सिद्धांत यह है कि मनुष्य के बौद्धिक चिंतन का विकास इन्द्रियज ज्ञान के आधार पर ही हुआ है, 'आरंभ में मनुष्य-जाति की चेतन-सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गई है त्यों-त्यों मनुष्य की ज्ञान-सत्ता बुद्धि-व्यवसायात्मक होती गई है।' (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। ज्ञान की पहली सीढ़ी इन्द्रियबोध है। साहित्य इस सीढ़ी को पूरी तरह कभी नहीं छोड़ता। वैज्ञानिक चिंतन जहाँ बुद्धि-व्यवसायात्मक है, वहाँ साहित्य इन्द्रियबोध का सहारा लिए रहता है। उसके कलात्मक सौंदर्य का यह भी एक आधार होता है।

अपने इतिहास में शुक्लजी ने लिखा है : 'प्रत्येक भाव का प्रथम अवयव विषयबोध ही होता है।' भाव के साथ प्रथम अवयव के रूप में विषयबोध मौजूद हो तो भाव-जगत् विषयबोध से अलग नहीं हो सकता। साहित्य की अनुभूति शुद्ध भावानुभूति नहीं हो सकती, उसके साथ इन्द्रियबोध भी जुड़ा रहेगा। विचार से भाव ज्यादा व्यापक होता है, भाव से इन्द्रियबोध। इस गोचर आधार के कारण साहित्य विज्ञान की अपेक्षा ज्यादा व्यापक और प्रभावशाली होता है। काव्य की विशेषता भावों को मूर्त रूप देने में है। 'जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा।' (कविता क्या है)

कल्पना का आधार इन्द्रियबोध ही है। शुद्ध कल्पना नाम की कोई चीज़ नहीं है। पश्चिम के जिन विचारकों ने कल्पना का स्वतंत्र अस्तित्व माना है, उसकी निराली सृष्टि की चर्चा की है, शुक्लजी ने उनका खंडन किया है। उनका प्रत्यक्ष विरोध क्रोचे जैसे भाववादियों से है, अप्रत्यक्ष विरोध कोलरिज जैसे भाववादियों से भी है जिन्होंने कल्पना को शाश्वत और निरपेक्ष चेतना का पर्याय मान लिया था और मनुष्य की व्यावहारिक कल्पना को उसी परम चेतना का अंश मान लिया था। योरप की कल्पनावादी साहित्य-मीमांसा के विपरीत शुक्लजी का मत यह है : 'जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे, उसे उस भाव का आलम्बन कहना चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्य आरंभ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं।

हिंदी गद्य विवेचना

फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है।'
(कविता क्या है)

शुक्लजी के ज्ञान-शास्त्र में मनुष्य का मन बाह्य जगत् का ही प्रतिबिंब है। वह रूप-गतिहीन नहीं है, रूपगति का ही संघात है। मानसिक प्रक्रिया की यह वस्तुवादी व्याख्या है। 'जिस प्रकार यह जगत् रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है।' (कविता क्या है)। मन स्वयं रूपमय है, इसलिए ज्ञान भी रूपातीत नहीं होता। 'हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है' (उप.)। जो चिंतन और विचार अरूप लगते हैं, उनका आधार भी रूपमय जीवन ही है। मनुष्य अपनी सुविधा के लिए संकेतों से काम लेता है लेकिन हर संकेत इस रूपमय जगत् या उसके मानसिक प्रतिबिंब की ओर ही होता है। 'भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे।' (उप.)। साहित्य की मूर्तिमत्ता का यह दार्शनिक आधार है।

इस ठोस दार्शनिक आधार पर ही शुक्लजी ने साहित्य में रूपविधान की चर्चा की है। कल्पना क्या है? 'मानसिक रूपविधान का नाम ही सम्भावना या कल्पना है।' (रसात्मक बोध के विविध रूप)। ऐडीसन के कल्पना-संबंधी विवेचन के साथ चलते हुए शुक्लजी दो तरह का रूप-विधान बतलाते हैं - एक तो 'प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्यों-का-त्यों प्रतिबिंब होता है', दूसरा इनके 'आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु-व्यापार-विधान' होता है। पहला रूप-विधान स्मृति है, दूसरा कल्पना। ऐडीसन ने स्मृति को भी कल्पना का नाम दिया है। शुक्लजी ने वह स्थापना अमान्य ठहरा दी है। इसके सिवा 'प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है', यह स्थापना ऐडीसन के चिंतन से बहुत दूर है। अनुभूति का अर्थ शुक्लजी के लिए 'चाक्षुष ज्ञान' के अलावा शब्द, गंध, रस और स्पर्श भी है। इस तरह रूप-विधान का अर्थ इन्द्रियबोध का ही विधान समझना चाहिए।

रूप-विधान में चाक्षुष ज्ञान मुख्य है। इसीलिए शास्त्र-चर्चा की विशेषता अर्थ-ग्रहण है तो साहित्य की विशेषता बिम्बग्रहण। (कविता क्या है)। साहित्य से प्रभावित होने की शक्ति उनमें होती है जिनमें मूर्तिविधान की क्षमता होती है। जो लोग साहित्य से प्रभावित नहीं होते, उसका एक कारण यह है कि 'उनके अंतःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्तिविधान नहीं होता जो भावों को परिचालित करता है।' (उप.)। कल्पना की आवश्यकता न केवल साहित्यकार के लिए है, वरन् उसके पाठक के लिए भी वह जरूरी है।

निबंध-रचना, शैली और व्यक्तित्व

बौद्धिक चिंतन, इन्द्रियबोध और भावना का समन्वय साहित्य की विशेषता है। इस विशेषता के मौलिक व्याख्याकार आचार्य शुक्ल हैं। यह व्याख्या पूर्व और पश्चिम दोनों के काव्यशास्त्र से ज्यादा संगत और वैज्ञानिक है। यह हिंदी का अपना साहित्यशास्त्र है।

इस शास्त्र के आधार पर उन्होंने क्रोचे आदि पश्चिम के विचारकों का खंडन किया है। जो लोग हिंदी के साहित्यशास्त्र को अंग्रेज़ी किताबों की नकल समझते हैं, वे हिंदी-अंग्रेज़ी दोनों ही के साहित्यशास्त्र का अपना अज्ञान प्रकट करते हैं। पश्चिमी साहित्यशास्त्र के बारे में शुक्लजी का कहना है : 'सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है, योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुंदर वस्तु से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं।' (कविता क्या है)। यह सब पढ़कर भी कोई कहे कि हिंदी का काव्यशास्त्र अंग्रेज़ी की नकल है तो उससे पूछना चाहिए कि दिमाग में अकल भी है या उसकी नकल ही रह गई है।

शुक्लजी अंग्रेज़ी आलोचकों में जिसके सबसे ज्यादा निकट है, वह ऐडीसन हैं। लॉक के वस्तुवाद से प्रभावित होकर ऐडीसन ने कल्पना का सिद्धांत निकाला था और काव्य की विशेषता उसका रूप-विधान बतलाया था। तब से योरप की समीक्षा में मूर्तिमत्ता का खूब जोर रहा है। लेकिन हर तरह की कल्पना, हर तरह का रूप-विधान तो कलात्मक नहीं होता। किस तरह की कल्पना काव्य के लिए आवश्यक है, इसका जवाब ऐडीसन के यहाँ नहीं है। कारण यह है कि उसके पास रस-सिद्धांत नहीं था। कल्पना और रूप-विधान को काव्य-सौंदर्य का मूल आधार मानकर इस प्रश्न का उत्तर दिया ही नहीं जा सकता। इसका उत्तर तभी संभव है जब कल्पना का संबंध भावानुभूति से जोड़ा जाए। शुक्लजी ने यह संबंध जोड़ा है। उन्होंने रूप-विधान और भावानुभूति का संबंध इस तरह जोड़ा है : 'काव्यविधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन और संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्तरूप अंग - भाव प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी।' (काव्य में अभिव्यंजनावाद)

क्रोचे के सौंदर्यशास्त्र का खंडन करते हुए शुक्लजी ने योरप के आत्मवाद (या आइडियलिज़्म) का भी खंडन किया है। क्रोचे की विचारधारा बाह्य जगत् की वास्तविकता को अस्वीकार करती है। इसके बदले अपने उलझे तर्कजाल से वह बर्कले के दर्शन या मध्यकालीन अंधविश्वासों की ही प्रतिष्ठा कर सकता है। शुक्लजी ने उसके प्रतिक्रियावाद की जड़ पर भी आघात किया है। क्रोचे की मूल स्थापना क्या है? 'उसने कला की अभिव्यंजना के इस व्यवसाय को बाह्य प्रकृति और अंतःप्रकृति दोनों से परे जो आत्मा है,

हिंदी गद्य विवेचना

उसकी अपनी निज की क्रिया कहा है -- इस जगत् और जीवन से स्वतंत्र।' यह बात किसी-न-किसी रूप में भारत के अध्यात्मवादी भी दोहराते हैं, इसमें संदेह नहीं। शुक्लजी ने इसी का खंडन किया है। क्रोचे जिसे आत्मा के कारखाने से निकला हुआ माल समझता है, उसे वह इस व्यवहार जगत् का ही प्रतिबिंब साबित करते हैं। स्वयं शुक्लजी भी जहाँ अपवाद रूप से आत्मवादी विचारधारा की ओर झुक जाते हैं, वहाँ क्रोचे की उपर्युक्त धारणा से मिलती-जुलती बात ही कहते हैं। जैसे यह उक्ति : 'परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनको धारण करने वाला मनुष्य का छोटा-सा अंतःकरण नहीं, विश्वात्मा है।' (करुणा)। मानव मात्र के हृदय को विश्वात्मा कहा जाए तो बात दूसरी है लेकिन शुक्लजी का वह अर्थ नहीं है। उन्होंने अन्यत्र भी लिखा है कि काव्य का लक्ष्य यह है कि 'मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे।' (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। लेकिन मनुष्य की अनुभूति विकासमान है। इन्द्रियज्ञान से मनुष्य बुद्धि-व्यवसायी ज्ञान की ओर बढ़ता आया है, पूर्वजों के संस्कारों में नए संस्कार जोड़ता आया है, यह शुक्लजी सिद्ध कर चुके हैं। इसलिए देशकालबद्ध मानव से परे कोई त्रिकालवर्तिनी अनुभूति नहीं है।

इस तरह की उक्तियाँ अपवाद हैं। शुक्लजी जब हृदय की मुक्त दशा की बात करते हैं तब उसकी व्याख्या करके स्पष्ट कर देते हैं कि उनका आशय लोक-हृदय में लीन होने की दशा से है।

शुक्लजी की आलोचना बड़ी गंभीर है, यह बात अक्सर दोहराई जाती है। इस प्रशंसा में अज्ञान भी छिपा रहता है। बात समझने में बुद्धि पर ज्यादा जोर पड़े तो उसे गंभीर कहने से जल्दी पीछा छूट जाता है। दूसरी तरह का अज्ञान शुक्लजी को देखकर मुँह मटकाने से प्रकट होता है। ब्राह्मणवादी हैं, एकांगी समाजशास्त्री हैं, आउट आफ डेट हैं, कुछ अंग्रेज़ी चीज़ों का अनुवाद किया है, मध्य-वर्ग के संस्कारों से पीड़ित हैं, आदि बातें इसी तरह का अज्ञान प्रकट करती हैं।

शुक्लजी की आलोचना गंभीर है, इसलिए कि उसका आधार वस्तुवादी दृष्टिकोण है। वह संसार के उन इने-गिने आलोचकों में हैं जिन्होंने मुक्त कण्ठ से इस भौतिक जगत् को सत्य स्वीकार किया है। शुक्लजी ने लिखा है : 'संसार का अर्थ आजकल योरप और अमेरिका लिया जाता है।' जब संसार में भारत की भी गिनती होने लगेगी, यानी कुछ बुद्धिजीवियों का दिमाग पश्चिम की गुलामी से मुक्त होगा, वहाँ की प्रगतिशील विचारधारा पहचान कर उससे शुक्लजी की तुलना करेगा, तब वह उनका महत्व पहचानेगा, उससे पहले नहीं।

निबंध-रचना, शैली और व्यक्तित्व

शुक्लजी की गंभीरता का दूसरा कारण उनकी तर्क और चिंतन पद्धति है। इस पद्धति को हम द्वंद्व नाम दें तो अनुचित न होगा। विरोधी लगने वाली वस्तुओं का सामंजस्य पहचानना, उन्हें गतिशील और विकासमान देखना, संसार के विभिन्न भौतिक और मानसिक व्यापारों का परस्पर संबंध स्थापित करके उनका अध्ययन करना इस पद्धति की विशेषताएँ हैं। भारतीय दार्शनिकों और तार्किकों की लंबी परंपरा में भी शुक्लजी अपनी इस चिंतन-पद्धति के कारण एक श्रेष्ठ विचारक ठहरते हैं।

विरोधी तत्वों की एकता देखने के कारण शुक्लजी ही लिख सकते थे : 'यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी हमारे काम का है।' (श्रद्धा-भक्ति)। कारण यह है कि एक में प्रवृत्ति का क्रम है तो दूसरे में निवृत्ति का। साहित्य के लिए दोनों का संयोग आवश्यक है। 'जीवन में इस निवृत्ति और प्रवृत्ति का प्रभाव साथ-साथ चलता है।' (उप.)। इस पद्धति से उन्होंने निर्माण के साथ ध्वंस को भी आवश्यक बतलाया है, माधुर्य के साथ भीषणता में भी सौंदर्य देखा है। इसी पद्धति से रूपविधान और भाव का संबंध, इन्द्रियबोध और विचार का संबंध, साहित्य में सामान्य और विशेष का संबंध समझ में आता है। इसी तरह साहित्य में विभिन्न अर्थों का समन्वय होता है। अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन-विज्ञान है, आप्तोलब्ध का इतिहास और कल्पित अर्थ का काव्य है। 'पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं।' (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। इसी तरह काव्य में विभाव प्रधान वस्तु है; उसी से भाव-व्यंजना होती है। 'भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति नहीं हो सकती।' (साधारणीकरण और ध्यक्ति-वैचित्र्यवाद)। काव्य में साधारण और असाधारण का संबंध इसी पद्धति से समझा जा सकता है। 'साधारण के बीच में ही असाधारण की प्रकृति अभिव्यक्त हो सकती है।' (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। इस तरह के वाक्य अचानक पाठक को चमत्कृत कर देते हैं। उनमें जीवन और साहित्य के सत्य की झलक रहती है, यही उनके अनूठेपन का कारण है।

शुक्लजी ने न तो ऑस्कर वाइल्ड जैसे कुछ लेखकों की तरह आलंकारिक शैली मात्र के विरोधाभास खड़े किए हैं, न उन्होंने कुछ भारतीय समन्वयवादियों की तरह वास्तविक विरोध पर पर्दा डालकर नकली एकता कायम कर दी है। वह विरोधी लगने वाले तत्वों की जो एकता दिखलाते हैं, वह वास्तविक होती है, उसका आधार मनुष्य का व्यवहार-जगत् होता है, कल्पना नहीं।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है : 'संसार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है।' इसकी बहुत अच्छी मिसाल वह विवेचन है जहाँ शुक्लजी ने विदेश के सामाजिक आंदोलनों से भारत का संबंध जोड़ा है। इस पद्धति के कारण वह क्रोचे आदि

हिंदी गद्य विवेचना

विचारकों और अंग्रेज़ी के इलियट आदि कवियों के हानिकर प्रभाव से हिंदी लेखकों और पाठकों को सावधान कर सके।

वह वस्तुओं और विचारों को गतिशील और विकासमान किस तरह देखते हैं, इसकी मिसाल मनुष्य की देव-संबंधी धारणा, उसकी भावना और चिंतन के विकास तथा संस्कारों के अर्जन का विवेचन है। उन्होंने अनेक रसवादियों या कल्पनावादियों की तरह मनुष्य के भाव-जगत् को अपरिवर्तनशील नहीं माना। इसीलिए विकासक्रम में कौन-से तत्त्व पतनशील हैं, कौन-से प्रगतिशील, इसका भेद वह दिखा सके। उन्होंने संस्कृत, फारसी, हिंदी, उर्दू के दरबारी साहित्य का लगातार और डटकर विरोध किया। उन्होंने हिंदी साहित्य में संस्कृत साहित्य के पतनशील रुझान छोड़ने को कहा, उसके प्रगतिशील रुझान अपनाने की सलाह दी। उन्होंने लिखा है : 'हिंदी की कविता का उत्थान उस समय हुआ जब संस्कृत-काव्य लक्ष्यच्युत हो चुका था।' (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। यहाँ एक ओर तो उन्होंने संस्कृत साहित्य से हिंदी साहित्य का संबंध देखा है। द्वंद्व पद्धति की यह एक विशेषता है। साथ ही उन्होंने संस्कृत साहित्य को गतिशील देखा है, उसके पतनशील रूप से सावधान किया है। द्वंद्व-पद्धति की यह दूसरी विशेषता हुई।

शुक्लजी की गंभीरता का तीसरा कारण उनका सामाजिक दृष्टिकोण है। वह हिंदी के मानववादी, सामंत-विरोधी और देशभक्त लेखक हैं। उन्हें जन-साधारण से प्रेम है। इसलिए वह साधारण में ही असाधारण की स्थिति देख सकते हैं। उन्हें अपने देश की संस्कृति से प्रेम है, इसलिए वह पश्चिम के घटिया सिद्धांतों की नकल बर्दाश्त नहीं कर सकते। इस दिशा में कहीं-कहीं उनका विवेचन गलत हो गया है, कहीं-कहीं तुलसी को महान् सिद्ध करने की धुन में वह साहित्य का संबंध धर्म से जोड़ने लग गए हैं, लेकिन यह उनकी मूल विचारधारा नहीं है। सच्चे हिंदूवादी और इस्लामवादी की पहचान यह है कि वह साम्राज्यवाद और सामंतवाद का समर्थक होता है। शुक्लजी साम्राज्यवाद और सामंतवाद के निर्मम आलोचक हैं। उन्होंने पैसे पर टिके हुए मानव-संबंधों की, पूँजीवादी सभ्यता की कड़ी आलोचना की है, योरप के उपनिवेशवादियों का सच्चा रूप प्रकट किया है, कविता को उद्दीपन का व्यापार बनाने वालों और धार्मिक पाखण्ड से जनता को ठगने वालों की तीखी नुक्ताचीनी की है। शुक्लजी का काव्यशास्त्र जैसे दार्शनिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण है, वैसे ही उनका साहित्यालोचन सामाजिक क्षेत्र में है।

मनुष्य उनके लिए देशबद्ध प्राणी है। जिसके हृदय में देश-प्रेम नहीं, उसका मानवतावाद झूठा है। काव्य में प्रकृति-चित्रण की माँग करते हुए न तो उन्होंने प्रकृति को आध्यात्मिक सत्य का संदेशवाहक बनाया है, न उसकी रूपपूजा को महत्वपूर्ण माना है। प्रकृति-चित्रण की आवश्यकता उससे मनुष्य के साहचर्य से पैदा होती है। और मनुष्य का सबसे ज्यादा संबंध उसके अपने देश से होता है। 'इसी देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देशभक्ति

निबंध-रचना, शैली और व्यक्तित्व

या देशप्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता, वह देशप्रेम का दावा नहीं कर सकता।' (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। शुक्लजी नहीं चाहते कि जैसे 'एक अमेरिकन फारस वालों को उनके देश का सारा हिसाब-किताब समझाकर चला गया', वैसे ही भारत के लोग भी अमेरिकनों से देशप्रेम करना सीखें और 'विलायती बोली में 'अर्थशास्त्र' की दुहाई' दिया करें। शुक्लजी की देशभक्ति तमाम हिंदी पाठकों और साहित्यकारों को अपनी स्वाधीनता की रक्षा करना सिखलाती है। इस स्वाधीनता को आज खास खतरा उन्हीं से है, जो फारस वालों को देश का हिसाब-किताब समझाकर चले नहीं आए, वरन् वहाँ युद्ध का अड्डा बना रहे हैं।

दृढ़ता, आत्मविश्वास और निर्भीकता शुक्लजी के विशेष गुण हैं। लाख विरोधी प्रचार हो, वह अपने सिद्धांतों पर अडिग रहे। रहस्यवाद की भारत-व्यापी धूम होने पर उन्होंने उसका विरोध करना नहीं छोड़ा। भारतीय अध्यात्मवाद की विश्व में डुग्गी पिटने पर भी उन्होंने वास्तविक जगत् का सूत्र नहीं छोड़ा, इस जगत् के चित्रण को भारतीय साहित्य की मूल विशेषता बतलाया और अध्यात्म शब्द को साहित्य के मैदान से बाहर निकाल देने को कहा। अंग्रेजी और संस्कृत की धाक की परवाह न करके उन्होंने इन भाषाओं के साहित्य में जो कमजोरियाँ दिखीं उनका भी खुलकर विवेचन किया। इन सब कामों के लिए उन्हें बल मिलता था हिंदी जनता से, हिंदी के तरुण विद्यार्थियों से, उच्च वर्गों की अवज्ञा और अपमान से, बाल्मीकि, भवभूति और तुलसी की परम्परा से, संसार की बढ़ती हुई स्वाधीनता-प्रेमी मानवता से और अपने विशाल हृदय से।

शुक्लजी सहृदय आलोचक हैं। तर्कशास्त्री से अधिक वह भावुक साहित्य-प्रेमी हैं। उनकी तर्क-योजना में चूक हो सकती है, सहृदयता में नहीं। उनमें भारतेंदु-युग की जिन्दादिली है, उस युग के लेखकों जैसा व्यंग्य-विनोद है। व्यंग्य हमेशा विनोद के लिए नहीं होता। कहीं-कहीं उनका व्यंग्य क्रोधाग्नि में तपे हुए तीर की तरह होता है। लोभियों के लिए वे कहते हैं, 'न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया।' ऐसा तीखा व्यंग्य या तो प्रेमचंद में मिलता है या निराला में। ऐसे तीर वे जब-तब ही निकालते हैं। उनका विनोद साधारणतः मनोरंजन और उल्लास के लिए होता है। 'एक सभा के सहायक मंत्री हैं जो कार्य-विवरण पढ़ने में संकोच करते हैं। सारांश यह है कि एक बेवकूफी करने में लोग संकोच नहीं करते, और सब बातों में करते हैं।' (लज्जा और ग्लानि)। केशव, मिश्रबंधु आदि उनके व्यंग्य-विनोद का लक्ष्य किस तरह बने हैं, यह हम पहले देख चुके हैं।

शुक्लजी की शैली वैज्ञानिक विवेचन की शैली है। उसमें कलात्मक सौंदर्य पैदा करने की कोशिश नहीं की गई। फिर भी यह शैली एक-सी नहीं है। करुणा, क्रोध आदि निबंधों में

हिंदी गद्य विवेचना

शैली का आनंद कम है; सूक्ष्म तर्क-योजना में रस लेने वाले ही इन्हें पढ़कर प्रसन्न हो सकते हैं। जहाँ-तहाँ आवेशपूर्ण वाक्य या आलंकारिक शैली आ गई है, वह मरुभूमि में जलाशय की तरह। लेकिन 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' आदि निबंध खूब प्रवाहपूर्ण हैं। इनमें एक सरस वक्ता की आवेशपूर्ण शैली का आनंद मिलता है। शुक्लजी की आलोचना जब लड़ाकू रूप धारण करती है, तब उनकी शैली बहुत ही स्वाभाविक और मनोरंजक होती है।

शुक्लजी की एक बहुत बड़ी विशेषता अत्यंत सारगर्भित वाक्य रचने की क्षमता है। इस तरह के वाक्य अनायास उनके साधारण वाक्य-प्रवाह में आकर अपनी असाधारणता से पाठक को आकर्षित कर लेते हैं। इन वाक्यों में जीवन के अनुभवों और सुदीर्घ चिंतन का फल संचित होता है। 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।', 'जिन्हें यह कहने में संकोच नहीं कि हम बड़े संकोची हैं, उनमें संकोच कहाँ?', 'जो किसी के लिए नहीं जीते, उनका जीना-न-जीना बराबर है।', 'राम का नाता सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नहीं।' इस तरह के सैकड़ों वाक्य उनकी रचनाओं में बिखरे हुए हैं।

जहाँ-तहाँ वह भारतेंदु-युग के लेखकों के रंग में शब्द-चमत्कार दिखाते हुए विनोद करते हैं। 'लोभ और प्रीति' के सिलसिले में 'सबकी टकटकी टके की ओर लग गई'; 'लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गये।' या क्रोध की चर्चा में, 'धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलने वाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा।'

शुक्लजी ने तत्सम शब्दों का प्रयोग काफी किया है लेकिन इधर के आलोचकों से कम। तद्भव रूपों का भी प्रयोग वह धड़ल्ले से करते हैं। जैसे इतिहास में : 'वज्रयानी सिद्धों का लीला-क्षेत्र भारत का पूरबी भाग था। गोरख ने अपने पन्थ का प्रचार देश के पच्छिम भागों में' किया। पूरब-पच्छिम जैसे रूप उनके यहाँ खूब हैं। उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने काफी और बिना झिझक के किया है। इतिहास में देव-बिहारी वाले विवाद का नतीजा बतलाते हुए लिखा है कि बहुत से लोग 'इस तुलनात्मक समालोचना के मैदान में उतरने का शौक जाहिर करने लगे।' अंग्रेजी पढ़े-लिखों की हिंदी में 'जो दोष रहते थे, वे उनकी खातिर से दरगुजर कर दिए जाते थे।' बदरीनारायण चौधरी ने अपने दो नाटक 'हाथ आजमाने के लिए लिखे थे।' किशोरीलाल गोस्वामी के लिए 'खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया।' इस तरह के और बहुत से वाक्य उद्धृत किए जा सकते हैं। उर्दू शब्दों के प्रयोग का तो कहना ही क्या। 'अलबत' उनका वैसे ही प्रिय शब्द है जैसे 'नाना'!

किसी लेखक का कृतित्व ही उसका सच्चा व्यक्तित्व है। शुक्लजी के कृतित्व का अब तक जो विवेचन हुआ है, उसी को उनके मेधावी व्यक्तित्व का विवेचन समझना चाहिए।

इसके सिवा कुछ उनकी व्यक्तिगत बातें हैं जिनसे पाठकों को दिलचस्पी हो सकती है। उनके इतिहास में जहाँ-तहाँ दो-चार बातें इस तरह की मिलती हैं। शुक्लजी भारतेंदु-युग के अनेक लेखकों से अच्छी तरह परिचित थे। बालकृष्ण भट्ट से उन्होंने अनेक बार सुना था, 'न जाने कैसे लोग बड़े-बड़े लेख लिख डालते हैं।' एक बार वह शुक्लजी के घर आए थे और इनके भाई की आँख आई देखकर बोले थे, 'भैया! यह आँख बड़ी बला है; इसका आना-जाना, उठना-बैठना सब बुरा है।' बदरीनारायण चौधरी शुक्लजी पर विशेष कृपा रखते थे। कांग्रेस में दो दल होने पर उन्होंने शुक्लजी से एक नोट लिखने को कहा था। उसका एक वाक्य बदलकर उन्होंने यों लिखने का आग्रह किया था, 'दोनों दलों की दलादली में दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा।' शुक्लजी ने ठीक यही शैली तो नहीं अपनाई, लेकिन कभी-कभी मनोरंजन के लिए उससे मिलती-जुलती सानुप्रास शैली का प्रयोग उन्होंने जरूर किया है। जैसे सत्यनारायण कविरत्न के लिए लिखा है, 'वे थे ब्रजमाधुरी में पगे जीव; उनकी पत्नी थीं आर्य्यसमाज के तीखेपन में तली महिला।'

बदरीनारायण चौधरी से उन्होंने भारतेंदु के बारे में बहुत-सी बातें सुनी होंगी। आनंदकादंबिनी पर भारतेंदु ने जो राय दी थी, उसे शुक्लजी ने इतिहास में उद्धृत किया है। (पृ.560)। प्रसादजी से उन्होंने कई बार ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए कहा था, इसका जिक्र भी उन्होंने किया है। इस तरह के उल्लेख आलोचना में संस्मरणों का महत्व जोड़ देते हैं। शुक्लजी इतिहास लिख रहे थे, संस्मरण नहीं; इसलिए उन्होंने आवश्यक होने पर ही ऐसी बातों की चर्चा की है।

अपने बारे में उन्होंने कम लिखा है, फिर भी उनकी रचनाओं में जहाँ-तहाँ व्यक्तिगत बातों का उल्लेख हुआ है, उनसे पुस्तक-सेवी विद्वान् के बदले एक घुमक्कड़ और विनोदी व्यक्तित्व की तसवीर बनती है। 'मैंने पहाड़ों और जंगलों में घूमते समय' साधुओं को प्रकृति पर मुग्ध होते देखा था। साधु मुग्ध हुए हों चाहे न हुए हों, शुक्लजी ने जंगलों-पहाड़ों में घूमकर प्रकृति का बहुत निकट से परिचय पाया था, इसमें संदेह नहीं। 'एक दिन रात को मैं सारनाथ से लौटता हुआ' काशी की गली में प्राचीन उज्जयिनी का भ्रम कर चुका था। यह भ्रम टूटा म्युनिसिपैलिटी की लालटेन से! काशी की गलियों में उन्होंने ठठेरों को मायावाद समझाकर गाहक से दूना दाम वसूल करते देखा था। साँची का स्तूप देखते हुए महुओं की सुगंध पर वह झूम उठे थे और उस लखनवी दोस्त से खीझ उठे थे जिसे डर था कि महुए का नाम लेने से 'लोग देहाती समझेंगे'। उन्होंने चूल्हा फूँकते हुए ब्राह्मण देवता को उसमें पानी डालते देखकर रसात्मक अनुभूति की थी, सीताराम और करेला कहकर बूढ़ों को चिढ़ाने वाले लड़कों की भीड़ से भी आनंद प्राप्त किया था। इसका कारण शुक्लजी का मानवप्रेम, उनकी विनोद-प्रियता और जिंदादिली थी। लड़कों

हिंदी गद्य विवेचना

के सिवा बूढ़े रसिकों से भी यह पद सुनकर उन्होंने याद कर लिया था, 'कवि सेवक बूढ़े भए तौ कहा पै हनोज है मौज मनोज ही की'!

शुक्लजी में कुछ बातें डाक्टर जॉनसन की-सी हैं। दोनों ही लेखक सहज बुद्धि (कॉमन सेन्स) की ज़मीन नहीं छोड़ना चाहते। शुक्लजी यथार्थवाद की कसौटी पर कभी-कभी साहित्य को इस तरह परखते हैं कि अद्भुत रस की सृष्टि हो जाती है। प्रकृति को अबलामय देखने वाले कवियों को लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं, 'आजकल तो स्त्री-कवियों की कमी नहीं है। उन्हें अब पुरुष-कवियों का दीन अनुकरण न कर अपनी रचनाओं में क्षितिज पर उठती हुई मेघमाला को दाढ़ी-मूँछ के रूप में देखना चाहिए।' जायसी की भूमिका में 'काजर दे नहीं एरी सुहागिनी! आँगुरि तेरी कटैगी कटाछन' -- इस पंक्ति पर शुक्लजी की टिप्पणी है, 'यदि कटाक्ष से उँगली कटने का ख़र है, तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिए छुरी, हँसिया आदि की कोई ज़रूरत न होनी चाहिए।'

शुक्लजी ने अपने निबंधों द्वारा हिंदी के काव्यशास्त्र को एक नया मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार दिया। इस आधार पर उन्होंने साहित्य की प्रगति-विरोधी धाराओं का खंडन किया और संस्कृत-हिंदी की प्रगतिशील परंपरा का समर्थन किया। उनकी शैली तार्किक विवेचन के लिए उपयुक्त होने के साथ आवश्यकतानुसार आवेशपूर्ण और आलंकारिक भी है और उसकी एक विशेषता जीवन का संचित अनुभव प्रकट करने वाली वाक्यावली है। शब्द-चयन में उर्दू के प्रचलित शब्दों से उन्हें परहेज़ नहीं है। उनका व्यक्तित्व एक सहृदय और विनोदी साहित्य-प्रेमी और संसार-प्रेमी मनुष्य का है, पुस्तक-सेवी संन्यासी का नहीं। उनकी निर्भीकता, दृढ़ता, गहन अध्यवसाय और आत्मविश्वास के गुण उनके काव्य-सिद्धांतों और साहित्यालोचन की ही तरह हिंदी-प्रेमियों के लिए शिक्षाप्रद और प्रेरणादायक हैं।

(‘आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना’ पुस्तक से साभार)

2 . अशोक के फूल से देवदारु वन तक कृष्णबिहारी मिश्र

'बाणभट्ट की आत्मकथा' की दीदी ने पुरुष जाति को सावधान करते हुए कहा है, 'प्रमाद, आलस्य और क्षिप्रकारिता—तीन दोषों से बच।' यह उस व्यक्ति की उद्भावना है जिसने पूरी तरह इस चेतना को स्वीकार किया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व इन अभावों से पूर्णतया मुक्त है। उनका कृतित्व उनके अथक परिश्रम और विराट् साधना का परिणाम है। दुनियावी झंझटों को ताख पर रख के, प्रमाद और आलस्य को तोड़कर द्विवेदी जी ने भारतीय वाङ्मय का गंभीर अध्ययन किया। इसी प्रकार द्विवेदी जी क्षिप्रकारिता से भी मुक्त हैं यानी किसी बात में इन्हें जल्दी नहीं रहती। उनके निकट संपर्क में रहनेवाले इस बात की साक्षी देंगे। द्विवेदी जी प्रायः भीतर से पनडब्बा मंगाकर अपने हाथ से पान लगाकर अतिथि-सत्कार करते हैं। और यदि संयोगवश कभी आपने उनके हाथ का लगाया पान खाया हो; उन्हें पान लगाते देखा हो तो आप भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं करेंगे। चुन-चुनकर पान के पत्ते द्विवेदी जी निकालते हैं, भेंटी की ओर से जरा टूंग देते हैं और फिर धीरे-धीरे उस पर चूना और फिर कत्था लगाते हैं, एक निश्चित मात्रा में सुपारी डालकर पान को मोड़ते हैं। बातचीत और ठहाका चलता रहता है और बड़े प्रेम से अतिथियों को पान थमाते हैं। आप ध्यान से देखें, जैसे अपने बात-व्यवहार में द्विवेदी जी क्षिप्रकारिता को नहीं आने देते, ठीक वैसे ही रचना अथवा लेखन में वे क्षिप्रकारिता से अपने को बचाते हैं।

इतने बड़े संयम का निर्वाह करने के बाद द्विवेदी जी जब कहते हैं कि 'कवि बनना है मेरे दोस्तो, तो फक्कड़ बनो। शिरीष की मस्ती की ओर देखो,' तो उनका मतलब सिर्फ इतना ही रहता है कि रचना के पहले पूर्वग्रह छोड़ना ज़रूरी है, मोह और आसक्ति से विरत होना ज़रूरी है। 'कालिदास महान् थे, क्योंकि वे अनासक्ति रह सके थे। कुछ इसी श्रेणी की अनासक्ति आधुनिक हिंदी कवि सुमित्रानंदन पंत में है। कविवर रवीन्द्रनाथ में यह अनासक्ति थी' और मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि निबंधकार हजारीप्रसाद द्विवेदी में भी यह अनासक्ति है। द्विवेदी जी ठठाकर हंसते हैं अपनी घनी (किंतु छोटी) मूंछों के बीच अंगुली रखकर गंभीर विषयों पर सोचते हैं, खाली समय में तरह-तरह के विनोद

हिंदी गद्य विवेचना

करते हैं, फूल-पौधों की और कुत्ता-मैना की कहानी कहते हैं, तंत्रशास्त्र से लेकर रवीन्द्रनाथ तक बातें करते हैं। और प्रायः मौज में संस्कृत और अपभ्रंश की कविताएँ सुनाते हैं। द्विवेदी जी का यह संपूर्ण आत्म-तत्व उनके निबंधों में प्रस्फुटित हुआ है।

हिंदी के एक समर्थ आचार्य ने द्विवेदी जी के निबंधों की विशेषता की ओर संकेत करते हुए दिल्ली की एक साहित्य-सभा में कहा था कि गुलेरी जी और द्विवेदी जी के निबंधों में इतनी अंतर्कथाएँ हैं कि बिना उनकी जानकारी रखे उनके निबंधों को ठीक से समझ पाना संभव नहीं है। यह सोलहो आने सच है कि द्विवेदीजी के निबंधों के पूरे आस्वादन के लिए एक सांस्कृतिक पीठिका और साहित्यिक संस्कार, आवश्यक है। किंतु जो इससे वंचित है वे भी द्विवेदीजी के निबंधों को पढ़कर निराश नहीं होंगे। वह द्विवेदीजी के सहज-शिल्प की निजी विशेषता है। इनके निबंधों के बीच-बीच में भारतीय मनीषा अपने मुखश्री से घूँघट हटाकर मनुष्य को एक कारुणिक दृष्टि से निहारने लगती है। उसे देखकर सामान्य पाठक की आँखें चौंधियाने लगती है और एक ही छवि को विविध रूपों में देखकर वह आश्चर्य में पड़ जाता है। लेकिन चतुर पाठक की आँखें उसे छवि को पहचानती हैं। तथापि एक ही दृश्य को उनके निबंधों में बार-बार देखकर भी उसकी आँखें थकती नहीं। अतृप्त मानसिक भूख इनके निबंधों की ओर बड़ी त्वरा को साथ दौड़ती है, एक विशेष प्रकार की तृप्ति का अनुभव होता है। मगर ऐसा नहीं होता कि मन भर जाय। एक बार पढ़कर हम उसे सदा के लिए बंद नहीं कर देते। एक बार पढ़ लेने पर हम प्रयोजन-निवृत्त नहीं हो जाते यानी कि उन्हें बार-बार पढ़ने की इच्छा रह जाती है। और यदि द्विवेदी जी के शिल्प की बहुत बड़ी उपलब्धि है कि एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न संदर्भों में उपस्थित कर उसमें एक विशिष्ट अर्थवत्ता भर देते हैं, नया आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं। उनमें कहीं-कहीं आवृत्ति भी है। लेकिन वह कमजोर पाठक की पकड़ के बाहर है, अपनी शैली के बल पर द्विवेदी जी कभी-कभी यानी जब कमजोर स्थल आता है, पाठक के विवेक को सुला देते हैं। जिससे उनकी अशक्तता प्रत्यक्ष होकर सामने नहीं आ पाती।

शुक्ल जी के बाद की पीढ़ी के निबंधकारों में पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी सबसे सशक्त निबंध-लेखक हैं। आचार्य शुक्ल के निबंधों में—मेरा मतलब व्यक्ति व्यंजक निबंधों से है—बौद्धिकता कुछ अधिक है। द्विवेदी जी में अनुभूतियाँ अधिक हैं यानी वे एक हद तक लीरिकल और रोमैंटिक हैं जो कदाचित रवीन्द्रनाथ का प्रभाव है और यह प्रभाव ग्यारह वर्षों के संपर्क का स्वाभाविक परिणाम है। मेरा अनुमान है कि द्विवेदी जी योजना बांधकर लिखने नहीं बैठते होंगे। वीणा का एक तार छूने पर जैसे पूरे झंकृत हो उठते हैं, वैसे कोई बात द्विवेदी जी को छू देती है, उनकी प्रतिभा को उकसा देती है और तब वे कलम उठाते हैं, बहुत-सी बातें सहज ही फूटती चली जाती हैं, द्विवेदी जी उसे सजाते जाते हैं,

अशोक के फूल से देवदारु वन तक

और इस प्रकार उनकी रचना एक रूप ले लेती है। इसी अर्थ में इन्हें लीरिकल कहा जा सकता है।

द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में सौजन्य और सादगी है। एक बार उन्होंने बातचीत के सिलसिले में कहा था कि जयप्रकाश बाबू से परिचय हो जाने पर जब वे द्विवेदी जी से खड़ी बोली में बात कर रहे थे, द्विवेदी जी ने उन्हें टोका था और यह कहकर कि 'मेरी भी मातृभाषा भोजपुरी है' उनसे भोजपुरी में बोलने का प्रकारांतर से आग्रह किया था। उनके स्वभाव की यह सादगी उनके निबंधों में भी है, उदाहरण के लिए 'वसंत आ गया', 'एक कुत्ता और एक मैना', और 'शिरीष के फूल' को देखा जा सकता है। किंतु जब कभी द्विवेदी जी 'गतिशील चिंतन' में डूबते हैं तो सीधे कालिदास के लोक में पहुंच जाते हैं, उनके भीतर का बाणभट्ट सामने आकर उज्जैनी के गवाक्षों से झरने वाले सौंदर्य को निहारने लगता है। एकाश्वबाही रथ पर चढ़कर उबड़-खाबड़ रास्ते से होकर अपने गाँव की ओर जाते समय द्विवेदी जी को अचानक एक धक्का लगता है जो उनकी स्मृति को कुरेद देता है, उनके भावुक मन को जगा देता है और पुरातन को यादकर वे सोचने लगते हैं, हिमालय के उस विषम पार्वत्य-पथ पर एक दिन मातलि नामक कोई सारथी भी रथ हाँक रहा था और यह मेरा सारथी भी एक अश्रुचुंबी और पाताल-पाती राज-मार्ग पर अपना रथ हाँक रहा था। उस दिन उर्वशी और पुरूरवा उस पर बैठे थे, एकाध और सुंदरियां भी रही होंगी, धक्का उस दिन भी लगा था, पर वहाँ शरीर और चित्त दोनों ही सिहर उठे थे, रोमांच, स्वेद और हृत्कंप का एक साथ ही आक्रमण हुआ था। हाय ! कौन जाने मेरे चरित्र काव्य के भावी कालिदास को यह धक्का याद भी आयेगा या नहीं। अगर आये तो समाजवाद के उस अग्रदूत का यह अपमानित, अवहेलित धक्का वह कभी नहीं भूलेगा। उसे अपने अग्निगर्भ-असंतोष उद्गिरण करनेवाले महाकाव्य में इस भयानक अनर्थ का चित्रण ज़रूर करना होगा। साम्राज्यवाद और 'बूर्जुआ' मनोभाव पर भी इसी बहाने उसे एक ठोकर ज़रूर मारते जाना पड़ेगा। धक्का रोज ही औरों को भी जाने कई बार लगता है, मगर उन धक्कों का उन पर कोई असर नहीं। द्विवेदी जी का धक्का और है। ऐसा धक्का जो अपने विगत स्वर्णयुग के ऐश्वर्य की याद दिलाता है, वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की ओर सोचने के लिए प्रेरित करता है और विवश कर देता है साम्राज्यवाद के खिलाफ आवाज़ उठाने के लिए। उनके भीतर का विवेक उन्हें सावधान, करता है, 'डिफीटेड मेंटैलिटी पराजित मनोभाव। सामने दुर्भेद्य अज्ञान दुर्ग है, बाहर का शोषण और भीतर की लूट जारी है, और तुम गुप्तकाल के स्वप्न देख रहे हो। इसे ही पराजित मनोभाव कहते हैं। आज का हरेक कवि, और हरेक लेखक इसी पराजित मनोभाव का शिकार है। अंगरेज-काल गुप्तकाल नहीं है, वर्तमान अतीत-जैसा मोहक नहीं है। उज्जयिनी की अभिसारिकाएँ न जाने कौन-सी गुदगुदी पैदा करके और न जाने कौन-सा वैराग्य उद्भ्रिक्त करके अस्त हो गयी। आज बड़े-बड़े नगरों के वेश्यालय देश की समस्त

हिंदी गद्य विवेचना

नैतिकता, समग्र काव्यकला, समग्र आचार-परंपरा पर मानो बड़े प्रश्नैवाचक चिह्न हैं। वतर्मान युग युवती विधवाओं द्वारा अभिशप्त है, अपमानित, दलित सधवाओं द्वारा अवरुद्ध है, निरुपाय सामान्यताओं द्वारा कलंकित है। इस असौंदर्य के ढूँह में काव्यकला टिक नहीं सकती। साफ करो पहले इस जंजाल को, इस कूड़ा को, इस आवर्जना को, इस अंधकार को। द्विवेदी जी की ऊँची उड़ान को देखकर कोई जनवादी पाठक या समीक्षक इन्हें पुराणपंथी या पलायनवादी समझने की भूल न करे। धरती से नाता तोड़कर वे सदा के लिए व्योमविहारी बन जाना नहीं चाहते। दृश्यमान जगत् के सवालों से आँख मूँदकर वे चिन्मय सत्ता की महत्ता नहीं समझाते। हर वक्त अदृश्य लोक में विचरने वाले को द्विवेदी जी पराजित मनोभाव से पीड़ित समझते हैं। ऊपर का उद्धरण इस बात को प्रमाणित करता है। इससे कुछ और आगे बढ़कर और अधिक स्पष्ट रूप से उन्होंने एक जगह लिखा है, "लोग कहते हैं – इस जगत् की समस्त गंदगियों से परे कोई ऐसा परात्पर ब्रह्म है जो शाश्वत है, जो त्रिकाल में सत्य है, जो सदा-सर्वदा बना रहनेवाला है। होगा। परंतु मैं कहता हूँ कि मनुष्य की मानसिक भूख भी बहुत कुछ शाश्वत ही है। मनुष्य की उद्दाम लालसा को, पराजित बुभुक्षा को और दुर्दमनीय जिजीविषा को चिर पुरातन और चिर नवीन कहने की इच्छा होती है। वैरागी कहता है कि यह भूख तुम्हारा शत्रु है, किंतु कहने की इच्छा होती है कि इस भूख में ही मनुष्यता है।" द्विवेदी जी के साथ मार्क्सवादी बिल्ला न होने के कारण इन्हें बुर्जुआ, धुरीहीन और रहस्यवादी समझ लेना समझदारी की बात नहीं कही जा सकती। बल्कि सच तो ये है कि द्विवेदी जी सदा साम्राज्यवाद के विरोध में बोलते हैं, उस अवस्था के खिलाफ आवाज उठाते हैं, जिसका प्रत्यक्ष परिणाम सामाजिक वैषम्य है। इस वैषम्य का परिणाम दारिद्र्य है, परमुखापेक्षिता है, हीनता है जिसे देखकर द्विवेदी जी के मन में कई प्रश्न उठते हैं, "क्या सचमुच कला भी गरीबों के लिए हो सकती है? समाजवाद गरीबों के लिए है या गरीबी के ध्वंस के लिए? वह जो चिथड़ों में लिपटी हुई ज्वराक्रांत बुढ़िया कराहती हुई हाथ में तेल-किट्ट-कलुष-शीशी लिए नगरी के चिकित्सालय की ओर भागी जा रही है कला का निर्माण क्या उसी के लिए होगा? या मारिए गोली कला को। रामराज्य की भारी-भरकम भित्ति क्या इन्हीं मुरदे कंधों पर स्थापित होगी हरगिज नहीं। समाजवाद इन मूढ़, निर्वाक दलित, अपमानित, हीन, निर्वीर्य और तेजोहीन पुरुष और स्त्रियों का ध्वंस कर देगा अवश्य विशेषण को, विशिष्यमान को नहीं। इन्हीं निर्वीर्य जन-समूह से तेजोदृप्त जन-समूह का अवतार होगा पहले राम का अवतार, फिर रामराज्य की स्थापना।"

देश के इस दारिद्र्य को देखकर द्विवेदी जी का दिल भारी हो उठा और थके मन से उन्होंने कहा, "जब कि दिमाग खाली हो और दिल भारी हो तब शास्त्रचर्चा अच्छी नहीं लगती।" और तभी कहीं से एक गठीले बदनवाला पठान युवक हींग बेचते आ पहुँचा।

अशोक के फूल से देवदारु वन तक

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की लंबी दाढ़ी देखकर उसके मन में कई तरह की शंकाएँ उठीं और अंत में द्विवेदी जी के सामने एक प्रश्न रखकर वह चला गया। "मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, तो क्या हिंदू है?" यही वह प्रश्न था उस पठान युवक का जो द्विवेदी जी को एक गहरी चोट दे गया, उनकी प्रतिभा को जैसे किसी ने उकसा दिया हो, सोचने को मजबूर कर दिया हो कि "इस अभागे देश में जो मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, वह हिंदू होता है। यह पठान युवक पाणिनि और यास्क का वंशज है, पर चूंकि वह मुसलमान है, इसीलिए वह हिंदू नहीं। इसके पूर्वजों ने वैदिक साहित्य के अनमोल अशों का संपादन किया था, पर चूंकि वह मुसलमान है इसलिए वह हिंदू नहीं और इसलिए उसके लिए वह साहित्य कुफ्र है।" यह सोचते ही द्विवेदी जी के सामने तत्काल ही भारतीय संस्कृति की अभाव-उपलब्धियों का एक दृश्य नाच गया। अफसोस की बात केवल उतनी ही नहीं है कि पाणिनि और यास्क के वंशज आज हींग बेचते हैं बल्कि और भी ढेर-सी बातें हैं जो हमारे स्वाभिमान को धक्का देती है, "कुमार जीव के सगे-संबंधी आज सीमांत के हिंदुओं की बहू-बेटियों का व्यवसाय करते हैं, और इस बात को भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि कालिदास की विहार-भूमि में आज ऐसी सभ्यता (या बर्बरता) का तांडव हो रहा है जो चित्त को मथे बिना नहीं रह सकता, फिर भी भरोसा यह है कि वह रक्त बचा तो है। आज नहीं कल वह अपना प्रभाव फैलायेगा ही, लेकिन मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ

कहते हैं, 'फलेन परिचीयते वृक्ष :'-अर्थात् दरख्त की पहचान फल से होती है। आज जो हिंदुओं की दुरवस्था है, वह है तो उसी बहु-विधोषित समृद्धि कालीन सभ्यता का परिणाम। कैसे कहूँ कि वह अच्छी थी, जब कि उसका परिणाम स्पष्ट ही बुरा नज़र आ रहा है।" यह एक ज्योतिष के आचार्य और साहित्य के उस पंडित की वाणी है जो अपने को अनाकिंस्ट कहता है, बूढ़ों को झुककर प्रणाम कर उन्हें अपेक्षित श्रद्धा देता है, देवस्थल के सामने माथा झुकाकर सहज ही अपनी जीवंत आस्था की विज्ञप्ति देता है।'

इसे मैं व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ कि ज्योतिष के आचार्य होकर भी फलित ज्योतिष में द्विवेदी जी का विश्वास नहीं है। मुझे एक बार उन्होंने बताया था कि जब मैं शांतिनिकेतन पहुंचा तो वहाँ के लोग यह जानकर कि काशी का पंडित आया है, मेरी ओर आकृष्ट हुए और जब उन्हें मेरे ज्योतिषज्ञान का पता चला तो उन लोगों ने बड़ी श्रद्धा से मेरे सामने अपनी जन्म-पत्री और हाथ पसार दिया था। जन्म-पत्री और हस्त-रेखा देखे बिना ही अटकल से मैंने उन भाग्यवादियों के भाग्य के बारे में जो कुछ कह दिया संयोगवश वह सच निकल गया, परिणामतः मेरे यहाँ ऐसे लोगों की भीड़ बढ़ने लगी थी और किसी तरह उनसे पिंड छुड़ाया था। इस विद्या में मेरा विश्वास नहीं है।" सुनने वालों को शायद यकीन हो, लेकिन यह सच है कि द्विवेदी जी रूढियों के शत्रु हैं। फिर भी ज्योतिष और शास्त्र के आचार्य होने के कारण पंडितों की पंचायत में तथा ठाकुर जी की बटोर में वे सम्मानपूर्वक

हिंदी गद्य विवेचना

बुलाये जाते हैं। पंडितों की पंचायत से हटाकर उन्हें क्षण-भर के लिए उनकी कल्पना अपने पंखों पर बैठाकर एक दूसरे लोक में उड़ा ले जाती है। वहाँ द्विवेदी जी ने जो देखा उसे बड़े स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया है, 'मुझे ऐसा जान पड़ा है मैं सारे जगत् के छोटे-मोटे व्यापार को देख सकता हूँ। मेरी दृष्टि समुद्र पार करके अद्भुत कर्मलोक में पहुँची। यहाँ के मनुष्यों में किसी को फुरसत नहीं जान पड़ी, सबको समय के लाले पड़े थे। सारे द्वीप में एक भी ऐसा गांव नहीं मिला, जहाँ घंटों तक एकादशी व्रत के निर्णय की पंचायत बैठ सके। सभी व्यस्त, सभी चंचल, सभी तत्परा। मैं आश्चर्य के साथ इनकी अपूर्व कर्मशक्ति देखता रह गया। यहाँ से लाल, काली, नीली आदि अनेक तरंगे बड़े वेग से निकल रही थीं और सारे जगत् के वायुमंडल पर भी ये बार-बार आघात करती हुई नज़र आयीं। वह भी कुछ विक्षुब्ध हो उठा। ये विचारों की लहरें थीं।'

इसी प्रकार 'ठाकुर जी की बटोर' में बैठकर द्विवेदी जी ने (एक अव्यावहारिक की तरह लोगों के रुख का ख्याल किये बिना) बड़े उत्तेजित भाव से कहा था, 'जो ठाकुर जातिविशेष की पूजा ग्रहण करके ही पवित्र रह सकते हैं, जो दूसरी जाति की पूजा ग्रहण करके अग्राह्य चरणोदक हो जाते हैं, वे मेरी पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। मेरे भगवान् दीन और पतितों के भगवान् हैं। जाति और वर्ण से परे के भगवान् हैं, धर्म और संप्रदाय के ऊपर के भगवान् हैं। वे सबकी पूजा ग्रहण कर सकते हैं और पूजा ग्रहण करके अब्राहमण-चांडाल सबको पूज्य बना सकते हैं।' द्विवेदी जी की इन पंक्तियों में रवीन्द्र और गांधी की सांसें बोल रही हैं।

द्विवेदी जी के निबंधों में दो अतिवादी प्रवृत्तियों का निषेध दिखाई पड़ता है। पुरातन को एकदम बेकार समझकर नये ज़माने के जो लोग परंपराच्युत हो गये, उनसे द्विवेदी का समझौता नहीं हो सकता, क्योंकि द्विवेदी जी ने परंपरा को कहीं छोड़ा नहीं, बल्कि उसे नये आलोक में देखा है। कहना अनुचित न होगा कि द्विवेदी जी के कृतित्व की भित्ति ही पुरातन पर आधृत है, उस पर आधुनिक रंग चढ़ाकर उसमें नये प्राण की प्रतिष्ठा की गयी है। नये साहित्यकारों ने जहाँ से अपनी दृष्टि हटा ली है, द्विवेदी जी की दृष्टि वहीं ठहरती है। 'शवसाधना' का रहस्य उद्घाटित करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है, 'शव की पीठ पर मंत्र-तंत्र से चाहे जितनी साधना की जाय, जब तक उसका मुख साधक की ओर नहीं होता, तब तक समझना चाहिए कि साधक सिद्धि के निकट नहीं आया है, शव तब भी शव ही है, उसमें शक्ति का संचार नहीं हुआ है। शव की साधना तभी पूर्ण होती है जब उसका मुख साधक के सामने होता है, वह उससे जीवित मनुष्य की भाँति बात करता है। प्राचीन ज्ञान के साधक को यह बात याद रखनी होती है। हम ऐसे साधकों को जानते हैं जिन्होंने अपने गंभीर अध्यवसाय से प्राचीन युग का मुख अपनी ओर फेर लिया है। तुलसीदास ऐसे ही साधक थे। उन्होंने जो कुछ पढ़ा, सुना, उसे निःशेष भाव से भविष्य

अशोक के फूल से देवदारु वन तक

के निर्माण में लगा दिया। केवल ज्ञान भार है यदि वह मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। वह भी बाह्यचार मात्र है, मृत है। ज्ञान का 'फल मुक्ति है।' इसी प्रकार अनेक उपेक्षित पुरानी वस्तुओं को एक नयी अर्थवत्ता देकर द्विवेदी जी ने अपने निबंधों में यत्र-तत्र व्यक्त किया है। एकदम आधुनिक बन जाने की जो हवा बही, वह द्विवेदी जी को छूकर निकल गयी, इतने भारी व्यक्तित्व को अपने साथ उड़ा नहीं पायी। इसी प्रकार एक दूसरी अति का द्विवेदी जी ने निषेध किया और वह है पंडिताई का दंभ। अशोक के फूल की अंतिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं, 'अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हंस रहा है। पुराने चित्त से इसे देखने वाला उदास होता है। वह अपने को पंडित समझता है। पंडिताई भी एक बोझ है—जितनी बीमारी होती है उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह इस अवस्था में उदास भी नहीं करती।' और इसीलिए साहित्य के नये मूल्य की ओर संकेत करते हुए द्विवेदी जी ने कहा था कि 'चित्तगत उन्मुक्तता बड़ी चीज़ है, क्योंकि वह बड़ी संभावना से भरी है। उसका स्वागत होना चाहिए। उसका स्वस्थ विकास हुआ तो भारतीय साहित्य का अच्छा अध्ययन होगा और उसके मर्म को हम अच्छी तरह समझ सकेंगे।' इसी प्रकार 'साहित्य का प्रयोजन—लोक कल्याण' मानते हुए द्विवेदी जी ने कहा है, 'दृढ़तापूर्वक कहना चाहता हूँ कि मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नहीं लगती।'

निस्संदेह डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी वर्तमान व्यक्ति व्यंजक निबंधकारों में श्रेष्ठतम है। अत्यंत सामान्य विषय की चर्चा द्वारा सरस शैली में बड़ी-बड़ी बातें कह जाना द्विवेदी जी की अपनी विशेषता है। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' अपनी नादान बिटिया के इस प्रश्न के जवाब में बड़े ही रोचक ढंग से सहज भाषा में द्विवेदी जी कहेंगे, 'नाखून का बढ़ना मनुष्य के भीतर की पशुता की निशानी है और उसे नहीं बढ़ने देना मनुष्य की अपनी इच्छा है। अपना आदर्श है। बृहत्तर जीवन में अस्त्र-शस्त्रों का बढ़ने देना मनुष्य की पशुता की निशानी है और उनकी बाढ़ को रोकना मनुष्यत्व का तकाजा है। मनुष्य में जो घृणा है, जो अनायास—बिना सिखाये—आ जाती है, वह पशुत्व का द्योतक है और अपने को संयत रखना, दूसरे के मनोभावों का आदर करना मनुष्य का स्वधर्म है।' कम्बख्त नाखून बढ़ते हैं तो बढ़ें मनुष्य उन्हें बढ़ने नहीं देगा। 'एक कुत्ता और एक मैना' की चर्चा द्वारा गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की मनोदशा का परिचय अपने पाठकों को द्विवेदी जी बड़ी सुगमतापूर्वक दे सकते हैं। मैना-दंपति के संभाषण के अटकल द्वारा उनके दाम्पत्य जीवन की झांकी प्रस्तुत कर मनुष्य पर व्यंग्य कस सकते हैं। निबंध का शीर्षक होता है, 'अशोक के फूल' और उद्देश्य होता है, इतिहास के बड़े तथ्य का उद्घाटन करना। लोग-बाग जानते हैं कि वसंत एक निश्चित समय पर आता है, मगर द्विवेदी जी कहते हैं कि वसंत आता नहीं,

हिंदी गद्य विवेचना

ले आया जाता है। जो चाहे और जब चाहे अपने पर ले आ सकता है। 'द्विवेदी जी की प्रतीति है कि वसंत भागता-भागता चलता है। देश में नहीं, काल में। किसी का वसंत पंद्रह दिन का है तो किसी का नौ महीने का।' इस प्रकार बड़ी सहज भाषा में महत् उद्भावना कर जाना निबंधकार द्विवेदी जी के लिए आसान है। इनके पत्रों के आरंभ और अंत के शब्दों को सटा देने पर एक श्रेष्ठ निबंध का रूप ले लेते हैं जैसे 'मेरी जन्मभूमि' नामक निबंध श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' के नाम लिखा गया पत्र है। ऐसे ही दो और पत्रों को मैंने देखा है, एक 'नयी धारा' के संपादक रामवृक्ष बेनीपुरी के नाम और दूसरा 'हंस' के (शांति संस्कृति अंक) संपादक अमृतराय को।

द्विवेदी जी ने मौज में एक बार कहा था कि मैं अपने तई अनार्किस्ट हूँ। इसका उल्लेख मैंने ऊपर किया है। सचाई यह है कि द्विवेदी जी के कृतित्व और व्यक्तित्व से जिनका अच्छी तरह परिचय है वे इस बात से कतई सहमत नहीं होंगे। सामाजिक मर्यादा और वैधानिक संयम का अतिक्रम कर जाना द्विवेदी जी के व्यक्तित्व के अनुकूल नहीं है। उनके निबंधों में उनकी प्रकृति झाँकती है, उनकी भाषा में उनका वक्ता (आरेटर) बोलता है एक विशेष प्रकार का उतार-चढ़ाव लिए हुए। विचार और अनुभूतियाँ एक में संपृक्त होकर अभिव्यक्त हुई हैं। कहीं-कहीं बीच-बीच में विनोद भी है। लेकिन व्यंग्य की मात्रा उनके निबंधों में कम है। व्यंग्य है भी तो उतना उत्तप्त और तीखा नहीं यानी जैसा कि भारतेंदु और निराला में है, कहीं-कहीं शुक्ल जी में भी। कबीर के सिलसिले में स्वयं द्विवेदी जी ने व्यंग्य की बड़ी अच्छी परिभाषा दी है। 'व्यंग्य वह है जहां कहने वाला अधरोष्ठों में हंस रहा हो और सुनने वाला तिलमतिला उठा हो और फिर भी कहने वाले को जवाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्ता थे।' और द्विवेदी जी ऐसे ही व्यंग्यकर्ता हैं, लेकिन तभी तक जब वे बातचीत की भूमि पर रहते हैं। इनके निबंधों में इस श्रेणी का व्यंग्य कहीं नहीं दिखाई पड़ता। कहीं है भी तो अत्यंत शांत। उनके निबंधों की शैली के ओज और प्रखरता पर एक विशेष प्रकार की शांति का शासन दिखाई पड़ता है अर्थात् वह शांतिपूर्ण ओज जो रवीन्द्रनाथ की कृतियों की विशेषता है। कदाचित् यह शांति उनके मानवतावाद के अधिक निकट पड़ती है, और इसीलिए उसे चाहकर भी द्विवेदी जी हटा नहीं सकते। द्विवेदी जी का स्वच्छंदतावाद निराला का स्वच्छंदतावाद नहीं, बल्कि छायावादियों (हिंदी स्वच्छंदवादियों) में पंत की प्रवृत्ति से इनका अधिक साम्य है।

द्विवेदी जी कहीं-कहीं एकाध वाक्य में ही अपना वक्तव्य समाप्त कर देते हैं, जैसे "'झगरे रगरे बगरे ठगरे' मे भी कोई तुक है ! मगर सभी दुनिया इसी को तुक कहती आ रही है और विनोद की छटा उपस्थित करने के लिए यह कहना कि 'मुझे कचनार फूल की ललाई बहुत भाती है। सबसे बड़ी बात यह है कि इन फूलों की पकौड़ियाँ भी बन सकती

अशोक के फूल से देवदारु वन तक

हैं।' द्विवेदी जी प्रायः धीरे-से ऐसी बात कहकर अट्टहास कर उठते हैं। इसी प्रकार 'केतु दर्शन' की चर्चा से केवल दो ही वाक्य निकालकर रख दिया जाय तो आप ध्यान से देखें, वह पूरा वक्तव्य है, 'उर यह है कि हस्त-नक्षत्र वाला केतु दंडकारण्य के राजा का नाश कर डालता है। मुझे आशंका हुई कि दंडकारण्य कहीं हैदराबाद की रियासत तो नहीं है।' आगे भी दो पंक्तियाँ हैं, 'बुरा मैं किसी का नहीं सोचना चाहता। भगवान् करे, दंडकारण्य भूलोक में कहीं हो ही नहीं !' लेकिन दंडकारण्य भूलोक में ही है और द्विवेदी जी को आशंका है कि वह हैदराबाद की रियासत है जो पाप की नींव पर खड़ी है। एक और वाक्य देखिए, 'प्रायः मोहक वस्तुओं को देखकर मनहूस लोगों की याद आ जाती है। सबको आती है क्या?' और किसी को आवे-न-आवे द्विवेदी जी को आम्रमंजरी देखकर बिच्छू की याद जरूर आती है। बिच्छू—जो संसार का सबसे पुराना, सबसे खूसट, सबसे क्रोधी और सबसे दकियानूस प्राणी है। इसी तरह एक बार लेखकों की समस्या के बारे में सोचते हुए जाने कैसे द्विवेदी जी को कलकत्ते के चिड़ियाघर के वनमानुष की भी याद आयी थी और उन्होंने अपनी पूर्वधारणा में किंचित् संशोधन कर लिया था और अब उनकी राय में वस्तुतः संसार के सभी वनमानुष गंभीर और तत्त्वदर्शी दिखाई देते हैं। द्विवेदी जी की शैली का एक रूप यह है और एक वह है जब वे संस्कृतनिष्ठ भाषा और लंबे-लंबे वाक्यों का प्रयोग बाणभट्ट की तरह या कि रवीन्द्रनाथ की तरह करने लगते हैं। बाणभट्ट के अलावे और भी बहुत से संस्कृत मनीषियों का प्रभाव द्विवेदी जी पर होगा। मगर जो सब से स्पष्ट और गहरा प्रभाव है वह रवीन्द्रनाथ का है। यह प्रभाव इतना मुखर है कि द्विवेदी जी के निबंधों को पढ़ते समय पाठक को कभी यह भ्रम भी हो सकता है कि हम कहीं रवीन्द्रनाथ को तो नहीं पढ़ रहे हैं। इसी प्रभाव के कारण द्विवेदी जी में अतिरिक्त भाव-प्रवणता और कहीं-कहीं अतिरिक्त उच्छ्वास भी दिखाई पड़ता है। यह व्यक्तिव्यंजक निबंध की विशेषता हो सकती है, मगर समीक्षा जैसे शास्त्रीय-विषय-विवेचना में यह एक प्रत्युह का रूप ले लेता है। उदाहरण के लिए हम 'सूर साहित्य' को देखें, उसमें उच्छ्वास की मात्रा बहुत अधिक है, द्विवेदी जी की अन्य समीक्षा-कृतियों में भी एक अतिरिक्त भाव-प्रवणता दिखलाई पड़ती है। कदाचित् इसे ही लक्ष्य कर डॉ. देवराज ने कहा है कि वस्तुतः द्विवेदी जी एक शुद्ध समीक्षक नहीं हैं।' मेरे कहने का आशय सिर्फ इतना ही है कि द्विवेदी जी की शैली में एक उच्छ्वास है, उनकी दृष्टि में एक करुणा है जो समीक्षा में बाधक सिद्ध होती है। द्विवेदी जी किसी प्रकार भरसक किसी को नाखुश करना नहीं चाहते, इसलिए शुद्ध समीक्षा में जो एक साहस और तटस्थता अपेक्षित है वह बाधित होकर दब जाती है। मेरा मतलब सिर्फ इतना ही है। उनका पांडित्य तो एक आच्छादक गरिमा से युक्त है। यह भी सच है कि आचार्य शुक्ल के बाद आधुनिक साहित्य और साहित्यकारों पर आचार्य नंददुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का ही सबसे अधिक प्रभाव दिखाई पड़ा। निराला जी का प्रभाव दूसरे प्रकार का था। और

हिंदी गद्य विवेचना

अज्ञेय जी जरा बाद में आये और उनका प्रभाव जरा और बाद में एक खास सीमा-रेखा लिये हुए पड़ा।

'देवदारु' के जंगल में बैठकर द्विवेदी जी मुड़कट्टों की भीड़ देखते हैं तो उत्साहित होकर कहते हैं कि 'लाख-लाख मुड़कट्टों को गुलाम बना सकता हूँ। भूतों में जैसे मुड़कट्टे होते हैं। आदमियों में भी कुछ होते हैं। मस्तक नाम की चीज़ उनके पास होती ही नहीं। मस्तक ही नहीं तो मस्तिष्क कहाँ, लता ही कट गयी तो फूल की संभावना ही कहाँ रही—'लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्योद्भवः कुतः'।' ये मुड़कट्टे यानी कटे मस्तिष्क वाले, आश्चर्य है कि कटे मस्तिष्क वाले होकर भी दूसरों का मूड़ काटने की तेज बुद्धि रखते हैं¹ जाति-वृद्धि की चिंता शायद इनकी प्रधान चिंता होती है। और चितन चूँकि बेमूड़ के चलता है, इसलिए मूड़ वालों के काम नहीं आता। इन मुड़कट्टों के बारे में द्विवेदी जी के वक्तव्य का अर्थ जहाँ तक मैं समझ सका हूँ वह यही है और इतना और भी है कि मुड़कट्टों का वास केवल उन घोर देहातों में ही नहीं होता जहाँ 'फचफची गायत्री' का 'झमाझम' पाठ करने वाले पंडित जी रहते हैं बल्कि आज तो इनकी संख्या उन नगरों-महानगरों में अधिक बढ़ती जा रही है जहाँ सभ्यता-शराफत की डींग हांकने वाले अधिक हैं, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय हैं; चाकचिक्य में पलने वाले और शिक्षित कहे जाने वाले लोगों की बहुसंख्या है, विधानसभा और लोकसभा है, न्यायालय और उच्च-न्यायालय हैं; नेता है—अभिनेता हैं; कवि और महाकवि हैं; महात्मा के चेले हैं; और वहीं मुड़कट्टों की भारी पलटन है। 'फलेन परिचीयते वृक्षः !' महात्मा के महत् जीवन-दर्शन के प्रति अनास्था की हवा उठ रही है कि उनके चेले देश की नैतिकता को 'धेले' के भाव पर उतार लाये हैं। और देश मुड़कट्टों की मार का शिकार हो गया है कि भयंकर भ्रांति है; बौद्धिक जड़ता है और रोज- रोज़ मुड़कट्टों की पलटन बढ़ती जा रही है। क्योंकि देवदारु की लकड़ी से चोट करनेवाले चरित्र उठ गये हैं या 'भूतभगावन' क्रिया से उदासीन हो गये हैं।

बेमूड़ की पलटन एक महानमुड़कट्टे को मूड़ वाला मानकर चलती है! लेकिन इन बेमूड़ वालों को कौन समझाये कि वह महामुड़कट्टा यदि मूड़ वाला होता तो तुम्हारे लिए विजातीय होना, उस पर तुम्हारी आस्था नहीं होती, उसे अपना आक्रा मानकर तुम न चलते। पीकिंगवासी इस महामुड़कट्ट की भाषा का अर्थ सबको नहीं लगता। अपनी भाषा का असली अर्थ वह खुद ही समझता है। और मुड़कट्टों की पलटन को समझ से क्या लेना-देना! द्विवेदी जी कहते हैं, 'जो सबको लगे वह अर्थ है, जो एक को लगे वह अनर्थ है।' पीकिंग से उठने वाली हवा अनर्थ की हवा है और यह रुग्ण और विषैली हवा यदि देवदारु उगाने वाली ज़मीन को छूने लगी हो तो उसे यही दफना देना ज़रूरी है कि

अशोक के फूल से देवदारु वन तक

महामुड़कट्ट को यह एहसास हो जाय कि भारत की धरती पर—हिमालय की चोटियों पर देवदारु का वन है; मुड़कट्टों की पौध अबा यहाँ नहीं उग सकती।

हँसी-हँसी में बड़ी बात कहने का द्विवेदी जी को सहज अभ्यास है। जब वे कहते हैं कि 'आज देवदारु के जंगल में बैठा हूँ। लाख-लाख मुड़कट्टों को गुलाम बना सकता हूँ' तो शुद्ध हँसी नहीं करते बल्कि एक बड़ा संकेत देते हैं कि मुड़कट्टों की जड़ उखाड़ फेंकने के लिए जंगलों और गाँवों में जाकर पेड़-पौधों की जाति पहचानना ज़रूरी है; मिट्टी का रहस्य जानना ज़रूरी है। लोकसभा से काफ़ी हाउस तक ही जिनकी सीमा है कि कवि गोष्ठियों से लेकर श्रेष्ठो-दरबारों तक में ही जिन्हें बैठने का अभ्यास है वे तो देवदारु से भी डरेंगे अर मुड़कट्टों से भी। यानी मित्र से भी और अमित्र से भी। इस प्रकार के जीव जिन्हें मित्र से भी भय हो और अमित्र से भी उनकी स्थिति सबसे बुरी होती है। कदाचित् इसीलिए वैदिक ऋषि ने कामना की थी 'अभयं मित्राद् अभयं अमित्रात्' मित्र से अभय हो और अभय बड़ी चीज़ है। बिना इसे प्राप्त किये 'मुड़कट्ट' का भगाना तो दूर देवदारु की लकड़ी भी पकड़ने की शक्ति नहीं रह जाती। और जानी हुई बात है कि जब लकड़ी पकड़ने की भी शक्ति नहीं रह जाती तो आदमी ज़मीन पकड़ लेता है। शक्ति की पूजा सनातन काल से होती आ रही है। देवदारु जैसा उन्नत होकर जो मस्ती में झूम नहीं सकेगा और जिसमें विपत्तियों के असंख्य थपेड़ों को सह सकने की शक्ति देवदारु-जैसी यदि नहीं होती तो वह 'भूत-भगावन' कला में सिद्ध नहीं हो सकता। कोरी 'फचफची गायत्री' से काम नहीं चलेगा। इससे मुड़कट्टों की भीड़ बढ़ती जायेगी।

सबका दुलरुआ बन जाना बड़ा बात नहीं है क्योंकि तब आदमी खिलौना बन जाता है। बड़ी बात है देवदारु की तरह नीचे न उतरना, हर बहतू हवा के साथ समझौता न करना। हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'देवदारु' शीर्षक निबंध की अंतिम पंक्तियाँ बड़ी अर्थपूर्ण हैं—'देवदारु के बारंबार कंपित होते रहने में एक प्रकार की मस्ती अवश्य है। युग-युगांतर की संचित अनुभूति ने ही मानो यह मस्ती प्रदान की है। ज़माना बदलता रहा है, अनेक वृक्षों और लताओं ने वातावरण से समझौता किया है, कितने ही मैदानों में जा बसे है और खासी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, लेकिन देवदारु है कि नीचे नहीं उतरा, समझौते के रास्ते नहीं गया और उसने अपनी खानदानी चाल नहीं छोड़ी। झूमता है तो ऐसा मुसकराता हुआ मानो कह रहा हो, मैं सब जानता हूँ, सब समझता हूँ, तुम्हारे करिश्मे मुझे मालूम हैं—मुझसे तुम क्या छिपा सकते हो—'मोंते दुरैहो कहा सजनी निहुरे-निहुरे कहुं ऊंट की चोरी!' हजारों वर्ष के उतार-चढ़ाव का ऐसा निर्मम साक्षी दुर्लभ है।'

आज एड़ी अलगाकर ऊंचे बनने की कोशिश में हम कितने हास्यास्पद बनते जा रहे हैं और नीचे रास्ते से ऊंच भूमि पाने की हमारी—महत्वाकांक्षा हमें कितनी बदरूप और

हिंदी गद्य विवेचना

कमजोर बनाती जा रही है, यह कहने की बात नहीं है। कहना तो यह है कि आज देश के नेता-कलाकार और पंडितों ने अपनी सही ज़मीन छोड़कर दरबारी गंध से समझौता कर लिया है, अपनी खानदानी चाल छोड़कर नीचे उतर आये हैं और नयी चाल का अभ्यास गुरु कर दिया है और कुछ धरती छोड़कर आकाश में उड़ने लगे हैं, शायद इसीलिए युग की विसंगति पर चोट करने की उनकी शक्ति शेष हो चुकी है और इतना ही नहीं इन्हें विदेशी विचार-कलम को अपना मूल उत्स मानने में गौरव-बोध होने लगा है। स्वाभाविक रूप से वाणी ऐसी निकलने लगी है जिसका अर्थ किसी को न लगे! जिसकी वाणी उसी का अर्थ! द्विवेदी कहते हैं 'पागल का लगना एक का लगना होता है—कवि का लगना सबको लगने लगता है' अर्थात् 'जिसका लगना सबको लगे वह कवि है, जिसका लगना सिर्फ उरो ही लगे और को नहीं, वह पागल है।' पागलों की संख्या आज बढ़ रही है। लेकिन जब पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी—जैसे चिंतक-लेखक हैं तो एक भरोसा है कि भारत में अभी देवदारु जीवित है, हजारों वर्ष की भारतीय परंपरा का गवाह जीवित है और 'अशोक के फूल' हैं जो संकेत देते हैं कि 'स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होती।'

संदर्भ :

1. द्विवेदी जी ने एक बार मुझसे कहा था कि नियमों का प्रतिबंध मुझे मान्य नहीं है, अपने तर्क में एक अनार्किस्ट हूँ इसी प्रकार ज्येष्ठ बूढ़े का पैर छूते और दुर्गा मन्दिर के सामने माथा नबाते मैंने उन्हें देखा है।
2. मेरे गांव-जवार में मड़कट्टा को मड़कटवा कहते हैं। यानी कटे मूड़वाला और मूड़-काट लेनेवाला भूत। ऐसी एक धारणा है। द्विवेदी जी के गाँव के निकट ही मेरा गांव है, इसलिए मुड़कटवा और मुड़कट्टा दो नहीं, एक है।

3. निबंधों में द्विवेदी जी का व्यक्तित्व त्रिलोचन पाण्डेय

'व्यक्तित्व' शब्द का उच्चारण करते ही हमारे मानस पटल पर एक झिलमिलाते नयनोन्मीलन करने वाले किसी आकर्षक स्वरूप की धुँधली सी आकृति प्रतिबिंबित हो उठती है। यह संभवतः इस कारण हो सकता है कि कोई महापुरुष किसी महान् साधना या कृतित्व का धनी होता है और उसका संपूर्ण व्यक्तित्व इसी कृतित्व का पर्याय बन जाता है। उसके कृतित्व में व्यक्तित्व समा जाता है। इसी कारण एक समान विधा की दो सर्जनात्मक कृतियों में रचनागत वैशिष्ट्य पाया जाता है। यहां पर हम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के कुछ निबन्धों को ध्यान में रखते हुए उनके व्यक्तित्व की एकाधिक झाकियाँ देख सकते हैं।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्व नैसर्गिक सौन्दर्य के प्रति सहज आकर्षित हो उठता था। वे अपने आचार्यत्व और वैदुष्य के लिए तो प्रख्यात थे ही, प्रकृति के प्रति उनकी अनुरक्ति भी दर्शनीय थी। अशोक, केदार और शिरीष पुष्प उन्हें विशेष रूप से आकर्षित करते थे। उनके एक प्रसिद्ध निबंध संग्रह का नाम ही 'अशोक के फूल' है। वे प्रकृति को समवेत रूप से चित्रित करते करते अन्ततः उसके अंग-प्रत्यंगों की व्याख्या तक करने लगते थे जैसा कि 'वसन्त आ गया है' शीर्षक निबंध की इन पंक्तियों से ज्ञात होगा : 'जिस स्थान पर बैठकर लिख रहा हूँ, उसके आस-पास कुछ थोड़े से पेड़ हैं। एक शिरीष है, जिस पर लम्बी-लम्बी सूखी छिम्मियाँ अभी लटकी हुई हैं। पत्ते कुछ झड़ गए हैं और कुछ झड़ने के रास्ते में हैं।'

द्विवेदी जी मूलतः ज्योतिष के आचार्य थे। ज्योतिष का प्रमुख उद्देश्य शुभ-अशुभ, शकुन-अपशकुन और भविष्यकालिक स्थितियों में ग्रहदशाओं आदि का परिज्ञान करना होता है। इस संबंध में वे कहीं पर प्राचीन विश्वासों की तर्क सम्मत पुष्टि करते हैं, कहीं पुराण पंथियों पर हँसते हैं, कहीं सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में आचार विचारों की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार के निबंधों में उनके व्यक्तित्व का वह अंश उभरता है जो निरंतर गतिशील है, जो निरंतर प्राचीन मान्यताओं को समय की शिला पर कसना चाहता है।

हिंदी गद्य विवेचना

इसी कारण यदि वे एक स्वर से पाखंडी हस्तरेखा विशारदों को झकझोरते हैं तो दूसरे स्वर से प्राचीन रीति रिवाजों का इतिहास बतलाने लगते हैं। उनका निबंध 'नया वर्ष आ गया' इस दृष्टि से पठनीय है।

उनका इतिहास बोध बड़ा जाग्रत था। उनकी जितनी पैठ साहित्य और संस्कृति में थी, प्रायः उतनी ही जातीय इतिहास में थी। किसी तथ्य को उपस्थित करते समय वे उसका ऐतिहासिक साक्ष्य अवश्य प्रस्तुत करते थे। अशोक के फूल का इतिहास स्पष्ट करते हुए तत्संबंधी निबंध में लिखते हैं "ईसवीं सन् के आरंभ के आस पास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों के परिचित यक्षों और गंधर्वों ने भारतीय धर्म साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था।"

द्विवेदी जी सौन्दर्य प्रेमी व्यक्ति थे। सौंदर्य के प्रति सहज आकर्षण जैसे तो मानव मात्र का गुण है, किंतु द्विवेदी जी ने उसे एक जीवन मूल्य के रूप में ग्रहण किया था। उदाहरणार्थ, ये पत्र पुष्पों की विकासमान प्रकृति को नारी जीवन के अलंकारों से मिलाकर देखते हुए कहते हैं— "सुंदरियों के आसिजनकारी नूपुर वाले चरणों के मृदु आघात से वह (अशोक) फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौ गुना बढ़ा देता था।" इन पंक्तियों का पदलालित्य उनके ललित व्यक्तित्व का ही परिचय कराता है।

द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की एक और विशेषता थी। वे किसी देश की संस्कृति को संपूर्ण मानवता की आधार शिला स्वीकार करते थे। उन्हीं के शब्दों में "संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है।" इसके विस्तृत स्वरूप की व्याख्या करते हुए 'भारतीय संस्कृति की देन' शीर्षक निबंध में उन्होंने लिखा है— "मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है।" इस प्रकार के विचारों से यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि वे कितने व्यापक धरातल पर सोचते थे और उनका व्यक्तित्व कितना विशाल था।

समाज साहित्य और संस्कृति का चिंतन करते करते जब द्विवेदी जी कभी अन्तर्मुखी हो उठते थे तो उनकी भाषा-शैली अधिक वस्तुन्मुखी एवं विश्लेषण प्रधान हो जाती है। कबीर पर विचार करते हुए वे लिखते हैं "मैं ज्यों-ज्यों कबीर पंथी साहित्य का अध्ययन करता गया त्यों त्यों यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती गई कि इर्द-गिर्द की सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव बड़ा जबरदस्त साबित हुआ।"

समाज की आर्थिक विषमता पर विचार करते हुए वे कलकत्ता के चिड़ियाघर को नहीं भूलते, मानव के आदर्शों का निरूपण करते हुए वे अपनी जन्म-भूमि का भी स्मरण करते

निबंधों में द्विवेदीजी का व्यक्तित्व

चलते हैं। चिंतन की गंभीरता उनमें निरंतर बनी रहती है, उनके व्यक्तित्व की गरिमा वहाँ विशेष रूप से उद्भासित होती है जहाँ वे व्यष्टि की सीमाओं से परे समष्टि की बात कहते हैं। तब मानवमात्र के प्रति उनके स्वस्थ चिंतन का शिवात्मक एवं उदात्त रूप प्रकट होता है। भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार करते समय इसी कारण वे मनुष्य मात्र की मंगल कामना से प्रेरित हुए हैं, उनके मतानुसार 'जब हम मिलन के प्रश्न पर विचार करते हैं तो हमारा उद्देश्य ऐसे मिलन से है, जिससे समूची मनुष्यता कल्याण की ओर अग्रसर हो सके।'

वे उपलब्धि की अपेक्षा साधना पर जोर देने वाले व्यक्ति थे और मनुष्य को ही साहित्य का एक मात्र लक्ष्य घोषित करते थे। उनका स्पष्ट दृष्टिकोण था कि साधन की अल्पता से कोई महती इच्छा नहीं रुकती। अगर मनुष्य में भूख हो तो खाद्य सामग्री जुट ही जाती है। मनुष्य की समानता पर जोर देकर वे कहते थे कि उसके सुख दुख को समझना, उसे मनुष्यता के आसन पर बैठाना हमारा परम कर्तव्य है। उनके व्यक्तित्व का यह मानवीय पक्ष एकाधिक निबंधों में उजागर हुआ है।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्व सांस्कृतिक आदर्शों से निर्मित होते हुए भी समकालीन जीवन-मूल्यों से अनुप्राणित था। इस कारण उनका समग्र चिंतन आधुनिक समस्याओं का समाधान खोजने की दिशा में अग्रसर हुआ। उन्होंने भारत में रहने वाली दो प्रमुख जातियों हिंदू और मुसलमान को एक होकर चलने का आह्वान किया। उनके मतानुसार 'भारतमाता' नाम तभी सार्थक हो सकता है जब ये दोनों जातियाँ एक होकर कार्य करें। इन्हीं जातियों के साथ वे भारतवर्ष की राष्ट्रीय कल्पना करते समय करोड़ों दलित तथा मूक जनता को भी सम्मिलित करते हैं। 'प्रायश्चित की घड़ी' में उन्होंने लिखा है 'भारतवर्ष क्या? हमें इस बात को अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि भारतवर्ष उन करोड़ों दलित और मूक जनता से अभिन्न है, जिन्हें छूने से भी पाप अनुभव किया जाता है।'

आचार्य जी का व्यक्तित्व भारतीय साहित्य और संस्कृति की पृष्ठभूमि में पल्लवित हुआ था। वे आपादमस्तक भारतीय संस्कृति में मग्न थे। इसलिए कहीं-कहीं उनके निबंधों में ऐसे विचार मिलते हैं जिनकी ओर सहसा दृष्टि नहीं जाती। इस प्रकार के निबंध एवं मान्यताएँ उनके व्यक्ति-वैशिष्ट्य की द्योतक हैं। उदाहरणार्थ, उनका एक निबंध है 'आपने मेरी रचना पढ़ी।' इसमें रहस्यवादी कवियों पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है 'बहुत परिश्रम के बाद मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि हिंदी में वस्तुतः रहस्यवादी कवि हैं ही नहीं। यदि कोई रहस्यवादी कहा जा सकता है तो वह निश्चय ही एक श्रेणी का आलोचक है। जहाँ तक हिंदी बोलने वालों का संबंध है, रहस्यवादी साधु और फकीर तो बहुत हैं पर वे साधना की दुनियाँ के जीव हैं, साहित्य की दुनियाँ में रहस्यवादी जीव यदि कोई है तो वे निश्चय ही एक तरह के आलोचक हैं।' इसी प्रकार 'साहित्यकारों का दायित्व' शीर्षक

हिंदी गद्य विवेचना

निबंध में उन्होंने साहित्य का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए अपना मंतव्य प्रकट किया है। 'साहित्य, जो मनुष्य मात्र की मंगल भावना से लिखा गया हो और जीवन के प्रति एक सुप्रतिष्ठित दृष्टि पर आधारित हो...मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नहीं लगती।'

द्विवेदी जी ने अपना जीवन एक अध्यापक की हैसियत से प्रारंभ किया था और अपने जीवन के अन्त तक वे अध्यापक बने रहे। आदर्श अध्यापक वही होता है जो स्वयं जीवन का भला बुरा सभी कुछ ग्रहण करता है, किन्तु उसके बदले समाज को भला ही अर्पित करता है, द्विवेदी जी की मान्यताएँ शांति-निकेतन के पुनीत वातावरण में संपुष्ट हुई थीं। उनका व्यक्तित्व गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन के संपर्क में निखरा था। अतः अध्यापक की सीमार्ये भी वे अच्छी तरह जानते थे। इस कारण उनके निबंधों में अध्यापक जीवन संबंधी उद्गार भी प्रकट हुए हैं जो दूसरों को स्वानुभव जैसे प्रतीत होते हैं। आत्मस्वीकारोक्ति के ऐसे ही कुछ क्षणों में उन्होंने लिखा होगा। 'अध्यापक जीवन का एक बड़ा भारी अभिशाप यह है कि आपको ऐसी सैकड़ों बातों को पढ़ना पढ़ाना पड़ेगा जिसे आप न तो हृदय से स्वीकार करते हैं और न साहित्य के लिए हितकर मानते हैं।... मैं उस विकृत मानसिक द्वन्द्व की ओर इशारा करना चाहता हूँ जिसको अध्यापक अपनी इच्छा और रुचि के विरुद्ध भी ढोता रहता है।'

आचार्य जी के निबंध चाहे मध्यकलीन धर्म साधना पर लिखे गए हों, य प्रेमचन्द की समाहार शक्ति का व्याख्यान करते हों, वे चाहे कालिदास की लालित्य योजना पर विचार करते हों, या हार जोड़ने की माया जैसे सामान्य विषयों पर कुछ कह जाते हों—सर्वत्र उनके निबंधों में एक निराली मस्ती, एक फक्कड़पन लक्षित होता है। चिन्तन और तर्जन की यह मुद्रा यह भंगिमा जो 'चले हमारे साथ' की पहचान कराती हो, मालूम नहीं उन्होंने कहाँ से अर्जित की। इसके मूल में उनके निर्गुण कवियों का अध्ययन हो सकता है, बंगाल के सन्तों भक्तों का प्रभाव हो सकता है, अथवा स्वयं उनकी अपनी जन्मभूमि का खाद-पानी हो सकता है जो हमेशा क्रांतिकारी विचारकों को जन्म देने के लिए प्रसिद्ध रहा है। कारण चाहे जो भी हो विचार और व्यक्तित्व का ऐसा सह भाव बहुत कम निबन्धकारों में देखने को मिलता है। और द्विवेदी जी के निराले व्यक्तित्व ने लालित्य की जिस शैली को साहित्य में प्रतिष्ठित कराया, वह तो अनुसंधान का एक स्वतंत्र विषय है।

4 . व्यंगकार : हरिशंकर परसाई भीष्म साहनी

सामाजिक जीवन में तरह-तरह के दौर आते रहते हैं और हर दौर का अपना साहित्य होता है जिस पर उस दौर की छाप होती है। एक ऐसा दौर भी होता है जब व्यापक स्तर पर समाज के लाखों-लाख सदस्य किसी महा ध्येय से अनुप्राणित होने लगते हैं, जब एक नई उमंग दिलों में हिलोरे लेने लगती है, तब वायु-मंडल में वह ध्येय-व्याप-सा रहा होता है और उसकी अनुगूँज हर दिल में सुनाई देती है। वे बड़ी-बड़ी कुर्बानियों के दिन होते हैं, विकट संघर्ष में भी हँस-हँसकर आत्म-बलिदान करने के दिन, कुछ कर गुजरने के दिन, जब दृष्टि-क्षेत्र के सामने जीवन के प्रसार खुलते जाते हैं और लगता है, कुछ भी असंभव नहीं। हमारे देश में आजादी के पहले का काल कुछ ऐसा ही काल था। कुरीतियाँ, भ्रष्टाचार, विसंगतियाँ उस काल में थीं, लेकिन उस ध्येय के सामने सब गौण जान पड़ता था, ध्येय सर्वोपरि था और लगता था, ध्येय की प्राप्ति पर समाज की सब विसंगतियाँ दूर हो जाएँगी। यह ऐसी ही स्थिति होती है जब युद्ध में जूझता हुआ कोई देश आत्मविश्वास ग्रहण कर ले। ऐसे काल में साहित्य को जन्म देने वाली भावना तथा दृष्टि व्यंग्यात्मक नहीं होती।

पर जब समाज में संघर्ष थम जाए, जब सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन एक जगह पर ठहर जाए, व्यवस्था अपनी जगह पर स्थिर और निश्चेष्ट हो जाए, जब समाज के कर्णधार सत्ता की बागडोर संभालकर संतुष्ट हो जाएँ और अपनी जगह पर जमकर बैठ जाएँ, जब विकास के स्थान पर गतिरोध आने लगे और तहरे हुए जल की सतह पर काई जमने लगे और उसमें से सड़ाँध उठने लगे और लोगों के दिलों में बलवले भरने लगे, जहाँ दृष्टि की विशालता थी, वहाँ तंग-नज़री आ जाए और स्वार्थ और धनलोलुपता और कुर्सी के मोह के इर्द-गिर्द सभी ध्येय लोट-लोट जाएँ, उस वक्त संवेदनशील लेखक व्यंग्य का नशतर लेकर सामने आता है और समाज के जीवन में पाए जाने वाले नासूरों की चीर-फाड़ करने लगता है।

हिंदी गद्य विवेचना

परसाई जी हमारे साहित्य में इसी काल में उभरे हैं। उन्होंने पहला दौर भी देखा है और उसके स्थान पर दूसरे दौर को भी जड़ जमाते देखा है। उन्होंने ध्येय पर मर-मिटने वाले दिन भी देखे हैं और मोह-भंग की यातना-भरे दिन भी देखे हैं। वे दिन भी जब देश के लाखों-लाख लोग साझे ध्येय से अनुप्राणित विदेशी शासन से जूझ रहे थे, फिर वे दिन भी जब आजादी मिलने के बाद, कलम के एक झटके से, इन लाखों-लाख लोगों को मात्र दर्शक बना दिया गया था और राष्ट्रीय जीवन के निर्माण की सभी भूमिकाओं में से अलग कर दिया गया था। प्रशासन और संचालन की बागडोर सरकार के हाथ में आ गयी थी, वही योजनाएँ बनाती थी, वही उनकी क्रियाचिती को भी सँभाले हुए थी। अफसरशाही फिर नमूदार हो गई थी, जनसाधारण को मक्खन में से निकाले गए बाल की तरह, राष्ट्रीय जीवन में से अलग कर दिया गया था। उसके लिए धीरे-धीरे, राष्ट्र-निर्माण दूर-पार की चीज़ बन गया। वह पहले हैरान हुआ, फिर उदासीन और उसके बाद उसके सभी मोह भंग होने लगे। इतना ही नहीं, राजनीतिक जीवन में से धीरे-धीरे सभी निःस्वार्थ सेवी, जैसे बुहारकर बाहर निकाल दिए जाने लगे और उनकी जगह पर तिकड़मी, स्वार्थी, चालाक सियासतदानों ने अड़्डा जमा लिया। तब राष्ट्र निर्माण के स्थान पर लायसेंसों, कोटों, बड़े-बड़े ठेकों की चर्चा होने लगी और स्वयं सियासतदान उनके लिए हाथ फैलाने लगे। पाखंड का नंगा नाच चारों ओर दिखाई पड़ने लगा। काला बाज़ार गर्म हुआ, भ्रष्टाचार फैला और गरीबों की बस्तियों में से खद्दरधारी मंत्रियों की विलायती मोटरें फर्कटे से भागने लगीं।

यह मोह भंग का काल था जब कथनी और करनी के बीच का अंतर उत्तरोत्तर बढ़ने लगा था। अतीत के सपने वर्तमान के यथार्थ पर चूर-चूर होने लगे थे। सियासतदानों और सत्ताधारियों की बातों पर से विश्वास उठने-लगा था।

इस तरह के माहौल में कौन-सा परसाई चुप रहेगा? व्यंग्य सीधा पाखंड पर प्रहार करता है। व्यंग्य का मूल विषय ही पाखंड होता है। ऐसे समय में जब सामान्य लेखक किसी हद तक अपने भावनालोक में बसता है, वहाँ व्यंग्य-लेखक सीधा समाज के अखाड़े में उतर आता है। उसे इस बात की परवाह नहीं रहती कि वह निबंध लिख रहा है या कहानी या डायरी, उसे केवल इस बात की परवाह रहती है कि उसकी रचना वार करती है या नहीं और उसका वार निशाने पर बैठता है या नहीं। सामाजिक जीवन की विसंगतियाँ और अंतर्विरोध उसकी कलम के विषय बनते हैं। व्यंग्यकार सुखद भावनाओं के धुंधलके में नहीं बसता, वह यथार्थ के कठोर घसतल पर खड़ा रहता है। पाखंड दोमुँहापन, भ्रष्टाचार का भंडाभोड़ करता है। कुछ व्यंग्यकार मात्र मनुष्य स्वभाव की सनकों, अटपटे व्यवहार और रहन-सहन के तौर-तरीकों का मजाक उड़ाते हैं, पर ऐसे व्यंग्य सतही से बने रहते हैं,

व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई

जबकि परसाई जी के व्यंग्य समाज के मर्म को छूते हैं, सामाजिक जीवन की मूल विसंगतियों को सामने लाते हैं।

परसाई जी के एक निबंध में भगवत् भजन करने वाला एक वैष्णव, सेठिया बन जाता है। पहले पैसा सूद पर कर्ज देता है, फिर ढेरों पैसे जमा कर लेने पर होटल चलाता है, होटल में पहले सभी निवासियों को वैष्णव भोजन मिलता है, फिर धीरे-धीरे वहाँ माँस, मछली पकने लगती है, फिर शराब आती है, कैबरे होने लगता है और फिर 'गर्म माल' भी मिलने लगता है। हर कदम पर वैष्णव अपने इष्टदेव से पूछने जाता है कि अब क्या करूँ और हर बार ही उसकी अंतरात्मा प्रस्तावित सुझाव को शास्त्रसम्मत बताती है और इस तरह वह माँग आती है तो वैष्णव की शुद्ध आंतरिक आवाज़ यह कहकर उसे संतुष्ट कर देती है— 'मूर्ख, यह तो प्रकृति और पुरुष का संयोग है इसमें पाप क्या और पुण्य क्या।' इस तरह वह धर्म को धंधे के साथ सफलतापूर्वक जोड़ देता है।

एक अन्य निबंध में बुद्धिजीवियों की एक सभा देश की दुर्दशा पर विचार करती है। संयोजकों का विचार है कि देश की जितनी अधिक दुर्दशा होगी, उतनी ही बढ़िया मंच पर से तकरीरें झाड़ी जा सकेंगी। जलसा बड़ा सफल रहता है, संयोजक संतुष्ट हैं, सचमुच बहुत बढ़िया भाषण दिए गए।

एक अन्य निबंध में एक चोर बाजारिया पकड़ा लिया जाता है। फैसला होता है कि दूसरे दिन प्रातः उसे एक खंभे पर से लटकाकर फाँसी दे दी जायेगी, पर दूसरे दिन जब फाँसी का वक्त आता है तो खंभा ही गायब है, पता चलता है कि रातों-रात खंभा चोर बाज़ार में पहुँच गया है।

कहीं घटना द्वारा तो कहीं अपने अनूठे तर्ज-ए-बयान से सामाजिक जीवन की विसंगतियाँ उखाड़ दी जाती हैं। एक निबंध इस तरह शुरू होता है—

"हे सखि, नल के मैले पानी में केंचुए और मेंढक आने लगे। लगता है सुहावनी, मन भावनी वर्षा ऋतु आ गयी।"

एक और निबंध में एक आदमी इस बात पर लज्जित है कि वह थोड़ा मुटिया गया है और उसकी शेरवानी उसे तंग पड़ने लगी है। सभी से माफी माँगता फिरता है।

"मेरे देशवासियों, मुझ बेशर्म को माफ करना। भारत माता, क्षमा करना। तेरा यह कपूत मोटा हो गया। मैं तीसरी पंचवर्षीय योजना का एक झूठा आँकड़ा हूँ, जो तुम्हें धोखा दे रहा हूँ। मंत्री महोदय, माफ करना, तुम्हारी खाद्य व्यवस्था के बावजूद मैं मोटा हो गया। वर्तमान और भूतपूर्व अर्थ-मंत्रियों, तुम्हें मुँह दिखाने के काबिल नहीं रहा। मैं पिछले पंद्रह वर्षों की उलझी अर्थनीति और खाद्य नीति के प्रति अपराधी हूँ।"

हिंदी गद्य विवेचना

यथार्थ की कसौटी पर खरा उतरकर ही व्यंग्य प्रभावशाली बनता है और परसाई जी के निबंधों-कहानियों में वही खरापन झलकता है।

मोह-भंग की एक स्थिति वह होती है, जब टूटती सामाजिक मर्यादाओं के साथ व्यंग्यकार का विश्वास मनुष्य मात्र पर से ही टूटने लगता है, जिंदगी बेमानी नज़र आने लगती है, पर जहाँ टूटती मर्यादाओं को देखने वाला व्यंग्यकार उनके पीछे काम करने वाली कारक-शक्तियों के प्रति सचेत हो और वांछित विकल्प को भी जानता-समझता हो कि समाज को किस ओर जाना चाहिए। वहाँ उसके व्यंग्य में कटुता नहीं बल्कि मानवीय सद्भावना अधिक देखने को मिलती है, बल्कि मानवीय सद्भावनाओं से ही उसे अपनी व्यंग्य-रचनाओं के लिए प्रेरणा मिलती है। परसाई जी की रचनाओं को पढ़ते हुए ऐसा नहीं लगता कि हमारा देश ही गिरा हुआ देश है, हमारा राष्ट्रीय चरित्र ही गिरा हुआ है, इसका उद्धार हो ही नहीं सकता, या कि सभी सियासतदान स्वार्थी और भ्रष्ट हैं, किसी पर विश्वास नहीं किया जा सकता। परसाई जी के व्यंग्य की श्रेष्ठता इसी बात में है कि जीवन पर उनका विश्वास अडिग और गहरा है। सामान्य जन की क्षमताओं, उनकी ईमानदारी और मानवीय मूल्यों पर उनका विश्वास उनकी चेतना में समाया हुआ है। पाखंड पर वही आदमी चोट कर सकता है जिसे पाखंड परेशान करता हो। कहीं पर भी उनकी रचनाओं में ऐसी ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती कि ऐसा तो चलता ही रहता है, आगे भी चलता रहेगा। जीवन में गहरी आस्था रखने वाले लोग ही सार्थक व्यंग्य लिख सकते हैं, नहीं तो उनके व्यंग्य में कटुता आ जाती, उच्छृंखलता और सस्तापन आ जाता।

परसाई जी के व्यंग्य विनोदपूर्ण हैं, वह भी इसलिए कि जिन विसंगतियों पर वह चोट करते हैं, उन्हें वह असाध्य नहीं मानते। स्वार्थी, भ्रष्ट लोगों की भौंडी हरकतों पर, लगता है, वह हँस रहे हैं, क्योंकि उन्हें विश्वास है कि इन लोगों की भूमिका समाज में स्थायी नहीं है, ये उत्तरोत्तर असंगत होते जा रहे हैं, ये मानवीय मूल्यों की ज़मीन पर से उखड़े हुए लोग हैं, जिन्हें समाज की स्वस्थ मान्यताएँ स्वीकार नहीं करेंगी। इसी कारण उनकी रचनाओं पर एक प्रकार की लौ-सी छिटकी रहती है और एक तरह की सादगी और खरापन भी। इसी कारण कहीं-कहीं पर हम द्रवित भी हो उठते हैं, उन लोगों की स्थिति को देखते हुए जो सत्ताधारियों और अवसरवादियों के पाखंड का शिकार बनते हैं, जिन विडंबनाओं पर परसाई जी चोट करते हैं, उन्हें उनका मस्तिष्क जितने पैसे ढंग से देखता-परखता है, उतनी ही गहराई से उनका दिल भी उन्हें महसूस करता है। उनकी हँसी क्रुद्ध हँसी नहीं है, उसकी तह में करुणा की अंतर्धारा बहती रहती है।

कहने को तो परसाई जी की रचनाओं को हम व्यंग्यात्मक निबंधों का नाम देते हैं, लेकिन वास्तव में वे कहानी के घेरे में भी आसानी से आ जाती है, उनकी अनेक रचनाओं का गठन कहानी जैसा ही है और उन्हें पढ़ते समय कहानी का ही रस भी हमें मिलता है।

सामान्यतः यथार्थ की ज़मीन पर चलते हुए, परसाई जी सहसा एक उड़ान-सी भर जाते हैं, कल्पना की खूबसूरत उड़ान जो एक ओर उनके व्यंग्य को पैना और महत्वपूर्ण बना देती है, दूसरी ओर उनकी रचना को अधिक कलात्मक बना देती है। एक रचना में किसी वयोवृद्ध क्लर्क की मौत हो जाती है, लेकिन पता चलता है कि उसकी आत्मा न तो स्वर्ग में पहुँची है, न नरक में, आखिर गई तो कहाँ गयी? पता चलता है कि वह क्लर्क के दफ्तर में उसके प्रोविडेंट फंड वाली फाइल में अटकी रह गयी है। इस तरह, मूलतः तर्क के क्षेत्र में विचरते हुए भी, परसाई जी के व्यंग्य को भावना और कल्पना दोनों ही अपनी-अपनी तरह से सींचते रहते हैं। क्लर्क की आत्मा का फाइल में अटके रह जाना जहाँ व्यंग्यपूर्ण है, वह गहरे में दिल को छूता भी है, क्लर्क की बेबसी की ओर बड़ा हृदय-विदारक संकेत भी करता है।

एक जगह पर परसाईजी ने लिखा है : 'दर्शन को चिंतन से जोड़ना जरूरी होता है। अनुभव बेकार होता है यदि उसका अर्थ न खोजा जाए, उसका विश्लेषण न किया जाए, और तार्किक निष्कर्ष न निकाला जाय। इसके बिना अनुभव केवल घटना बनकर रह जाता है वह रचनात्मक चेतना का अंग नहीं बन पाता।'

बेशक व्यंग्य-लेखक का ध्यान समाज के नकारात्मक पक्ष की ओर ज्यादा रहता है, भौंडे, पाखंडी, उचक्के, स्वार्थी लोगों पर व्यंग्यकार की नज़र ज्यादा रहती है। संघर्षरत लोगों का सकारात्मक जीवन उनकी रचनाओं का विषय नहीं बनता, लेकिन जीवन का सकारात्मक पक्ष जिसके बल पर देश आगे बढ़ते हैं और राष्ट्रीय जीवन तथा व्यक्तिगत जीवन में सार्थकता आती है, इस नकारात्मक पक्ष से अलग भी नहीं होता। वास्तव में उस सकारात्मक पक्ष के बोध से ही परसाई जी के व्यंग्य तीखे बन पाते हैं और उनमें सार्थकता आती है, उसी की प्रेरणा से वह समाज के रुग्ण और जीर्ण तत्वों का सफलता से भंडाफोड़ करते हैं।

फिलस्तीन की एक कवयित्री को इसराइली अधिकारियों ने जेल में बंद करते समय कहा कि उस कवयित्री की एक-एक कविता एक फौजी ब्रिगेड के बराबर वार करती है। आज के हमारे विसंगतियों-भरे जीवन में परसाई जी की लेखनी भी पाखंड, अन्याय, अमानुषिकता पर वैसे ही सशक्त और पैने वार कर रही है। अपने देशवासियों को सामाजिक जीवन की विसंगतियों और अंतर्विरोधों के प्रति सचेत करना बड़े महत्व का काम है और इसे परसाई जी बड़ी खूबी से निभा रहे हैं। उनका व्यंग्य मनोविनोद का तथा पाठक को सचेत करने का ही अस्त्र नहीं, समाज की सही तस्वीर पेश करने वाला, संघर्ष की प्रेरणा देने वाला शक्तिशाली अस्त्र भी है।

5. गद्यकार महादेवी गंगाप्रसाद पांडेय

अब तक महादेवी ने अपनी करुण कोमल कविता से ही साहित्य में प्रवेश किया था। 'अतीत के चल-चित्र' उनकी प्रथम गद्य-पुस्तक है। रचना चाहे गद्य की हो, चाहे पद्य की, उसमें साहित्यकार के व्यक्तित्व का भाव अवश्य रहता है। साहित्यकार जो कुछ लिखता है, उस पर उसके अनुभवों, विचारों तथा मनोभावों की छाप उसी प्रकार रहती है, जिस प्रकार वस्तु की स्थिति के साथ उसकी छाया। यह छाया कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट होती है, किन्तु उसका अस्तित्व अमिट रहता है।

हिंदी-काव्य में महादेवी ने करुणा का जो श्रृंगार किया है, वह किसी दूसरे कवि से नहीं बन पड़ा। इसका यह मतलब नहीं कि करुणा अन्य कवियों में नहीं है, किन्तु वह उतनी मधुर तथा सुन्दर एवं आलोकमयी नहीं हो पायी, जितनी महादेवी के काव्य में। महादेवी के काव्य में करुणा करुण न होकर सरस सजल हो गयी है; क्योंकि बहिर्जगत में उन्होंने उसके व्यापक अस्तित्व की एक ऐसी आभा दिखा दी है, जो भावों तथा अभावों दोनों को अपनी समान सहानुभूति से सहज ही में बाँध देती है। यही उनके कवि की विशेषता है। अतीत के चलचित्र में भी हम इसी भाव-धारा का अविरल प्रवाह पाते हैं। स्वाभाविक भी यही है। कविता और कहानी, दोनों मानवता के प्रारंभिक साथी हैं, अंतर इतना है कि शिशु रूप से मनुष्य बिना किसी सार्थकता का ध्यान रखे हुए अपनी माँ से बोल उठता है - 'माँ कह एक कहानी'! किन्तु जीवन के संघर्ष में पड़कर वह जीवन की वास्तविकता का बोध कराने वाली कहानी से ही तुष्ट होता है। कवि और कहानीकार एक ही लोक के निवासी हैं; दोनों की क्रीड़ा-भूमि है, मानव जीवन। कवि यदि भावनाओं का गायक है तो कहानीकार उसका निरीक्षक। कहानीकार जिसका निर्माण करता है, कवि उसका उपयोग करता है। दोनों का उद्देश्य एक है - जीवन की मार्मिकता का संवेदनात्मक उद्घाटन। जिस प्रकार गीति कविता एक ही मानव की तन्मयता में सजीव हो उठती है, उसी प्रकार एक छोटी कहानी एक ही भावना के उन्मेष-क्षणों में अपना जीवन पा सकती है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि कवि और कहानीकार के सम्मिलन से जो साहित्य-सृष्टि होगी, वह मानव मात्र के लिए कल्याणकारी होगी। 'अतीत के चलचित्र' हिंदी साहित्य के लिए ऐसा

ही सुफल है। इसमें महादेवी जी की कुछ संस्मरणात्मक कहानियों का संग्रह है। इन कहानियों के विषय में लेखिका का यह वक्तव्य उल्लेखनीय है :

"समय-समय पर जिन व्यक्तियों के सम्पर्क ने मेरे चिन्तन को दिशा और समवेदन को गति दी है, उनके संस्मरणों का श्रेय जिसे मिलना चाहिए, उसके संबंध में कुछ विशेष नहीं बता सकती। कहानी एक युग पुरानी और करुणा से भीगी भी है। मेरे एक परिचित परिवार में, गृहस्वामिनी ने अपने एक वृद्ध सेवक को किसी तुच्छ-से अपराध पर निर्वासन का दण्ड दे डाला और फिर उनका अहंकार, उस अकारण दण्ड के लिए असंख्य बार माँगी गयी क्षमा का दान भी न दे सका। ऐसी स्थिति में वह दरिद्र, पर स्नेह में समृद्ध बूढ़ा कभी गेंदे के मुरझाये हुए फूल, कभी हथेली की गर्मी से पसीजे हुए चार बताशे और कभी मिट्टी का एक रंग-हीन खिलौना लिये अपने नन्हें प्रभुओं की प्रतीक्षा में पुल पर बैठ रहता था। नये नौकर के साथ घूमने जाते हुए बालकों को जब वह अपने तुच्छ उपहार देकर लौटता, तब उसकी आँखें गीली हो जाती थीं। सन् '30 में उस मृत्यु को देखकर मुझे अपना बचपन और उसे अपनी ममता से घेरे हुए रामा इस तरह स्मरण आये कि अतीत की अधूरी कथा लिखने के लिए मन आकुल हो उठा।"

बस इसी करुण घटना से इन कहानियों के जन्म को प्रेरणा मिली है। इस करुणा का महत्व सभी के लिए शायद अधिक बोधगम्य है, क्योंकि जब महादेवी का कवि गा उठता है कि :

"सजनि मैं उतनी करुण हूँ, करुण जितनी रात, "

तब वह अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों तथा भावनाओं से प्रेरित होता हुआ अपने प्रतिपाद्य को ढूँढ़ निकालता है, जिसका हमारे जीवन से उतना संबंध नहीं है, जितना उनके कहानीकार के अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों तथा रागों में पैठते हुए कुछ ढूँढ़ निकालने के वर्णन से। कवि तो भावना तथा कल्पना की भूमि से जीवन को देखता है और कहानीकार जीवन से भावना और कल्पना के लोक में पहुँचता है। इसलिए कहा जाता है कि काव्य का सत्य प्रत्यक्ष सत्य की ही कसौटी पर नहीं कसा जा सकता, क्योंकि उसमें वह सत्य भी निहित रहता है, जो संभवतः सत्य कहा जा सकता है। सत्य और सौंदर्य तो काव्य के आवश्यक उपादान हैं, किंतु उसके शिवत्व पर मतभेद है।

कहानी बिना यथार्थ की अनुरूपता प्राप्त किये संभवतः अपना विकास ही नहीं कर सकती और अपनी इस वास्तविकता के लिए वह जनसाधारण की भी पहुँच की वस्तु मानी जाती है। किसी भी साहित्य की सच्चाई और उसके व्यक्तित्व का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण उसका जीवन है। संस्मरणों में वह अपने-आप आ जाता है। अस्तु, अतीत के चलचित्र में हम महादेवी की

हिंदी गद्य विवेचना

कला की कमनीयता के साथ उनके जीवन की पवित्रता का भी सहज ही में बोध प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि ऐसी कला के भीतर कलाकार के आत्म-रूप की चेतना ही कला का स्वरूप निश्चित करती है।

कहानियों में यथार्थ की अनुरूपता आवश्यक है, किंतु यह भी जान लेना चाहिए कि जनसाधारण और साहित्यकार का यथार्थ एक नहीं होता, क्योंकि साहित्य-सृजन मनुष्य की सत् प्रवृत्तियों की प्रेरणा मात्र है। अतः यदि कला मनुष्य के अंतःकरण का सच्चा प्रतिबिम्ब है, तो अवश्य ही वह सत् की ओर प्रवृत्त होगी। सत्य से आत्मा का संबंध तीन प्रकार का माना गया है। एक जिज्ञासा का, दूसरा प्रयोजन का और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का लगाव दर्शन से, प्रयोजन का विज्ञान से तथा आनन्द का संबंध केवल साहित्य से है। सत्य जहाँ आनन्द का उद्रेक करता है, वहीं वह साहित्य की संज्ञा पा जाता है। कलाकार का यथार्थ भी इसी सत्य का समर्थक होता है।

महादेवी के संस्मरणों की यथार्थता को यदि स्वाभाविक कहा जाए तो अधिक अच्छा हो, क्यों उनके यथार्थ पर आदर्श उसी प्रकार स्थापित है जिस प्रकार पृथ्वी पर आकाश। कहानियों की यह करुणा एवं मनुष्यता की यह ममता, शरद बाबू ने प्रथम बार भारतीय साहित्य में सुलभ की थी। महादेवी ने अपनी समवेदना शक्ति से उसे एक नवीन गति दी है। इन सभी कहानियों में करुणा का एक अबाध स्रोत है, पीड़ितों और उपेक्षितों के प्रति हार्दिक समवेदना है, मनुष्यत्व को जगा देने की कामना है और है, विश्व-कल्याण की एक भावना। जगह-जगह उनका कवि अपनी समवेदना की सीमा पर खड़ा होकर जैसे गाने लगता है :

मधुर राग बन विश्व सुलाती,
सौरभ बन कण-कण बस जाती,
भरती है संसृति का क्रन्दन
हँस जर्जर जीवन अपने में!

उनके सभी संस्मरण एक निश्चित उद्देश्य एवं लक्ष्य को लेकर लिखे गये हैं, किंतु उनमें उपदेश की शुष्कता का आभास नहीं मिलता, वरन् उनके निर्णय को पाठक सहज ही में इस प्रकार ग्रहण कर लेता है, जैसे माँ के वचनों को एक शिशु। महादेवी की सभी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा जीवन के यथार्थ को स्पर्श करती हुई आगे बढ़ती हैं। उनमें कल्पना की मात्रा कम तथा अनुभूतियों का आधिक्य है और समाज की स्वार्थपरता पर एक आकुल आक्रोश भी है। 'सबिया' के प्रसंग को लेकर महादेवी का यह कथन उद्धरणीय है :

'पुरुष भी विचित्र है। वह अपने छोटे से छोटे सुख के लिए स्त्री को बड़े से बड़ा दुख दे डालता है और ऐसी निश्चितता से, मानों वह उसका प्राप्य ही दे रहा है। सभी कर्तव्यों को वह चीनी से ढकी कुनैन के समान मीठे रूप में ही चाहता है। जैसे ही कटुता का आभास मिला कि उसकी पहली प्रवृत्ति सब कुछ जहाँ का तहाँ पटक कर भाग खड़े होने की होती है।'

यह आक्रोश केवल नारी का पक्ष लेकर ही नहीं चलता, वरन् लेखिका ने अपनी निष्पक्षता के दृढ़ आधार पर नारियों के प्रति भी अपनी उदासीनता प्रसंग के अनुसार प्रकट की है। देहाती ननदों की निर्दयता का यह कितना मार्मिक दिग्दर्शन है - 'सब से कठिन दिन तब आते, जब वृद्ध सेठ की सौभाग्यवती पुत्री अपने नैहर आती थी। उसके चले जाने के बाद भाभी के दुर्बल गोरे हाथों पर जलने के लम्बे काले निशान और पैरों पर नीले दाग रह जाते थे।'

इस प्रकार समय और परिस्थिति के अनुकूल उनके सभी पात्र अपनी सारी सजीवता के साथ जीवन-यात्रा के पथ पर चलते दिखाई पड़ते हैं। महादेवी अपने उद्देश्य विषय की प्रेरणा से प्रभावित होकर उनके मार्ग में कोई कृत्रिम बाधा नहीं उपस्थित करतीं। उनके पास किसी सिद्धांत का नहीं, वरन् मनुष्यता का मापदण्ड है। कहानी की यही स्वाभाविकता जहाँ एक ओर उसकी सीमा बाँध देती है, वहाँ दूसरी ओर उसे साधारण जीवन के समीप भी रख देती है। कहानियों में कुछ व्यक्तियों के साथ कुछ ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं, जो हमारे दैनिक जीवन के समीप पड़ती हैं। सारांश यह कि कविता की भाँति कहानियों से हमें केवल काल्पनिक तथा बौद्धिक वृत्तियों की तृप्ति नहीं मिलती, अपितु उससे हम जीवन की पहेलियों का भी समाधान पाते हैं। कविता पढ़ कर हम सोचते हैं कि ऐसा हो सकता है और कहानियों में हम वह पाते हैं, जो होता है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि महादेवी की कहानियों का एक छोर कविता है तो दूसरा छोर जीवन और यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसी द्विमुखी साधना से वास्तविक जीवन के निम्न तथा उपेक्षित व्यक्तियों को लेकर उन्होंने जीवन का समय-सापेक्ष चतुर्दिक चित्र न लेकर भी केवल एक भावना से जीवन की घनीभूत मार्मिक वेदना को जिस प्रकार स्पर्श किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है।

संभवतः साहित्य, मन और स्वभाव की उपज है। इसलिए जिन बातों का प्रभाव मनुष्य के स्वभाव और मनुष्य के जीवन पर पड़ता है, उसका प्रभाव उसके साहित्य पर भी पड़ता है। साहित्यकार के जीवन को जानने के लिए उसका साहित्य काफी होता है, विशेषकर संस्मरणों में तो वह और स्पष्ट रहता है। एक शिशु की सहज स्पर्धा के साथ अपने शिशु रूप का कितना स्पष्ट चित्रण लेखिका ने उपस्थित किया है - 'इतना कष्ट सह कर भी दूसरों को राजत्व का अधिकारी मानना अपनी असमर्थता का ढिंढोरा पीटना था, इसीसे

हिंदी गद्य विवेचना

साम, दाम, दण्ड, भेद के द्वारा रामा को बाध्य कर देती कि वह केवल मुझे को राजा कहे। पिन-पिन करके रोना मुझे बहुत अपमानजनक लगता था।"

मैं तो कहूँगा कि जीवन की किसी भी जटिल परिस्थिति में इन पंक्तियों का आज भी वे समर्थन करेंगी, 'मेरी बुद्धि सहज ही पराजय स्वीकार करना नहीं जानती।' महादेवी के आत्मविश्वास की साधना ने ही आज के प्रगतिपंथियों की अनेक कटु आलोचनाएँ सुन कर भी उन्हें अपनी स्थिति में अटल रखा, अन्यथा इस तूफानी युग में कौन नहीं आत्म-विस्तृत हो गया? अपने पात्रों के रेखा-चित्र में तो वे इतनी चित्रोपमता ला देती है कि पात्र हमारे सामने प्रत्यक्ष सा खड़ा हो जाता है :

'रामा के संकीर्ण माथे पर खूब घनी भौंहें और छोटी-छोटी स्नेह-तरल आँखें किसी थके झुँझलाये शिल्पी की अंतिम भूल जैसी मोटी नाक, साँस के प्रवाह से फँले हुए से नथने मुक्त हँसी से भर कर फूले हुए से होंठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलाने वाली सघन और सफेद दन्तपंक्ति।' – यह है रामा का चित्र स्पष्ट और बोधगम्य।

एक पहाड़ी युवती का भी चित्र देखिए :

'धूप से झुलसा हुआ मुख ऐसा जान पड़ता है, जैसे किसी ने कच्चे सेब को आग की आँच पर पका लिया हो। सूखी-सूखी पलकों में तरल-तरल आँखें ऐसी लगती हैं, मानो नीचे आँसुओं के अथाह जल में तैर रही हो और ऊपर हँसी की धूप से सूख गयी हों। शीत सहते-सहते होठ पर फँली नीलिमा, सम दाँतों की सफेदी से और भी स्पष्ट हो जाती है। रात-दिन कठिन पत्थरों पर दौड़ते-दौड़ते पैरों में और घास काटते-काटते तथा लकड़ी तोड़ते-तोड़ते हाथों में जो कठिनता आ गयी है, उसे मिट्टी और गोबर की आदत कुछ कोमल कर देती है।'

बीच-बीच में विनोदमय व्यंग्यों की मार्मिकता और ध्वन्यात्मकता तो सीधे हृदय पर पहुँचती है :

'मनु महाराज जो कह गये हैं, उसे असत्य प्रमाणित कर कुम्भीपाक में विहार करने की इच्छा न हो, तो यह कहना ही पड़ेगा कि बिट्टो तीसरे विवाह की इच्छा हृदय के किसी निभृत कोने में छिपाये हुए है। और उसके उद्धार के लिए निरन्तर कटिबद्ध परोपकारियों की, इस पुण्य भूमि में और विशेषकर इस जागृत युग में, कमी नहीं हो सकती। फिर इतने विलाप-कुलाप की क्या आवश्यकता।

एक बार अपनी लम्बी अकर्मण्यता पर लज्जित हमारे हिंदू-मुस्लिम भाई वीरता की प्रतियोगिता में सक्रिय भाग ले रहे थे, तब।'

व्यक्ति, समाज तथा संसार की इतनी मीठी तथा मर्मस्पर्शी चुटकियाँ ली गई हैं कि एक बार पाठक का मन भी लेखक के साथ ही उन बातों पर तिलमिला उठता है। इन उपर्युक्त विश्लेषणों और उद्धरणों के आधार पर यह कहा जाता है कि महादेवी के संस्मरणों में जीवन का सत्य मनोवैज्ञानिक रहस्य, संघर्ष की समस्या तथा व्यापक जीवन की पूर्णता का संकेत बड़ी सरलता से उपलब्ध होता है, जो एक साहित्य-कृति की सार्थकता है।

आइए, हम सब भी अंधे-कुरूप अलोपी के प्रति महादेवी की मातृ-ममता के साथ अपनी ममता की अंजलि देकर विश्व के प्रति स्नेह-तरल हो लें :

"आज भी देहली की ओर देखते ही मेरी दृष्टि मानो एक छायामूर्ति में पुंजीभूत होने लगती है। फिर धीरे-धीरे उस छाया का मुख स्पष्ट हो चलता है। उसमें मुझे कच्चे काँच की गोलियों जैसी निष्प्रभ आँखें भी दिखाई पड़ती हैं और पिचके गालों पर सूखे आँसुओं की रेखा का आभास मिलने लगता है। तब मैं आँखें मल-मल कर सोचती हूँ, नियति के व्यंग्य जीवन और संसार के छल से मृत्यु पाने वाला अलोपी क्या मेरी ममता के लिए प्रेत होकर मँडराता रहेगा।"

महादेवी ने अपनी कहानियों के पात्रों का चुनाव प्रायः जीवन की अव्यवस्थित कुरूपता से ही किया है। मेहतरानी 'सबिया', मल्लाह का मलिन बालक घीसा', तरकारी बेचनेवाला 'अलोपी', गाँव का कुम्हार 'बदलू' आदि ही तो उनके कथानायक हैं। पात्रों का श्रृंगार और शारीरिक विन्यास भी उसी श्रेणी का है — 'एक दिन मास भर के शिशु नामधारी मांसपिंड को चीकट से कपड़े में लपेटे और अपनी नग्नता को मलिनता से ढाँकने वाली पांच वर्ष की बचिया को ऊंगली का सहारा दिये सबिया मेरे सामने आ उपस्थित हुई। उसका मुख चिकनी, काली मिट्टी से गढ़ा जान पड़ता था। पैर में मोटे-मोटे चमकहीन गिलट के कड़े उसे कैदी की स्थिति में डाल देते थे। कुछ कम चौड़े ललाट पर जुड़ी भौंहों के ऊपर लगी पीली काँच की टिकुली में जो श्रृंगार था, वह भटकटैय्या के फूल से घूरे के श्रृंगार का स्मरण दिलाता था।" बस, सभी पात्र सर्वथा इसी तरह से दीन-हीन हैं, किंतु महादेवी ने अपनी ममतामयी भावना से जो सौंदर्य उनके जीवन में देखा है, वह उन्हीं की प्रतिभा के अनुकूल है, क्योंकि उन्होंने लिखा भी है : 'वास्तव में जीवन सौंदर्य की आत्मा है, पर वह सामञ्जस्य की रेखाओं में जितनी मूर्तिमत्ता पाता है, उतनी विषमता में नहीं। जैसे-जैसे हम बाह्य रूपों की विविधता में उलझते जाते हैं, वैसे-वैसे उनके मूलगत जीवन को भूलते जाते हैं।' महादेवी ने सौंदर्य की स्थिति संपूर्ण जीवन में मानी, तभी तो उन्होंने पात्रों की बाह्य कुरूपता के आवरण को हटा कर उनके जीवन में अंतर्हित उस सौंदर्य को खोज निकाला है, जिसके फलस्वरूप वे पाठकों की समवेदना के

हिंदी गद्य विवेचना

द्वार से बराबर उनके हृदयों में झाँकते रहते हैं। उनकी कुरूपता उदासी की नहीं, वरन करुणा की अधिकारिणी बन जाती है। कलाकार की सृष्टि का यही आकर्षण है।

पीड़ितों के प्रति ममता, उपेक्षितों के प्रति उदारता, शोषितों के प्रति सहानुभूति, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सुझाव के साथ क्षमा आदि के अनुपम सम्मिश्रण से जिस साहित्य-सरिता का उद्गम होगा, वह युग-युग तक अपनी शीतलता से जीवन से थके-संतप्त हृदयों का सिंचन करती रहेगी, यह तो सभी मानेंगे।

इस पुस्तक में कवि, गद्यकार तथा आत्मकथाकार का संस्मरणात्मक समन्वय बड़े ही साधनात्मक ढंग से किया गया है। मानव-जीवन वास्तव में भावना, अनुभूति और संवेदना से सुगठित होकर ही अपना विकास पाता है। 'अतीत के चलचित्र' में जीवन की इसी दिशा का सफल संकेत है। संस्मरणों में अनुभव समय की विस्मृत व्यथा से सिक्त होकर सामने आते हैं, संभवतः इसलिए वे अधिक कोमल, मधुर तथा मर्मस्पर्शी होते हैं। लेखक का अपनापन इनका प्राण-स्पन्दन होता है। जिसका अविच्छिन्न क्रम महादेवी की रचना में स्वाभाविक रूप से सन्निहित है। यही कारण इन संस्मरणों को पढ़ते समय किसी स्थल पर लेखिका की वर्णन-प्रणाली में बनावटीपन का आभास नहीं मिलता। स्थितियों के विरोधाभास की उपस्थिति से महादेवी सहज ही मनोभावों तथा घटनाओं का ऐसा चित्र उपस्थित कर देती हैं कि वह सब की ममता का अधिकारी बन जाता है। घटनाओं का इतना तथ्यपूर्ण वर्णन बोध की सीमा में शीघ्र ही प्रवेश पा लेता है और लेखक के उद्देश्य की संभावना का आरोह सामने उपस्थित हो जाता है। शैली का यह अपूर्व कौशल है। महादेवी की साधना और उनके संयम ने उनके गद्य की शैली को इस सुचारुता से संचालित किया है कि उनका निजी सामाजिक विद्रोह कहीं उपदेशात्मक प्रचार का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सका। यह तटस्थता ऐसे संस्मरणों की जान है। करुणा, विनोद और व्यंग्य की यह त्रिवेणी मानवता के संतापों को शमन करने का साधनापूत प्रयास है। करुणा की इस कलित रागिनी में महादेवी के अनुभवों के वे स्वर, जिनमें उनका जीवन कभी विकल हुआ, स्वयं भास्वर हो उठे हैं। वस्तु, उनकी सारी करुणा, सारा विद्रोह और सारी विचार-धारा का रहस्य पाठकों के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है। सभी चित्र उनकी मार्मिक भावभूमि का सुंदर परिचय देने में सर्वथा समर्थ है।

'श्रृंखला की कड़ियाँ' महादेवी की दूसरी गद्य-पुस्तक है। पुस्तक के विषय की प्राण-प्रतिष्ठा उसके समर्पण के शब्दों में जैसे साकार हो उठी हो – 'जन्म से अभिशप्त, जीवन से सन्तप्त किंतु अक्षय वात्सल्य वरदानमयी भारतीय नारी को।' 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में नारी-जीवन के उन अभिशापों का उद्घाटन किया गया है, जिन्होंने नारी-जाति को युगों से मानवता का कलंक बना रखा है। साथ ही उसकी मुक्ति के साधनों का भी सुझाव दिया गया है। भारतीय नारी की जटिल एवं विषम परिस्थितियों को महादेवी ने एक

विचारक की भांति अनेक दृष्टिकोणों से देखने की चेष्टा की है। उनका विचार है कि समस्या का समाधान समस्या के ज्ञान पर निर्भर है और यह ज्ञान ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। अतः अधिकार के इच्छुक व्यक्ति को अधिकारी भी होना चाहिए। सामान्यतः भारतीय नारी में इसी विशेषता का अभाव मिलेगा। कहीं उसमें साधारण दयनीयता है और कहीं साधारण विद्रोह, परंतु संतुलन से उसका जीवन परिचित नहीं।" नारी-जाति के सामाजिक तथा व्यावहारिक जीवन की विवेचना महादेवी ने बड़ी ही कुशलता के साथ की है। अन्याय के प्रति असहिष्णु होने के नाते कभी-कभी उनके नारी विषयक मनोभाव उग्रता की सीमा को स्पर्श करते हुए भी प्रतीत होते हैं, किंतु उनका स्वभाव सर्वथा समाज की कुरूपताओं के प्रति सक्रिय उपेक्षा का है। अपने व्यंग्य की मर्मन्तक झड़ियों से ही वे सामाजिक व्यवस्था के सर्जन बीजों का वपन बड़ी साधना से कर जाती हैं। नारी-जाति की संस्कार-जड़ता, उसकी आर्थिक हीनता तथा उसके प्रति पुरुष की एकान्त स्वार्थपरता का इतना सजीव स्वरूप उन्होंने सामने रखा है कि उससे बड़े-बड़े पुरुष-पुंगवों को भी लज्जा से अपना सिर झुका देना पड़ता है। मानव जीवन की पूर्णता स्त्री-पुरुष संबंध की सापेक्षता पर कितनी आश्रित है, इस बात का पता हममें 'श्रृंखला की कड़ियाँ' से चलता है।

विचारात्मक निबंधों की इस शैली में केवल निष्प्राण शब्दों की भरमार ही नहीं, वरन जीवन की अनुभूतियों की सचाई और साख है। युग-चेतना की माँग के रूप में महादेवी जी ने इस विषय को नहीं अपनाया, यह तो उनके जीवन के विकास-पथ की प्रतिष्ठा है। कहीं-कहीं नारी जाति की कमजोरियों की ओर से महादेवी जी ने आँख भी छिपाई है, किंतु इसमें पक्षपात का आग्रह नहीं, नारी की वेदना की अनुभूति-तीव्रता है; क्योंकि मनुष्य-जाति की मानसिक उच्चता, महत्ता तथा अन्य सद्गुणों पर जब विचार किया जाता है, तब पुरुषों से स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा उतरता है। साधारण जीवन में पुरुष व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना से परिचालित होता है, किंतु नारी स्वभाव से ही कोमल और परोपकार प्रिय होती है। किसी देश की संस्कृति के निर्माण और विकास में नारी प्रकृति की परिपूर्ति है और नर उसका विधायक। जीवाणु के दो भेद होते हैं। – पहला अनुलोम परिणामी और दूसरा प्रतिलोम परिणामी। एक निर्माण-शक्ति है और दूसरी विध्वंस-शक्ति। कहना न होगा कि नारी सदैव निर्माण-प्रिय होती है। वस्तु के निर्माण के पश्चात् उसके विनाश का समय आता है, इस कारण यह निश्चय है कि नारी की उत्पत्ति भी नर से पहले हुई। नर, नारी का अनुन्नत रूप है। जीवन-सत्ता का प्रधान आधार नारी है।

पुरुष ने नारी के साथ लगातार अक्षम्य अपराध किये हैं। उसको क्रीड़ा की पुतली, खेल-तमाशे की वस्तु और अपनी धूर्तता का शिकार बनाया है। क्या यह कृतघ्नता नहीं है? फिर क्या यह संभव है कि निसर्ग के साथ चल करने वाला कभी सुखी हो? इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुरुष ने स्त्रियों के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया है। जाति, धर्म,

हिंदी गद्य विवेचना

कानून, साहित्य और लोकमत – सभी क्षेत्रों में स्त्रियों को दबाने की चेष्टा की गई है। यदि कहीं स्त्रियों की कोई स्थिति है भी, तो पुरुषों की दासता के लिए, न कि सहयोगिता के लिए। पुरुषों ने जन्म लेते ही असंख्य लड़कियों के गले घोट डाले, अगणित स्त्रियों को धर्म के नाम पर जला दिया, किंतु नारी ने माता बन कर उनका पोषण ही किया है। यदि कहीं स्त्रियाँ भी इस नारी-विरोधी नरसंतति का गला घोटना प्रारंभ करतीं, तो आज विश्व की क्या दशा होती अतएव यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि नारी स्वभाव से देव है तो नर शैतान। पुरुष स्त्री को अपना भोग्य-पदार्थ ही मानता है, इससे कुछ अधिक नहीं। इतिहास की इस चेतावनी से प्रत्येक समझदार व्यक्ति को इस निश्चय पर पहुँचना चाहिए कि संसार के भावी विकास के लिए और व्यापक जीवन को अधिक सुखी और शांतिमय बनाने के लिए स्त्रियों का उचित अधिकार पाना अत्यंत आवश्यक है। स्त्री-पुरुष संबंधी ऐसी ही व्यवस्थाओं, और विवशताओं को सामने रखकर साहित्य में यह सामाजिक संजीवन उपस्थित किया गया है। इसका तीखापन स्वाभाविक है।

मानव-जीवन में स्त्री-पुरुष के संबंध विषयक उनके विचार उल्लेखनीय हैं – किसी-किसी की धारणा है कि अपने सर्वतोमुखी विकास के उपरांत स्त्री का पर्वत के शिखर के समान उच्च परंतु उसी के समान एकाकी हो जाना निश्चित हैं, क्योंकि तब अपने जीवन की पूर्णता के लिए उसे किसी संगी की अपेक्षा ही न रहेगी। परंतु वास्तव में यह धारणा प्रत्यक्ष सत्य का उल्लंघन कर जाती है। अपने पूर्ण से पूर्ण विकास में भी एक वस्तु दूसरी नहीं हो सकती, यही उसकी विशेषता है। अतः उससे जो भिन्न है, उसका अभाव अवश्यम्भावी है। अपने पूर्ण से पूर्ण गौरव से गौरवान्वित स्त्री भी इतनी पूर्ण न होगी कि पुरुषोचित स्वभाव को भी अपनी प्रकृति में समाहित कर ले, अतएव मानव-समाज में साम्य रखने के लिए उसे अपनी प्रकृति से भिन्न स्वभाव वाले का सहयोग श्रेयस्कर होगा। इस दशा में प्रतिद्वन्द्विता संभव नहीं। इसी प्रकार के अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ लेखिका ने शांत और तटस्थ भाव से समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों की संतुलित विवेचना की है। वास्तव में सामाजिक जीवन की नींव अर्थ-विभाजन और स्त्री-पुरुष संबंध की सुचारुता पर ही खड़ी है, इन प्रश्नों का सम्यक सुझाव महादेवी ने स्पष्टतया सामने रखा है, जो आदरणीय और अनुकरणीय है। इन निबंधों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अब तक नारी-जाति की समस्याओं के उद्घाटन पुरुषों ने अपने दृष्टिकोण से किया था; किंतु इनमें प्रथम बार एक नारी के द्वारा उन समस्याओं का स्पष्टीकरण सामने रखा गया है, जिसकी सर्वमान्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

भावात्मक तथा विचारात्मक गद्य के साथ-साथ महादेवी ने विवेचनात्मक गद्य भी लिखा है। कवि यदि भावनाओं का गायक है तो आलोचक उनका निरीक्षक, इसलिए कवि भावप्रधान

गद्यकार महादेवी

तथा अलोचक विचारप्रधान होता है। महादेवी ने साहित्य के गद्य-पद्य दोनों स्वरूपों को अपनी साधना का सहयोग दिया है, उनकी साहित्य-विवेचना उनके कवि तथा विचारक के समुचित और संतुलित सामञ्जस्य का सुफल है। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पुस्तक इसका प्रौढ़ प्रमाण है। साहित्य के सनातन और स्थायी सत्यों का निष्पक्ष निरूपण इन विवेचनाओं में जिस परिमार्जित एवं प्रांजल, सरस स्पष्ट शैली में हुआ है, वह अन्यत्र सहज सुलभ नहीं। विचारक महादेवी का एक संकेत, एक शब्द और एक वाक्य पाठकों के अंतःकरण में अनुभूति तथा चिंतन की समवेदनीय आकुलता जगाने में समर्थ है, इसमें संदेह नहीं। उनके सुलझे विचारों की शक्तिमत्ता, उनके सूक्ष्म निरीक्षण की निष्ठा, उनके आत्मानुभूत सिद्धांतों की प्रतिपादना और उनकी जीवन-दर्शन की व्यापकता से संरक्षित और संचालित उनका आलोचक सूक्ष्म और स्वस्थ साहित्यिक अभिप्रायों के उद्बोधन में अद्वितीय है, यह मेरी दृढ़ धारणा है। ठीक भी है, जीवन की स्वाभाविक संयोजना, सौंदर्य की सात्विक आराधना तथा साहित्य की सहेतुक साधना के लिए आत्मा के जिस पूर्ण परिष्करण की अपेक्षा रहती है, वह महादेवी जैसी कलाकारों की अपनी चीज है। संभवतः इसी कारण संसार के श्रेष्ठ साहित्य और ज्ञान में कलाकार का व्यक्तित्व मूल की भांति समाया रहता है।

महादेवी की विवेचनाओं में आलोचना के टेकनीक के अतिरिक्त अन्तस्थल में प्रवेश करने वाली मार्मिक साहित्यिक सूझ और 'बैक ग्राउण्ड' में प्रतिफलित होने वाली स्निग्ध सुंदर सहृदयता की जो अपूर्व अभिव्यंजना हुई है, वह हिंदी आलोचना-पद्धति के विकास में निश्चय ही पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ होगी। काव्य की भांति हिंदी का गद्य-साहित्य भी महादेवी की कृतियों से गौरवान्वित है। 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध' महादेवी जी के आलाचेनात्मक निबंधों का बहुप्रशंसित संग्रह है। छायावाद युग ने नये काव्य की सृष्टि के साथ एक नये काव्य-चिंतन की, नये काव्य-शास्त्र की, नये काव्यालोचन की भी नींव रखी, तो यह स्वाभाविक ही था। समालोचना की इस प्राणवन्त प्रणाली में, अनुभव से परिपुष्ट इस चिंतन में पाठकों को शिक्षित करने के साथ एक नये काव्य-सिद्धांत की स्थापना का भी उद्देश्य रहा हो तो आश्चर्य की बात नहीं। जीर्ण-शीर्ण परम्परा से आबद्ध ह्यासोन्मुख-युग में कवि, जब पाठकों की रसज्ञता के प्रति आश्वस्त नहीं रहता तब उसके लिए काव्य के स्पष्टीकरण की विवशता अनिवार्य हो उठती है।

कवि समालोचक की दृष्टि में काव्य-सृष्टि के प्रति एक प्रत्यक्ष-साक्ष्य की स्पष्टता और तत्परता तो होती है, सर्जन के विभिन्न और विविध तत्त्वों से परिचित होने के नाते उसकी मान्यताओं का बोधगम्य और विश्वसनीय होना भी सहज होता है। स्वयं कवि के स्वानुभूत, मार्मिक स्पंदनों से मुखरित होने के कारण उसकी विवेचना अपनी प्रेषणीयता और प्रभविष्णुता में भी अमोघ रहती है।

हिंदी गद्य विवेचना

छायावादी कवियों ने अपनी विस्तृत भूमिका में तथा वक्तव्यों और विज्ञप्तियों द्वारा अपने काव्यात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की सफल और सार्थक चेष्टाएँ की हैं। महादेवी जी ने ऐसी भूमिकाएँ लिखी हैं, जो छायावाद-युग मात्र की भूमिकाएँ मानी जा सकती हैं। वस्तुतः वे छायावाद की सबसे समर्थ समालोचक हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता निस्संगता और काव्य को जीवन की विशाल भूमि पर रखकर परखने की क्षमता है। भारतीय साहित्य के अध्ययन-मनन से प्राप्त पुरानी कसौटी तो उनके पास है ही, आवश्यकता के अनुसार युगानुरूप नवीन कसौटी गढ़ लेने की सर्जनात्मक शक्ति का भी उनमें प्राचुर्य है। यही कारण है कि उनकी विवेचना शास्त्रज्ञ आचार्य की कठोर बौद्धिक रेखाओं से घिरी न हो कर जीवन को संसिक्त करने वाले भावना-प्रपात की तरह तरल-स्वच्छ और सतत प्रसरणशील है।

बाह्य जीवन की स्थूलता और अंतर्जगत की सूक्ष्मता के व्यापक अनुभव, चिंतन और मनन से प्राप्त सत्य, शिव और सौंदर्य के बल पर समालोचक के पूर्व निर्मित सिद्धांतों और परम्परापोषित विचारों को चुनौती देते हुए काव्य के सच्चे मापदण्ड स्वयं कवि की रचनाओं से ही खोजने का उन्होंने जो उचित आग्रह किया है, वह समालोचना के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन के साथ काव्यालोचन की नयी प्रणाली का भी स्वस्थ सूत्रपात करता है। हिंदी समीक्षा के स्वरूप में उनकी इस मौलिक देन का ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण रहेगा, इसमें संदेह नहीं।

यदि पुरानी काव्य-लीक के प्रेमी और छायावाद के अकारण विरोधी तथाकथित आलोचकों ने उनकी संश्लेषणात्मक विवेचना का अध्ययन किया होता तो उनकी आलोचना की वह हास्यास्पद स्थिति न हुई होती, जो सबके सामने प्रत्यक्ष है।

महादेवी जी की समीक्षा की मुख्य कसौटी अनुभूति, विचार और कल्पना से समन्वित उनका जीवन-दर्शन है, जो समीक्षा की प्रगति के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। उनकी मान्यता है – 'किसी मानव-समूह को, उसके समस्त परिवेश के साथ तत्त्वतः जानने के लिए जितने माध्यम उपलब्ध हैं, उनमें सबसे पूर्ण और मधुर उसका साहित्य ही कहा जाएगा। साहित्य में मनुष्य का असीम, अतः अपरिचित और दुर्बोध जान पड़ने वाला अंतर्जगत बाह्य-जगत में अवतरित होकर निश्चित परिधि तथा सरल स्पष्टता में बँध जाता है तथा सीमित, अतः चिर परिचय के कारण पुराना लगने वाला बाह्य-जगत अंतर्जगत के विस्तार से मुक्त होकर चिर नवीन रहस्यमयता पा लेता है। इसी प्रकार हमें सीमा में असीम की और असीम में संभावित सीमा की अनुभूति युगपद् होने लगती है। दूसरे शब्दों में हम कुछ क्षणों में असंख्य अनुभूतियों और विराट ज्ञान के साथ जीवित रहते हैं, जो स्थिति हमारे शान्त जीवन को अनन्त जीवन से एकाकार कर उसे विशेष सार्थकता और सामान्य गन्तव्य देने की क्षमता रखती है। प्रवाह में बनने-मिटने वाली लहर नव-नव रूप

पाती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती रहती है, परंतु प्रवाह से भटककर अकेले तट से टकराने और बिखर जाने वाली तरंग की यात्रा वहीं बालू-मिट्टी में समाप्त हो जाती है। साहित्य हमारे जीवन को, ऐसे एकाकी अंत से बचाकर उसे जीवन के निरंतर गतिशील प्रवाह में मिलाने का सम्बल देता है।'

'धरती के प्रत्येक कोने और काल के प्रत्येक प्रहर में मनुष्य का हृदय किसी उन्नत स्थिति के भी पाषाणीकरण को अभिशाप मानता रहा है। इस स्थिति से बचने के लिए उसने जितने प्रयत्न किए हैं, उनमें साहित्य उसका निरंतर साक्षी रहा है।'

'दर्शन पूर्ण होने का दावा कर सकता है, धर्म अपने निर्भ्रान्त होने की घोषणा कर सकता है, परन्तु साहित्य मनुष्य की शक्ति-दुर्बलता, जय-पराजय, हास-अश्रु और जीवन-मृत्यु की कथा है। वह मनुष्य-रूप में अवतरित होकर स्वयं ईश्वर को भी पूर्ण मानना अस्वीकार कर देता है। पर इस स्वेच्छा स्वीकृत अपूर्णता या परिवर्तनशीलता से जीवन और उसके विकास की एकता का सूत्र भंग नहीं होता।'

'नदी के एक होने का कारण उसका पुरातन जल नहीं, नवीन तरंग-भंगिमा हैं। देश-विदेश के साहित्य के लिए भी यही सत्य है। प्रत्येक युग के साहित्य में नवीन तरंगाकुलता उसे मूल प्रवाहिनी से विच्छिन्न नहीं करती, वरन् उन्हीं नवीन तरंग भंगिमाओं की अनन्त आवृत्तियों के कारण मूल प्रवाहिनी अपने लक्ष्य तक पहुँचने की शक्ति पाती है।'

'इस दृष्टि से यदि हम भारतीय साहित्य की परीक्षा करें तो काल, स्थिति, जीवन, समाज, भाषा, धर्म आदि से संबंध रखने वाले अनन्त परिवर्तनों की भीड़ में भी उसमें एक ऐसी तारतम्यता प्राप्त होगी, जिसके प्रभाव में किसी परिवर्तन की स्थिति संभव नहीं रहती। समुद्र की बेला में जो धरती व्यक्त है, उसी की अव्यक्त सत्ता तल बनकर समुद्र की अपार जलराशि को संभालती है। समुद्र के जल का व्यवधान पार करने के लिए तट की धरती चाहिए और समुद्र को जल का व्यवधान बने रहने के लिए तल की धरती चाहिए। साहित्य के पुरातन और नूतन के अविच्छिन्न संबंध के मूल में भी जीवन की ऐसी ही धरती है।'

'सत्य निर्मित नहीं किया जाता, उसे साधना से उपलब्ध किया जाता है, यह आज भी प्रमाणित है। वैदिक ऋषि भी अपनी अन्तश्चेतना में जीवन के रहस्यमय सत्य की अनुभूति प्राप्त करता है और उसे शब्दायित करके दूसरों तक पहुँचाता है। यह सत्य उसके तर्क-वितर्क का परिणाम नहीं है, न वह इसका कर्तृत्व स्वीकार कर सकता है। जो नियम सृष्टि को संचालित करते हैं, ऋषि उनका द्रष्टा मात्र है। जीवन के अव्यक्त रहस्यों के सृजन का तो प्रश्न ही क्या, जब जगत के भौतिक तत्वों की खोज करने वाला आज का वैज्ञानिक भी यह कहने का साहस नहीं करता कि वह भौतिक तत्वों का स्रष्टा है।

हिंदी गद्य विवेचना

कवि या कलाकार को भी जीवन के किसी अंतर्निहित सामंजस्य और सत्य की प्रतीति इसी क्रम से होती है, चाहे भाषा, छन्द और अभिव्यक्ति-पद्धति उसकी व्यक्तिगत हो। जल की एकता के कारण ही जैसे उसके एक अंश में उत्पन्न कम्पन दूसरी ओर तक पहुँच जाता है, वैसे ही चेतना की अखण्ड व्याप्ति अपने ऋतु रूप सत्य को भिन्न चेतना-खण्डों के लिए सहज संभव कर देती है।'

अपने इसी बोध-विचार और जीवन-दर्शन के आधार पर महादेवी जी ने काव्य-कला के विवेचन-विश्लेषण में यह आर्ष वाक्य लिखा है – 'सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है।' 'एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनंत, इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मय भरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।' इस कथन में उनकी काव्य संबंधी धारणा स्पष्ट है। व्यक्त अनेकता में अंतर्निहित एकता की खोज करने वाले की आस्था सामंजस्य और समन्वय पर ही आरूढ़ रहती है। साहित्यालोचन में उनका दृष्टिकोण इसी पृष्ठाधार पर संस्थित है। उन्होंने लिखा भी है :

'जीवन को सब ओर से स्पर्श करने वाली दृष्टि मूलतः और लक्ष्यतः सामंजस्य-वादिनी होती है। साहित्य का आधार कभी आंशिक जीवन नहीं होता, सम्पूर्ण जीवन होता है। साहित्य में मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती है जैसे धूपछाँही वस्त्र में दो रंगों के तार, अपनी-अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रंगों से भिन्न एक तीसरे रंग की सृष्टि करते हैं। हमारी मानसिक वृत्तियों की ऐसी सामंजस्यपूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और कहीं संभव नहीं। उसके लिए न हमारा अंतर्जगत त्याज्य है न बाह्य, क्योंकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है आंशिक नहीं।

मनुष्य के पास बाह्य जगत के समान एक सचेतन अंतर्जगत भी है, अतः उसका सौंदर्य-बोध दोहरा और अधिक रहस्यमय हो जाता है। वह केवल परिवेश के सामंजस्य पर प्रसन्न नहीं होता, वरन् विचार-भाव और उनसे प्रेरित कर्म की सामंजस्यपूर्ण स्थिति पर भी मुग्ध होता है। उसके अंतर्जगत का सामंजस्य बाह्य-जगत में अपनी अभिव्यक्ति चाहता है और बाह्य जगत का सामंजस्य अंतर्जगत में अपनी प्रतिच्छवि आँकना चाहता है।'

साहित्य में संपूर्ण तथा व्यापक जीवन की यह माँग उनकी विवेचना में अत्यंत सफलता के साथ प्रतिफलित हुई है। उनके सभी निर्णय-निष्कर्ष इसी अनुभूत जीवन-दर्शन, आस्था और विश्वास के परिणाम हैं। जिस प्रकार उनका काव्य जीवन के विराट भाव-बोध को जागृत करता है उसी प्रकार उनकी विवेचना अनुभूत बौद्धिक-चिंतन के उन्मेष को विस्तार देती है। व्यष्टि के अनुभव-चिंतन को समष्टि के साथ संयोजित करने के अन्य अनेक

गद्यकार महादेवी

साधनों के साथ उनकी विधायक कल्पना का बहुत बड़ा महत्व है, क्योंकि साहित्य में मूर्ति-विधान और सौंदर्यबोध का माध्यम यही मानस-व्यापार है।

वस्तुतः भाव, विचार और कल्पना की समन्वित त्रिवेणी से प्रभावित तथा प्रवाहित उनकी समालोचना जीवन-भूमि को सब ओर संसक्ति और स्निग्ध करती चलती है। उनकी मर्मभेदी, दूरदर्शी दृष्टि के सामने जीवन अपने परिपूर्ण व्यापकत्व और विराटत्व के साथ उपस्थित होकर विवेचना को गहनता और विस्तार के सूत्रों से ग्रथित करता चलता है।

छायावाद के प्रति फैले बहुमुखी भ्रामक विचारों और अबोधता से उद्भूत नाना भ्रमों के कुहासे को दूर करने में उनकी विवेचना ने जिस किरण-कला का काम किया है, वह किसी से छिपा नहीं। श्री नामवर सिंह ने ठीक ही कहा है - 'छायावाद संबंधी सभी आलोचनाओं का उत्तर महादेवी जी को देना पड़ा। इसीलिए, उन्होंने बड़े विस्तार से छायावाद में प्रकृति, नारी-भावना, कल्पना, दुःखवाद, स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति, राष्ट्रीयता आदि का सोदाहरण विवेचन किया। कहना न होगा कि छायावाद संबंधी भ्रमों का उच्छेद करने में महादेवी जी ने सभी छायावादी कवियों से अधिक काम किया।' श्री विनयमोहन शर्मा की यह उक्ति भी है - 'छायावाद-युग ने महादेवी को जन्म दिया और महादेवी ने छायावाद को जीवन', सच है। वास्तव में छायावादी काव्य-धारा के सौंदर्य-संवेदन को, उसकी सांस्कृतिक समृद्धि को, तथा उसकी स्थिति की विवेचनात्मक दृढ़ता को हृदय-स्पर्शी बनाकर सर्व-सुलभ स्पष्टता देने के भगीरथ विधान में महादेवी जी की सफलता सहज ही अनन्य है; यह निर्विवाद है।

विशेषता यह है कि छायावाद की महत्वपूर्ण स्थापना और उसकी विस्तृत विवेचना के साथ उन्होंने उसकी त्रुटियों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है - 'छायावाद के कवि को एक नये सौंदर्य-लोक में ही यह सगात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन में नहीं, इसी से वह अपूर्ण है।' छायावाद की ऐसी आलोचना शायद ही और किसी ने की हो?

प्रगतिवाद की मौलिक त्रुटियों का विश्लेषण करते हुए भी उन्होंने कवियों को यही सलाह दी है - 'अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर, जड़ सिद्धांतों का पाथेय छोड़कर अपनी सम्पूर्ण संवेदनशक्ति के साथ जीवन में घुल-मिल जावें', क्योंकि उनका निश्चित विश्वास है - 'हमें निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पंदनहीन वस्तुवाद के लम्बे पथ को पार कर कदाचित् फिर चिरसंवेदन रूप सक्रिय भावनाओं में जीवन के परमाणु खोजने होंगे।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि महादेवी जी की विवेचना में साहित्य के विश्लेषण के साथ-साथ उसमें जीवन की सर्वांगीण प्रतिष्ठा का आग्रह सर्वाधिक महत्ता रखता है। इसी

हिंदी गद्य विवेचना

से उसमें बौद्धिक तीक्ष्णता के साथ भावात्मक संश्लेषण का स्वर बराबर गूँजता चलता है, जो साहित्य की सार्थकता और उपयोगिता का सबसे प्रौढ़ और सनातन प्रतीक है। ऐसी जीवनवादी, मानवतावादी समीक्षा का सृजनात्मक प्रभाव साहित्य के शाश्वत सिद्धांतों की खोज में स्थायी रहता है, इसमें संदेह नहीं। डॉ० नगेन्द्र ने बड़े पते की बात कही है - 'महादेवी के ये निबंध काव्य के शाश्वत सिद्धांतों के अमर व्याख्यान हैं। आज साहित्यिक मूल्यों के बबण्डर में भटका हुआ जिज्ञासु इन्हें आलोक-स्तम्भ मानकर बहुत कुछ स्थिरता पा सकता है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्त वचन के समान ही आदर करेगा।'

साहित्य भावात्मक सामंजस्य का प्रथम और अंतिम सत्य है, इसीलिए उसकी स्थिति मनुष्य के लिए उसी प्रकार अनिवार्य है, जैसे उसके हृदय की। स्वभावतः साहित्य का माध्यम स्थूल विधि-निषेध न होकर आंतरिक सामंजस्य ही होता है, तभी वह हृदय की भाँति जीवन के सभी अंगों को अपनी नवीन रक्तसंचारिणी शक्ति से जीवित तथा स्वस्थ रख सकेगा, अन्यथा नहीं।

इन निबंधों में महादेवी जी की व्यापक तथा गहन अनुभूति, समन्वयात्मक चिंतन-मनन और सामंजस्यपूर्ण जीवन-दर्शन का जो उन्मेष उद्घाटित हुआ है, वह जीवन और साहित्य के पारस्परिक संबंधों को स्पष्ट करने की अद्भुत क्षमता के साथ विवेचना के स्तर को ऊपर उठाने में भी सफल है। सिद्धांतों को धो-मॉँजकर चमाचम रखने वाले और जीवन में जंग लग जाने देने वाले आलोचकों के प्रति उनका कथन कितना मार्मिक है। आज का आलोचक 'मानिसक पूँजीवाद और जीवन का दारिद्र्य साथ लिए बिना न रह सका। जीवन की ओर लौटने की पुकार उसकी ओर से नहीं आती, क्योंकि ऐसी पुकार स्वयं उसी के जीवन को विरोधात्मक बना देगी। व्यावहारिक धरातल पर भी वह एक अथक विवादेषणा के अतिरिक्त कोई निश्चित कसौटी नहीं दे सका, जिस पर साहित्य और काव्य का खरा-खोटापन विश्वास के साथ परखा जा सके।'

छायावादी काव्य के पूर्व हिंदी-आलोचना का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि आलोचक यही निर्णय नहीं कर पाये थे कि काव्यालोचन की कसौटी स्वयं आलोचक की रुचि से निर्मित हो, अथवा परम्परागत सिद्धांतों से, जीवन का वहाँ कोई प्रश्न ही नहीं था। केवल एक ही आदर्श सामने था - कविः करोति काव्यानि, स्वादं जानन्ति पंडिताः, इसी बल पर आलोचक फूला नहीं समाता था।

काव्यालोचन के संदर्भ में धर्म, नीति और लोकमंगल को स्थान देकर आचार्य शुक्ल ने कुछ उदारता का परिचय दिया, और जीवन की माँग को सीमित रूप में ही सही, सामने

रखा। सीमित इसलिए कि शुक्ल जी जीवन का अर्थ उस जीवन से लगाते थे, जो रामचरितमानस में व्यक्त हुआ है। उसके बाहर जीवन की किसी स्थिति पर उनकी आस्था नहीं के बराबर थी। किसी भी काव्य पर विचार करते समय वे यह देखना नहीं भूल पाते थे कि गोस्वामी जी के काव्य से उसकी पुष्टि होती है या नहीं।

छायावादी कवियों ने और विशेष रूप से महादेवी जी ने काव्यालोचन के सिद्धांतों को प्रथम बार जीवन के विकासशील सिद्धांतों के समकक्ष रखकर विवेचना के सूत्रों को केवल सिद्धांतवादी आलोचकों के हाथ से छीनकर कवि के जीवनव्यापी अनुभव और अभिव्यक्ति कौशल के हाथों में रख दिया। जनतंत्रीय जीवनधारा का साहित्य में भी अभिषेक हुआ। इस प्रतिक्रिया से साहित्य के व्यापकत्व और कवि की प्रतिष्ठा का जो समवर्द्धन हुआ, वह चिर अपेक्षित था।

छायावादी स्वच्छन्द भावधारा और रहस्यवादी भावसूक्ष्मता तथा प्रेम के उदात्तीकरण को विदेशी तथा मात्र अभिव्यंजना एवं केवल काल्पनिक कहने वालों का मुँह बंद करने के लिए महादेवी जी ने उसे भारतीय काव्य की, जीवन के साथ सतत विकसित होने वाली वैदिक, पालि और प्राकृत काव्यों की परम्परा से संबद्ध सिद्ध करते हुए उसकी स्थिति को स्वाभाविक और उसकी अभिव्यक्ति को सांस्कृतिक महत्ता देने में जिस संश्लेषणी प्रतिभा का परिचय दिया है, वह समीक्षा के इतिहास में अकेली है। परवर्ती आलोचकों की आलोचना में इसका प्रभाव और अनुसरण प्रत्यक्ष है।

'गीति-काव्य' पर उनका निबंध अपने ढंग का प्रथम और प्रामाणिक है। उनकी गीत की यह परिभाषा पाठकों और आलोचकों के लिए कंठहार बन गयी है 'साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।'

छायावाद युग में गीतों की प्रधानता का कारण भी उन्होंने बताया है 'हिंदी काव्य का वर्तमान नवीन युग गीत-प्रधान ही कहा जाएगा। हमारा व्यस्त और व्यक्ति-प्रधान जीवन हमें काव्य के किसी और अंग की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपने प्रत्येक कम्पन को अंकित करने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं। संभव है यह उस युग की प्रतिक्रिया हो, जिसमें कवि का आदर्श अपने विषय में कुछ न कहकर संसार भर का इतिहास कहना था, हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आदृत करना था।'

'यथार्थ और आदर्श' निबंध का प्रारंभ ही उनके मन्तव्य को स्पष्ट कर देता है— 'संतुलन का अभाव हमारा जातीय गुण चाहे न कहा जा सके, परंतु यह तो स्वीकार करना ही

हिंदी गद्य विवेचना

पड़ेगा कि एक दीर्घ काल से हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में यही त्रुटि विशेषता बनती आ रही है। हमारी स्थिति या तो एक सीमा पर संभव है या दूसरी पर, पर समन्वय के किसी भी रूप से हमारा हृदय जितना विरक्त है, बुद्धि उतनी ही विमुख। या तो हम ऐसे आध्यात्मिक कवच से ढँके वीर हैं कि जीवन की स्थूलता हमें किसी ओर से भी स्पर्श नहीं कर सकती, या ऐसे मुक्त जड़वादी कि सम्पूर्ण जीवन बालू के अनमिल कणों के समान बिखर जाता है, या ऐसे तन्मय स्वप्नदर्शी हैं कि अपने पैर के नीचे की धरती का भी अनुभव नहीं कर पाते, या यथार्थ के ऐसे अनुगत कि सामंजस्य का आदर्श भी मिथ्या जान पड़ता है, या तो अलौकिकता के ऐसे अनन्य पुजारी हैं कि आकाश की ओर उद्ग्रीव रहने को ही जीवन की चरम परिणति मानते हैं, या लोक के ऐसे एकनिष्ठ उपासक कि मिट्टी में मुख गड़ाये पड़े रहने ही को विकास की पराकाष्ठा समझते हैं।¹

यथार्थ और आदर्श की प्रवृत्तियों के माध्यम से प्रायः सम्पूर्ण भारतीय काव्य का विश्लेषण करते हुए महादेवी जी ने कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं, जो दोनों की समन्वयात्मक स्थिति का बोध कराने में अत्यंत उपयोगी हैं :

"आदर्श की रेखाएँ कल्पना के सुनहले-रुपहले रंगों से तब तक नहीं भरी जा सकतीं जब तक उन्हें जीवन के स्पंदन से न भर दिया जावे, और दूसरी ओर यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के कूलों का सहारा देना आवश्यक है।"

"जिन युगों में हमारी यथार्थ-दृष्टि को स्वप्न-सृष्टि से आधार मिला है और स्वप्न-दृष्टि को यथार्थ-सृष्टि से सजीवता, उन्हीं युगों में हमारा सृजनात्मक विकास संभव हो सका है। ध्वंसात्मक अंधकार के युगों में या तो वायवी और निष्प्राण आदर्श का महाशून्य हमारी दृष्टि को दिग्भ्रान्त करता रहा है या विषम और खण्डित यथार्थ के नीचे गर्त तथा ऊँचे टीले हमारे पैरों को बाँधते रहे हैं।"

"जीवन में वह यथार्थ, जिसके पास आदर्श का स्पंदन नहीं, केवल शव है और वह आदर्श, जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं, प्रेत मात्र है।"

"सच्चा कलाकार व्यावसायिक काम पर संवेदनशील अधिक होता है, अतः उसकी दृष्टि यथार्थ के संबंध में संतुलित और आदर्श के संबंध में व्यापक रह कर ही अपने लक्ष्य तक पहुँचती है।"

इस प्रकार यथार्थ-आदर्श के सूक्ष्म ऐतिहासिक विवेचन और कलात्मक विश्लेषण के पश्चात् दोनों की सामंजस्यपूर्ण जिस स्थिति का उन्होंने आकलन और उद्भावन किया है, वह हिंदी साहित्य के इतिहास में नितान्त नवीन होने के साथ सारगर्भित और साहित्य-सृजन के लिए उपादेय भी है। साहित्य की संप्राणता और संचरण के लिए इन दोनों वृत्तियों का संतुलन अनिवार्य है।

'सामयिक समस्या' में प्रगतिवाद के आंदोलन द्वारा उत्पन्न साहित्य-समस्या पर व्यापक रूप से विचार करते हुए साहित्य में विज्ञान, मनोविज्ञान, एवं बौद्धिक विकल्पों की स्थितियों और साहित्य में उनके उपयोग की विधियों का विवेचन किया गया है। पूरे निबंध के अध्ययन से प्रमाणित हो जाता है कि प्रगति से, चाहे वह मार्क्स से प्रभावित हो, चाहे गाँधी से और चाहे फ्रायड से, महादेवी जी का कोई विरोध नहीं, किंतु प्रगति का वास्तविक रूप वे साहित्य की उस विकासशील प्रवृत्ति में ही स्वीकार करती हैं, जो जीवन के स्वाभाविक विकास के साथ सृजन को प्रशस्त करती चलती है।

प्रगति के लिए 'जो मार्क्स के वैज्ञानिक भौतिकवाद से प्रभावित ही नहीं, काव्य में उसका अक्षरशः अनुवाद भी चाहता है। अतः साहित्य की उत्कृष्टता से अधिक महत्व सैद्धांतिक प्रचार को मिल जाना स्वाभाविक है। वह राजनीतिक दलों के समान साहित्यचरों का विभाजन कर अपने पक्ष में बहुमत और दूसरे पक्ष में अल्पमत चाहता है।' ऐसी प्रगति के उपासकों से उनका विरोध न होना आश्चर्य का ही कारण हो सकता था। किसी दल की संकीर्णता में बद्ध प्रगति की भावना साहित्य को सार्वजनिक कल्याण के पथ पर अग्रसर नहीं कर सकती। उसे केवल ऐसा अपरिणामदर्शी, दलबंद और बुद्धिजीवी राजनीतिक वर्ग ही स्वीकार कर सकता है, 'जो जीवन के स्वाभाविक स्पर्श से दूर रहने का अभ्यस्त हो चुका है। परिणामतः एक ओर उसका मस्तिष्क विचारों की व्यायामशाला बन जाता है और दूसरी ओर हृदय निर्जीव चित्रों का संग्रहालय मात्र रह जाता है।'

प्रगतिपंथियों के लिए महादेवी जी का यह वाक्य सदा स्मरणीय रहेगा— 'सफल प्रगति-काव्य के लिए अनुभूतियों को कठोर धरती का निश्चित स्पर्श देकर भी भाव के आकाश की छाया में रखना उचित था, जो इस युग की अस्वाभाविक बौद्धिकता के कारण सहज न हो सका।'

गतिशील भाव-भूमि से सर्वथा विच्छिन्न करके काव्य को विशुद्ध तर्क-भूमि पर प्रतिष्ठित करने का परिणाम केवल गतिहीनता ही हो सकती है, जैसे पानी को बर्फ बना देने से। भाव और सहज संवेदनीयता की नितान्त न्यूनता के कारण काव्य-प्रवाह का स्थिर हो जाना ही संभव है, आज हम इस सत्य से पूर्णतः अवगत हो चुके हैं। प्रगति के नाम पर वासना के नग्न चित्रों का प्रदर्शन, जीवन के केवल कुत्सित रूपों का चित्रण, विकृतियों

हिंदी गद्य विवेचना

की चित्रशाला उपस्थित करने में भले ही कृत-कृत्य हो, किंतु उसके लिए सच्ची साहित्य-प्रगति का आचार बन सकना कभी किसी प्रकार से संभव नहीं हो सकता। साहित्य में किसी भी विचारधारा की संप्राणता का प्रमाण उसका उत्कृष्ट एवं जीवन्त सृजन ही होता है, न कि दूसरी विचार-धाराओं को नगण्य बताकर उनके नष्ट करने का प्रयत्न मात्र। विभिन्न साहित्यिक धाराओं को लेकर चलने वाले कटु विवादों की व्यर्थता पर महादेवी जी की धारणा महत्वपूर्ण है :

"विवाद जीवन का चिह्न है और निर्जीवता का भी। लहरें बाहर से विविध किंतु भीतर से एक रह कर जल की गतिशीलता प्रकट करती है, पर सूखते हुए पंक की कठिन पड़नेवाली दरारें भीतर सूखती हुई तरल एकता की घोषणा हैं। इस सत्य को हम जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी देख चुके हैं। हम राजनीतिक और सामाजिक संगठन करने चले थे और इतने बिखर गये कि किसी प्रकार का भी निर्माण असंभव हो गया। हमने हिंदू-मुस्लिम एकता का प्रश्न उठाया और विवादों ने पाकिस्तान जैसी गहरी खाई खोद डाली। हम हिंदी-उर्दू को एक करने का लक्ष्य लेकर उनकी विवेचना करने लगे और दो के स्थान में तीन भाषाओं की सृष्टि कर बैठे।

हमारे साहित्यिक विवाद इन सब अभिशापों से ग्रसित और दुखद हैं, क्योंकि उनके मूल में जीवन के उमरी सतह की विवेचना नहीं है, वरन् उसकी अंतर्निहित एकता का खण्डों में बिखरकर विकासशून्य हो जाना प्रमाणित करते हैं। साहित्य गहराई की दृष्टि से पृथ्वी की वह एकता रखता है, जो बाह्य विविधता को जन्म देकर भीतर एक रहती है और ऊँचाई की दृष्टि से वायुमण्डल की वह सूक्ष्मता रखता है, जो ऊपर से एक होने पर भी प्रत्येक को स्वतंत्र विकास देता है। सच्चा साहित्यकार भेदभाव की रेखाएँ मिटाते-मिटाते स्वयं मिट जाना चाहेगा, पर उन्हें बना-बनाकर स्वयं बनना उसे स्वीकार न होगा।"

प्रगतिवादी यथार्थ की उत्तेजक आकुलता में विकृत और अश्लील चित्रों की जो विवृत्ति साहित्य-क्षेत्र में हुई, उससे महादेवी जी को शिकायत नहीं, पर वे यथार्थ अभिव्यक्ति की उच्चता का स्मरण दिलाना नहीं भूलतीं — "व्यापक अर्थ में यह भाव (श्लील-अश्लील) जीवन के प्रति संभव और असंभव के पर्याय हो सकते हैं। जिस भाव, विचार, संकल्प, संकेत और कार्य से जीवन के प्रति सदिच्छा नहीं प्रकट होती, वे सब अश्लील की परिधि में रखे जा सकते हैं। जो चिकित्सक रोगी के शरीर की परीक्षा करता है वह अश्लील नहीं कहा जा सकता। पर यदि राह में कोई उसी रोगी की पगड़ी उतार कर कहे कि जब चिकित्सक को पीठ दिखाने में लज्जा नहीं आयी तब यहाँ सिर उघड़ जाने में क्या हानि है, तो इस कार्य को श्लील नहीं कहा जा सकेगा। विकृत तथा अश्लील चित्रों के अंकन द्वारा प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में एक मांगलिक आदर्श की स्थापना करने का हो, वह एक ऐसे गोताखोर की तरह हो, जो केवल तट पर कीचड़ और घोंघों का ढेर लगाने के

लिए समुद्र की अतल गहराई में नहीं धँसता, वरन् उस मोती को निकाल लाता है, जिससे संसार अपरिचित था और जिसे पाकर मनुष्य खारे जल और भयानक जल-जन्तुओं से भरे समुद्र को रत्नाकर नाम देता है।'

'हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या' में मानवीय जीवन की विज्ञानसाध्य बाहरी संपर्क-सुलभ समीपता एवं निकटता और भीतरी भावात्मक दूरी का बहुत ही वैज्ञानिक निरूपण किया गया है— 'पथ के सहयात्री भी एक-दूसरे के समीप होते हैं। और युद्ध भूमि पर परस्पर-विरोधी सैनिक भी, परंतु दोनों प्रकार के सामीप्य परिणामतः कितने भिन्न हैं। पहली स्थिति में एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी समीपता में एक दूसरे के बचाने के सारे साधन नष्ट कर उसे नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तक पर आकाश में उड़ता हुआ बादल और उमड़ता हुआ बमवर्षक यान दोनों ही हमारे समीप कहे जायेंगे, परंतु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विरुद्ध ही रहेंगे। जिनके साथ मन शंकारहित नहीं हो सकता, उनकी निकटता संघर्ष की जननी है। इसी से आज के युग में मनुष्य पास है, परंतु मनुष्य का शंकाकुल मन पास आने वालों से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ आदान-प्रदान के लिए मनो की निकटता पहली आवश्यकता है।'

निकटता की स्थिति-मात्र से राष्ट्र को सावधान करते हुए उन्होंने अपनी उस सांस्कृतिक मन की निकटता एवं एकता को जगाने का आग्रह किया है, जो हमारी बुद्धि में अभेद और हृदय में सामंजस्य की स्थापना से मानवमात्र की भीतरी एकता का भावन करती चली आ रही है। इस यंत्रयुग की कठोर, किंतु विशाल छाया में यदि हम सहज मानवीय संवेदना के प्रकाश को विकीर्ण कर सकें, तो हमारी सांस्कृतिक परम्परा का गौरव तो बढ़ेगा ही, हम भी अपने को उसके सच्चे उत्तराधिकारी घोषित करने का अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

वैज्ञानिक युग की निकट की दूरी से बचने के लिए हमें महादेवी जी का यह कथन स्मरण रखना होगा— 'जब भावयोगी मनुष्य, मनुष्य के निकट पहुँचने के लिए दुर्लघ्य पर्वतों और दुस्तर समुद्रों को पार करने में वर्षों का समय बिताता था, उस युग में भी मानवमात्र की एकता के वही वैतालिक रहे हैं। आज जब विज्ञान ने वर्षों को घंटों में बदल दिया है, तब वे मनुष्य को मनुष्य से अपरिचित क्यों रहने दें, बुद्धि को बुद्धि का आतंक क्यों बनने दें और हृदय को हृदय के विरोध में क्यों खड़ा होने दें। हम विश्व भर से परिचय की यात्रा में निकलने के पहले यदि अपने देश के हर कोने से परिचित हो लें तो इसे शुभ शकुन ही मानना चाहिए। यदि घर में अपरिचय के समुद्र से विरोध और आशंका के बादल उठते रहे, तो हमारे उजले संकल्प पथ भूल जायेंगे। अतः आज दूरी को निकटता बनाने के मुहूर्त में हमें निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है।'

हिंदी गद्य विवेचना

इस कृति के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी ने साहित्य की जीवनव्यापी विविधता और उसमें प्रतिफलित होने वाले प्रायः सभी महत्वपूर्ण विषयों को लेकर इतने विस्तार और इतनी गहनता से विवेचन किया है कि पाठक के मन में भाव-विचार, संकल्प-भावना, व्यक्ति-समष्टि, राष्ट्र-परराष्ट्र, जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल, यथार्थ-आदर्श, सामयिकता-शाश्वतता, ज्ञान-विज्ञान, श्लीलता-अश्लीलता, प्रत्यक्ष-परोक्ष, परम्परा-प्रगति, सभ्यता-संस्कृति, रूप-कुरूप, शिव-सौंदर्य, नूतन-पुरातन, भौतिकता-आध्यात्मिकता, एकता-अनेकता, अतीत-वर्तमान, बाह्यजगत-अंतर्जगत, बुद्धि-हृदय, भावन-चिंतन, सुख-दुःख, अधिकार-अनधिकार, सिद्धांत-क्रिया, धर्म-कर्म, कठोर-कोमल, राग-विराग, युद्ध-शांति, शोषक-शोषित, नैतिक-अनैतिक, स्वभाव-संस्कार, मूर्त-अमूर्त, ह्रास-विकास, आस्था-अनास्था, देश-काल, नर-नारी, राजनीति-अर्थनीति, नास्तिक-आस्तिक, आत्मा-परमात्मा आदि के विषय में उनकी मान्यता और उनकी समन्वयवादी दृष्टि एवं उनके सामंजस्यपूर्ण जीवन-दर्शन के प्रति किसी प्रकार की उलझन शेष नहीं रह जाती और वह साहित्य के विराट् स्वरूप से परिचित होकर उसके आधार जीवन और जगत के प्रति अनायास ही संवेदनशील हो उठता है।

अनुभूति के रंगों से रंजित और व्यवस्थित सांस्कृतिक चिंतन से चित्रित समालोचना के ये संश्लिष्ट चित्र उनकी बहुमुखी प्रतिभा और उनकी स्वयं-प्रकाश प्रज्ञा के प्रौढ़तम प्रतीक हैं। इस विवेचना-पद्धति की चर्चा करते हुए श्री इलाचन्द्र जोशी ने कहा है— "हिंदी के अन्य आलोचकगण महादेवी जी के साधनात्मक और सहृदयतापूर्ण गहन चिंतन द्वारा प्रसूत इस विवेचना से लाभ उठा सकें तो यह हिंदी के लिए निश्चय ही बड़े सौभाग्य की बात होगी।"

अंत में यह कह देना आवश्यक है कि महादेवी जी की विवेचना उनके कवि तथा विचारक के सामंजस्य का सुफल है। साहित्य के सनातन और स्थायी सत्यों का निरूपण जिस निष्पक्ष और परिमार्जित एवं सरस-स्पष्ट शैली में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपने युग के सृजन में प्राण-प्रवेग भरने के साथ युग की समीक्षा को प्रेरणा देने में भी यह समीक्षा सफल रही है। सुलझे विचारों की शक्तिमत्ता, सूक्ष्म निरीक्षण की निष्ठा, आत्मानुभूत सिद्धांतों की सुबोध प्रतिपादना और जीवन-दर्शन की व्यापकता से संचालित यह विवेचना साहित्यिक अभिप्रायों के आकलन, अंकन और उद्घाटन में अद्वितीय है। जीवन की विकासशील संयोजना, सौंदर्य की आराधना तथा साहित्य-साधना के लिए आत्मा के जिस परिष्करण की अनिवार्यता होती है, वह महादेवी जैसे विदग्ध कलाकारों की निजी महत्ता है।

6. बहुमुखी रचना-कर्म की परंपरा और अज्ञेय प्रयाग शुक्ल

वात्स्यायन जी का रचना-कर्म बहुमुखी था, यह बात लगभग सर्वविदित है। इसे दुहराने में या यहाँ इसके विस्तार में जाने में कोई लाभ मैं नहीं देखता। पर स्वयं इस तथ्य को याद करके के कई लाभ हैं और इसका महत्व भी बहुत ज़्यादा है कि अभी दो साल पहले तक हमारे बीच एक ऐसा रचनाकार मौजूद था जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए कई विधाओं पर एक साथ भरोसा करता था।

दरअसल ऐसा भरोसा वह आजीवन करते रहे तथा यह उनके युग की विशेषता थी। या कि फिर उनका स्वभाव ही यही था। अगर इसे युग की विशेषता मानें तो पायेंगे कि उनके समकालीन महत्वपूर्ण रचनाकार ठीक वैसा ही काम नहीं कर रहे थे जैसा कि अज्ञेय ने किया और अगर इसे उनके स्वभाव की विशेषता माने तो पायेंगे कि वह सब समय स्वभाव से ही बँधकर बहुत-सी चीज़ें नहीं कर रहे थे। दरअसल वह कुछ ऐसा भी कर रहे थे जो उनके स्वभाव के विपरीत भले न रहा हो पर जिसे करने में उन्हें ज़रूरत से ज़्यादा खटना पड़ता था।

पर यह खटना उन्होंने ज़रूरी माना। हो सकता है ऐसा खटना उन्होंने अपने रचनात्मक लेखन की क्रीमत पर भी किया हो।

मुझे कई बार यह लगा है कि वात्स्यायन जी ने कई विधाओं में जो काम किया वह अपने लिये एक रचनात्मक वातावरण बनाने की खातिर भी किया। शायद उन्हें लगता रहा हो कि जैसा वातावरण वह अपने लिये साहित्य-जगत में पाना चाहते हैं वैसा वातावरण था नहीं। संभवतः इसी स्थिति के कारण उन पर ये आरोप भी लगते रहे कि वह जो कुछ भी करते हैं अपने को गरिमा मण्डित करने के लिए ही करते हैं।

तार सप्तक के प्रकाशन से लेकर प्रतीक तक तो ऐसे कई आरोप उन पर लगे ही, बाद में भी लगते रहे। यह भी कहा गया कि वह तो यह साबित करने पर तुले हैं कि 'मैं' जूते

हिंदी गद्य विवेचना

गाँठने से लेकर बागवानी तक का काम उतने ही कलात्मक ढंग से कर सकता हूँ जितने कलात्मक ढंग से अपने व्यक्तित्व से जुड़े अन्य प्रमुख काम करता हूँ।

उन पर लगे इन आरोपों की बहस में मैं नहीं जाऊँगा। वैसा करने पर मेरी यह चर्चा भी स्वयं एक अन्य दिशा में मुड़ जायेगी। वह कुछ भूलभुलैया साबित होगी जिसमें मैं फिलहाल पड़ना नहीं चाहता। आरोपों के खण्डन-मण्डन का भी मेरा कोई उद्देश्य नहीं है।

पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि भले ही उनके कुछ कामों में गरिमा मण्डन का अंश भी रहा हो पर आज उनके किए हुए कार्यों का महत्व न केवल ऐतिहासिक लगता है, वह कई अर्थों में उत्प्रेरक भी हो सकता है।

आज जब वात्स्यायन जी पर हम यह चर्चा कर रहे हैं तब ऐसा दौर है जिसमें कई संस्थाएँ संस्कृति, साहित्य और कला की दुनिया में एक साथ काम कर रही हैं। स्वयं भारत भवन उनमें से एक है। सरकार कई सांस्कृतिक केंद्र स्थापित कर ही चुकी है। भारत महोत्सवों और उनके बदले में आयोजित होने वाले अन्य देशों के महोत्सवों की भी एक परम्परा पड़ चुकी है। सांस्कृतिक साहित्यिक दुनिया का यह दृश्य-परिवर्तन ऊपर से बहुत रंगारंग नज़र आता है। पर कुछ ऐसा कारण है कि स्वयं कई रचनाकारों के प्रयत्नों या उनके सम्मिलन से पैदा होने वाला यह परिदृश्य किसी रचनाकार को यह अहसास भी करा ही सकता है कि इस सबके बावजूद वातावरण उनके अनुकूल नहीं है। वह अपने स्तर पर, अपने मोर्चों पर खटने के लिए स्वयं बाध्य है या उसे बाध्य हो ही जाना चाहिए।

दरअसल एक रचनाकार के प्रयत्नों और एक संस्था के प्रयत्नों में फ़र्क होता ही है। वात्स्यायन जी के संदर्भ को ही ध्यान में रखें तो यह फ़र्क अच्छी तरह समझ में आ सकता है। मैं समझता हूँ वात्स्यायन जी के बहुवचन को इस अर्थ में भी देखा जाना चाहिए। वैसे यहाँ यह याद करना भी ज़रूरी है कि स्वयं वात्स्यायन जी ने कुछ संस्थाएँ बनायीं या उनसे जुड़े और कई अवसरों पर उनका यह जुड़ाव विवादास्पद भी बना—मसलन 'कांग्रेस फॉर कल्चरल प्रीडम' के साथ जुड़ाव। पर वह एक अलग प्रसंग है। मैं यहाँ एक रचनाकार के रूप में वात्स्यायन जी की उपलब्धियों की बात ही ज़्यादा करना चाह रहा हूँ या उन्हीं पर ज़ोर देना चाह रहा हूँ।

वात्स्यायन जी के बहुमुखी रचना-कर्म का एक और संदर्भ था। वह भी उतना ही ध्यान में रखने लायक है। एक ओर जहाँ वह अपने बहुमुखी रचना-कर्म से अपने और हिंदी के लिए एक नया वातावरण तैयार कर रहे थे, कई मोर्चों पर लड़ने की चुनौती स्वीकार कर रहे थे, वहीं कुछ चुनौतियाँ दे भी रहे थे। ये चुनौतियाँ वह अपने पूर्ववर्तियों से अधिक अपने परवर्तियों को दे रहे थे—ऐसा मुझे लगता है। जहाँ तक पूर्ववर्तियों का सवाल है, उनसे उनके संबंध आदर-भाव वाले अधिक थे। कुछ तनाव भी थे और ज़ाहिर है कि

बहुमुखी रचना-कर्म की परंपरा और अज्ञेय

वात्स्यायन जी बोध के मामले में उनसे कहीं अलग भी पड़ते थे पर कुल मिलाकर आदर-भाव और एक सामंजस्य उन संबंधों में था।

पूर्ववर्तियों से अपने संबंधों को वह स्वयं अपनी पुस्तक 'स्मृति लेखा' में दर्ज कर चुके हैं। और पुस्तक के आधार पर भी वही तथ्य उभरते हैं जिनका मैंने ऊपर उल्लेख किया है। एक 'रेणु' को छोड़ दें तो 'स्मृति लेखा' में सभी लेख-संस्मरण पूर्ववर्तियों के बारे में ही हैं।

ऊपर मैंने चुनौती शब्द का इस्तेमाल किया। वह शायद कुछ भारी शब्द है—इस संदर्भ में। पर अपने परवर्तियों की वह अगर बहुमुखी रचना-कर्म से चुनौती नहीं दे रहे थे तो कम-से-कम कौंच तो रहे ही थे। संभवतः कुछ इस भाव से कि 'देखो यह मैं कह रहा हूँ और तुमसे भी कुछ अपेक्षित है'।

यहीं यह भी याद कर सकते हैं कि अपने पूर्ववर्तियों, अपने समकालीनों और अपने परवर्तियों से एक साथ संवाद चलाने के मामले में वात्स्यायन जी हिंदी में एक बहुत अलग नज़र आते हैं। उनका बहुमुखी रचना-कर्म उनका बहुवचन, अतीत और वर्तमान और भविष्य को मानो एक साथ झकझोरने वाला था।

परवर्तियों से उनके संबंध स्नेह-प्रेम वाले भी रहे और तनाव वाले भी। पर उनसे दूर रहने वालों का भी उनसे एक संवाद बनता ही था। भले ही इकतरफ़ा। इस मामले में इकतरफ़ा कि वात्स्यायन जी उनसे सीधा संवाद भले न कर रहे हों पर जो दूर रहते थे वे भी उनकी उपेक्षा एकदम से कर नहीं सकते थे। कर नहीं पाते थे।

इस तरह देखें तो वात्स्यायन जी की स्थिति एक मामले में बहुत अच्छी थी। अपने बहुमुखी रचना-कर्म से उन्होंने अपने को कई दिशाओं की ओर उन्मुख कर रखा था—इन दिशाओं से अनुकूल-प्रतिकूल हवाएँ आती रहती थीं जो स्वयं उन्हें सक्रिय रखने का अतिरिक्त बल तो देती ही रही होंगी।

पर क्या कोई रचनाकार बहुमुखी रचना-कर्म की ओर इसीलिए प्रवृत्त होता है कि उसे कई मोर्चों पर सक्रिय रखने वाली हवाएँ चलती रहें जिससे वह ज़्यादा जीवन्त बना रहे? नहीं, बहुमुखी रचना-कर्म भी अगर आन्तरिक ऊर्जा से प्रेरित नहीं होगा तो ये सब हवाएँ भी काम न आयेंगी।

ऐसे में जानने वाली बात यह भी है कि वात्स्यायन जी का बहुमुखी रचना-कर्म दरअसल किन आंतरिक ज़रूरतों से प्रेरित था या ऐसी कौन-सी आंतरिक ज़रूरतें हैं जो उनके बहुमुखी रचना-कर्म में परिलक्षित होती हैं। एक आसान जवाब तो यही होगा कि उन्होंने जीवन ही इतनी विविध प्रकार का जिया कि उसकी अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकारों में ही हो

हिंदी गद्य विवेचना

सकती थी। एक ओर शेखर है तो दूसरी ओर अरे यायावर रहेगा याद है, उनकी घुमक्कड़ी है, पुरातत्व में दिलचस्पी है, फ़ोटोग्राफ़ी का शौक है, पक्षियों-वनस्पतियों-पेड़ों के बारे में अध्ययन और जिज्ञासा है। पर इस आसान जवाब से काम चलने वाला नहीं है। क्योंकि वात्स्यायन जी की बाद की कविताओं और उनके चिन्तन-परक निबंधों को शेखर और अरे यायावर रहेगा याद के साथ रख कर देखें तो पायेंगे कि इनके बीच कोई सीधी समानता है नहीं।

अभिव्यक्ति के रूप भी कुछ ऐसे हैं कि कुछ कृतियाँ तो उनके जीवन तथ्यों का जहाँ-तहाँ प्रकटीकरण लगती हैं पर कुछ के स्रोत ढूँढ़ पाना आसान नहीं है। फिर उनकी पत्रकारिता, कलाओं के प्रति उनका लगाव है और उस क्षेत्र में उनका बहुतेरा काम है। यह किन आंतरिक ज़रूरतों का परिणाम है?

दरअसल वात्स्यायन जी के संदर्भ में आंतरिक और बाह्य या परिस्थितिगत ज़रूरतें एक साथ काम करती हुई लगती हैं। मैं फिर उसी बात पर लौट आना चाहता हूँ कि उनका बहुमुखी रचना-कर्म इस बात का भी परिणाम था कि वह अपने लिये और भिन्न बोध वाली आधुनिक रचनाशीलता के लिए एक ऐसा वातावरण चाहते थे जो उन्हें मानो सामान्यतः मिल नहीं रहा था। 'प्रतीक' से लेकर 'दिनमान' तक की पत्रकारिता यही तो बताती है। 'सैनिक' और 'विशाल भारत' जैसे पत्रों में उन्होंने काम किया ही था।

एक बात और याद करने वाली है। वात्स्यायन जी अपने समय के कई महत्वपूर्ण व्यक्तियों के सम्पर्क में आये। ये व्यक्ति ज़रूरी नहीं कि साहित्य के क्षेत्र के ही रहे हों। जाने-अनजाने कई कामों की प्रेरणा उन्हें इन व्यक्तियों से भी मिली। पिता की छाप तो पड़ी ही, रायकृष्ण दास जैसे कई व्यक्तियों ने भी उनके कई कला-संस्कारों और उनके बहुवचन को गहरा किया। उन पर प्रभाव डाला।

वात्स्यायन जी के बहुवचनात्मक रूप को एक और तरह से भी जाना जाना चाहिए। जहाँ तक हिंदी के आधुनिक काल का सवाल है, उसमें प्रसाद और निराला जैसे दिग्गज थे ही जिन्होंने प्रायः सभी विधाओं में लिखा और पत्रकारिता की। इनका प्रेरक रूप तो वात्स्यायन जी के सामने रहा ही होगा। जहाँ तक विधाओं का सवाल है वात्स्यायन जी ने लगभग उतनी ही विधाओं में काम किया, जितनी विधाओं में इन लोगों ने काम किया था। कविता, कहानी, उपन्यास, लेख, समीक्षा, आलोचना, इन्होंने भी लिखी ही थीं। और जहाँ तक कला-संस्कृति का सवाल है, प्रसाद ने काव्य और कला शीर्षक से एक गंभीर पुस्तक लिखी थी। इसके अलावा भी इस क्षेत्र में प्रसाद का बहुत-सा काम है जिसमें, स्वयं राय कृष्ण दास के साथ मिलकर भारत कला भवन के लिए कलाकृतियाँ इकट्ठा करने का काम तक शामिल है।

बहुमुखी रचना-कर्म की परंपरा और अज्ञेय

दरअसल हिंदी में रचनाकार के बहुवचन की शरूआत तो स्वयं भारतेंदु से हो गयी थी। शायद ही कोई विधा ऐसी हो जिसमें उन्होंने न लिखा हो। पत्रकारिता, अनुवाद इन सभी क्षेत्रों में भी उनका योगदान न केवल सुपरिचित है, वह हिंदी की नींव को पुख्ता करने वाला भी सिद्ध हुआ। साहित्य की विधाओं के अलावा उन्होंने कलाओं पर और न जाने कितने अन्य विषयों पर लिखा है। संगीत पर लिखा हुआ भारतेंदु का संगीत-सार है। सन् 1817 में 'हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान' शीर्षक से जो व्याख्यान उन्होंने हिंदी वर्धनी सभा में दिया था उसकी दो पंक्तियाँ ये हैं :

विविध कला शिक्षा अमित ज्ञान अनेक प्रकार।

सब देसन ते लै करहु भाषा माँहि प्रचार।

इस अर्थ में देखें तो वात्स्यायन जी का 'बहुवचन' इस परम्परा का एक विस्तार भी था। पर किसी परम्परा का विस्तार भी हम तभी करते हैं जब उसे ज़रूरी मानें। तो एक परम्परा के विस्तार वाले अर्थों में भी वात्स्यायन जी बहुवचन को ज़रूरी मान रहे थे। यह ज़रूरत आन्तरिक भी थी और परिस्थितिगत भी। लेकिन ज़ाहिर है कि इस परिस्थितिगत ज़रूरत को उन्होंने अपने अभ्यन्तर में अच्छी तरह बैठा लिया था।

'प्रतीक' के प्रकाशन को ही लें। यह आज़ादी के कुछ वर्षों बाद निकला। यह उस काल में भी निकला जब विभिन्न विधाओं में आधुनिक बोध की नयी सुगबुगाहटें शुरू हो गयीं थीं। फ़िल्म, नृत्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला में साहित्य की तरह ही नयी ज़मीन तलाशने की एक नयी बेचैनी दिखायी पड़ने लगी थी। आज कोई 'प्रतीक' की पुरानी फ़ाइलें उठाकर देखे तो पायेंगे कि 'प्रतीक' में इन सब चीज़ों की नोटिस ली जा रही थी। यह वह दौर भी था जब कलाओं पर सैद्धांतिक लेखों की ही नहीं, समीक्षात्मक लेखों की ज़रूरत भी बढ़ रही थी।

वात्स्यायन जी के बहुवचन को अंग्रेज़ी की दुनिया के बरक्स रखकर भी देखना ज़रूरी है। वह अंग्रेज़ी की दुनिया से और अन्य भारतीय भाषाओं की दुनिया से भी दूर तक परिचित थे। उन्हें यह भी लगा होगा कि हिंदी की मौलिक ज़रूरतों के कारण उसमें फिर कई क्षेत्रों में, मौलिक तरह से कई काम होने चाहिए। 'प्रतीक' से लेकर 'दिनमान' तक उन्होंने एक बदले हुए परिदृश्य में हिंदी की दुनिया के लिए ये काम ज़रूरी माने और किये। इसी अर्थ में 'दिनमान' 'टाइम' या 'न्यूज़वीक' की नकल नहीं था जैसा कि एक ज़माने में उसके बारे में प्रचारित किया गया था।

सच्चाई तो यह है कि 'दिनमान' में शुरू में और फिर रघुवीर सहाय के सम्पादन में संस्कृति-कला की दुनिया में और अन्य कई क्षेत्रों में, कई ऐसे काम हुए जो अंग्रेज़ी की

हिंदी गद्य विवेचना

दुनिया में या अन्य भारतीय भाषाओं में भी संभवतः निरन्तरता और समग्रता से न हुए होंगे।

वात्स्यायन जी के संदर्भ में इन तथ्यों को आज याद करना पहले से भी अधिक प्रासंगिक है। आज संस्कृति की दुनिया में अंग्रेज़ी पहले से कहीं ज़्यादा हावी है। सांस्कृतिक संस्थाओं पर भी। ऐसी स्थिति में यह चुनौती बन रही है कि हिन्दी फिर इस क्षेत्र में गम्भीर काम करने के लिए—लगातार करने के लिए—बल और वातावरण अर्जित करे। हो यह रहा है कि हिन्दी में विभिन्न क्षेत्रों में मौलिक और गम्भीर काम करने के लिए लोगों को लगातार हतोत्साहित होना पड़ रहा है। दुर्भाग्य से आज उत्तर भारत के हिन्दी-भाषी समाज में अपनी ही भाषा को प्रति एक उचाटपन है।

ऐसी स्थिति में भारतेन्दु से लेकर वात्स्यायन जी तक की 'बहुवचनी' परम्परा का स्मरण ज़रूरी तो है ही, उसे आगे बढ़ाने की भी ज़रूरत है।

ज़ाहिर है कि हर युग और दौर की अपनी ज़रूरतें अलग-भी होती हैं पर उस उत्कट बेचैनी और उस खटने की स्मृति तो बड़े काम की है ही जो भारतेन्दु, निराला, प्रसाद और अज्ञेय में थी।

7. एक व्यक्ति : एक युग शिवप्रसाद सिंह

प्रेमचन्द हिंदी में सिर्फ एक व्यक्ति का नाम नहीं है, बल्कि यह एक पूरे युग का अभिधान हो गया है। उनका कथा-साहित्य हमारे समाज के एक युग का दर्पण है। इसी को लक्ष्य करते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा था, 'अगर कोई उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, सुख-दुःख और सूझ-बूझ को जानना चाहें तो प्रेमचन्द से अधिक उत्तम परिचायक इस युग में नहीं पा सकेगा। इसे इससे अधिक सच्चाई के साथ दिखा सकने वाले परिदर्शक को हिंदी और उर्दू की दुनिया नहीं जानती।'

वस्तुतः प्रेमचन्द का युग परस्पर विरोधी अनेकानेक भाव-धाराओं से क्रमित था। भारतीय पुनर्जागरण के वे वाक्-वाहक थे। कथा-साहित्य, किसी भी युग की जाग्रत विकासशील चिन्तनधारा और सामान्य जन-जीवन के बीच एक भावकल्प-सेतु का काम करता है। प्रेमचन्द इस सेतु के निर्माता थे और उसके यान्त्रिक भी। इसी कारण उनके साहित्य में समाज-सुधार, राष्ट्रीयता, मानववाद और व्यक्ति-मर्यादा आदि अनेक भावों का अद्भुत समन्वय दिखाई पड़ता है। दूसरी ओर इन नयी परिस्थितियों से उत्पन्न परिवर्तनों को वे खुद जीते और भोगते दिखाई पड़ते हैं। अनमेल विवाह, गरीबी, तंगदस्ती, विदेशी शासन के अत्याचार, टूटते हुए परिवारों की कसक और पीड़ा, विधवा-विवाह, जमींदार, कारिन्दा और पटवारी के हथकंडे, शोषण, तत्कालीन शासन की चापलूसी और व्यक्ति-सम्मान के विकेन्द्रीकरण के प्रश्न, जो उनके कथा-साहित्य के विषय बने, किसी-न-किसी रूप में उनके व्यक्तिगत जीवन से भी सम्बद्ध रहे। उन्होंने इन प्रश्नों की सारी भयावह और कष्टदायक पीड़ा को स्वयं झेला। उनका यह संघर्षशील व्यक्तित्व उनके चरित्रों में पूर्णतः निक्षिप्त दिखाई पड़ता है।

ऐसे व्यक्ति की जीवनी स्वयं में जितनी भी महत्वपूर्ण हो, सरल नहीं हो सकती। प्रेमचन्द ने अपने जीवन के विषय में लिखा है—'मेरा जीवन सपाट समतल मैदान है, इसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं; पर टीलों, पर्वतों, घने-जंगलों, गहरी घाटियों और खण्डहरों का स्थान

हिंदी गद्य विवेचना

नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौकीन हैं, उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी।^१ प्रेमचन्द का यह 'सपाट' जीवन किसी भी चित्रकार के लिए चुनौती हो सकता है, क्योंकि यह एक ऐसा 'लैण्डस्केप' है जिसमें प्रकृति अपनी वदान्यता से चित्रकार को सहायता न पहुँचाकर उसे हतोत्साहित ही करती दिखाई पड़ती है।

इस ज़मीन और खमीर की चुनौती को स्वीकार करने के लिए कई प्रकार की अर्हताएँ चाहिए— 1. व्यक्ति का ज्ञान, 2. सामग्री और उसके आधार पर चरित्र को पुनः निर्मित कर सकने की क्षमता, 3. तत्कालीन युग की मूल प्रवृत्ति से वाकफ़ियत और व्यक्ति को उसकी व्यापक सीमाओं से जोड़ सकने की कुशलता।

अमृतराय ने इस सपाट 'लैण्डस्केप' की चुनौती स्वीकार की और उन्होंने प्रेमचन्द की जीवनी को अपनी पूरी योग्यता के साथ एक जीवन्त 'डाकुमेण्ट' बना दिया, यह उनकी बहुत बड़ी सफलता है।

जीवनी साहित्य— 'दि रिनेसाँ' की देन माना जाता है। राजपुरुषों की ऐतिहासिक अथवा धर्म-प्रचारकों की सांस्कृतिक जीवनियाँ पहले भी लिखी जाती रही हैं, किन्तु ये या तो युद्धों का इतिहास बन गयीं या धर्मग्रन्थों की प्रचारिकाएँ जिसे शिप्ले ने *Biographic a the' se* कहा है। व्यक्ति के व्यक्तित्व पर ज़ोर देनेवाली जीवनियाँ तो रिनेसाँ की ही देन हैं। और फिर प्रेमचन्द का जीवन तो भारतीय रिनेसाँ की एक जीवित तसवीर ही है, उनका पूरा जीवन ही इस रिनेसाँ का परिणाम है।

जहाँ तक व्यक्ति को जानने का प्रश्न है, अमृतराय की योग्यता स्वतःसिद्ध है। उन्होंने प्रेमचन्द के जीवन को क्रमबद्ध रूप में उपस्थित करने में कुछ भी उठा नहीं रखा है। प्रेमचन्द के संबंध में जीवनी, संस्मरण, चिट्ठी-पत्री, नज़दीकी लोगों की साखी, गवाहियाँ, यह सब कुछ इस विशाल इमारत के लिए ईंट-पत्थर का काम करते हैं। लेखक का कौशल इस बात में है कि उसने इस पूरी सामग्री की छानबीन की और उसे इस प्रकार सजा-सँवार कर उपस्थित किया कि प्रेमचन्द का जीवन—जन्म से मृत्यु पर्यन्त का जीवन—धीरे-धीरे खुलता चला जाये। अमृतराय ने निःसन्देह यह सब एक बड़ी आत्मीयता और महान् कर्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर किया है; किन्तु इसी के साथ खतरा, एक प्रत्यवाय भी चिपका हुआ था। नज़दीकी व्यक्ति प्रायः ही इस खतरे के शिकार हो जाते हैं। यह खतरा है अतिमूल्ययन का। यह दुहरा होता है। एक तो निकटता के कारण जीवनीकार व्यक्ति को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर चित्रित करता है, दूसरे उसकी त्रुटियों और कमज़ोरियों को तोप-ढाँककर उपस्थित करता है यदि ऐसा न कर सके तो उन्हें दार्शनिक जामा पहनाकर बड़ी बात का रूप देने की कोशिश करता है। यह दोहरा खतरा अमृतराय के भी सामने था। परन्तु वे इससे काफ़ी हद तक बचने में सफल हुए हैं।

एक व्यक्ति : एक युग

अमृतराय इससे पूरी तरह बच सकें हैं, यह कहना तो शायद ठीक न होगा; पर इससे वे बचे रहे। इसलिए उन्होंने शायद आवश्यकता से अधिक तटस्थता की एक आंतरिक चेतना को सब जगह प्रधानता दी है। इसी कारण जब वे प्रेमचन्द की ऐसी प्रवृत्तियों का चित्रण करते हैं जो स्वयं में अच्छी और महान् हैं, किन्तु व्यवहार में उन्हें कमजोर या असफल सिद्ध करती हैं, तो एक हलके-से व्यंग्य का पुट अपने-आप आ जाता है। यह जीवनीकार और वर्ण्य व्यक्ति के बीच की तटस्थता को समाप्त कर देता है। उदाहरण के लिए कृष्णकुमार मुखोपाध्याय का प्रसंग। इस प्रसंग में प्रेमचन्द की कोई गलती थी तो सिर्फ़ यही कि 'वे आँखें बिछाये बैठे रहते हैं कि कब कोई प्रतिभावान् दिखाई पड़े और वे उसका स्वागत करें।' बहरहाल इस बार का स्वागत उनके लिए बहुत महँगा पड़ा। 'तब यह बात खुली कि यह सब मुन्शीजी के 'नये बेटे' की करतूत थी और मुन्शीजी थे कि झोंप के मारे उनकी आँखें बीवी के सामने न उठती थीं। 'नये बेटे' का यह व्यंग्य एक ऐसी तटस्थता का सूचक है जिसमें अनजाने ही 'पुराने या असली बेटे' का वाजिब आक्रोश भी थोड़ा-सा घुला-मिला लगता है, यह सही है कि ऐसा शायद इसलिए होता है कि पाठकों को अमृत और प्रेमचन्द का रिश्ता पहले से मालूम है। ऐसा इस जीवनी में अनेकशः हुआ है। जब लेखक एक आदर और प्यार-मिश्रित भाव से प्रेमचन्द पर फ़बतियाँ कसने में नहीं चूकता।

इस जीवनी की सबसे करारी मुहिम शायद प्रेमचन्द का प्रथम पत्नी से संबंध-विच्छेद की है। जीवनीकार सर्वत्र प्रेमचन्द को पक्का गृहस्थ, किसान मानता है। पूरी जीवनी में प्रेमचन्द को रूढ़ियों से निरंतर जूझनेवाला संघर्षरत प्राणी कहा गया है। वे एक प्रबल सुधारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। प्रथम पत्नी का त्याग इनके इन सभी रूपों के सामने प्रश्न-चिह्न लगा देता है। यह न तो सामान्यतः किसान करता है, न गृहस्थ और न तो सुधारक। जीवनीकार लिखता है— 'विदाई हुई। और नवाब (!) अपनी शीरीं, अपनी लैला को ऊँटगाड़ी पर बिठाकर [हाँ, ऊँटगाड़ी ! नियति कभी अधूरा व्यंग्य नहीं करती !] अपने घर ले चला। × × देखते ही शकल से नफ़रत हो गयी, भद्दी, थुलथुल, फूहड़। इतना ही नहीं 'उनके' चेहरे पर चेचक के गहरे-गहरे दाग थे और एक टॉग कुछ छोटी थी, जिसके कारण गरीब को कुछ भचककर चलना पड़ता था। महीने में एकाध बार हबुआती भी ज़रूर थीं, जब इन पर भूत-प्रेत आते थे। सुनते हैं दिमाग में कुछ खलल भी था। क्योंकि लड़ाई होने पर अपने पति से कहती थीं—हम तुम्हें गदहा छानने के पगहे में बँधवाकर मँगा लेंगे। ऐसे-ऐसे जादू-टोने हैं हमारे पास।'

इस चित्र में, जिसे जीवनीकार 'औरत का कार्टून' कहता है, एक साथ ऐबों की इतनी बड़ी तालिका सामने आती है कि सहसा सन्देह हो जाता है कि क्या सच इतनी-इतनी 'खूबियाँ' उस औरत में एक साथ इकट्ठा हो गयी थीं। प्रमाणों के बिना एक क़दम आगे

हिंदी गद्य विवेचना

न चलने वाला लेखक यहाँ अपने 'सुनते हैं' पर भरोसा कर लेता है। बहरहाल यह प्रसंग प्रेमचन्द के जीवन का सबसे कमज़ोर अंश है और इस जीवनी के बाद भी वह अपनी जगह पर ही वर्तमान है। कमज़ोर यह इसलिए नहीं है कि एक लेखक के जीवन की घटना है बल्कि इसलिए कि यह पूरी घटना प्रेमचन्द के व्यक्तित्व से मेल नहीं खाती। इसलिए हमें इसे उनकी विवशता ही मान लेनी चाहिए जैसा कि लेखक ने लिखा है, 'अगर यह बात सच भी हो कि स्त्री जानकी मैया के समान ही निर्दोष थी तो भी शायद इस मामले में प्रेमचन्द को मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के समान दोषी ठहराना भी अन्याय हो, क्योंकि यह प्रसंग केवल दुःखकर है।'

इस जीवनी का दूसरा पक्ष है व्यक्ति को तत्कालीन परिवेश के साथ सही ढंग से जोड़ने और प्रतिष्ठित करने का। अमृतराय को यहाँ भी स्पृहणीय सफलता मिली है। उन्होंने भारतीय पुनर्जागरण के प्रत्येक पहलू का विशद परिचय इस एकाग्रता के साथ दिया है कि उससे प्रेमचन्द के जीवन के उस पहलू को चमकाया जा सके। राजनीतिक आन्दोलनों के चित्रण और उद्घरण कई स्थानों पर आवश्यकता से अधिक विस्तृत और भारी प्रतीत होते हैं। सुधारवादी, आदर्शवादी प्रेमचन्द की अन्तिम कहानियाँ 'कफ़न', 'पूस की रात' आदि गहन निराशा में समाप्त होती हैं। 'गोदान' के होरी में भी यह निराशा किसी-न-किसी रूप में झलक जाती है। ये प्रश्न प्रेमचन्द के हर पाठक को परेशान करते हैं। ऐसा क्यों हुआ? जीवनी के अट्ठाईसवें प्रकरण में राष्ट्रीय आंदोलनों की विफलता और प्रेमचन्द की निजी स्थिति की विषमता का जो चित्रण किया गया है वह इस 'क्यों' का उत्तर भलीभाँति दे देता है। दर्द का हृद से गुज़रना है दवा हो जाना।

चुनार में खेल के मैदान में गोरे सैनिकों से लड़ाई और गोरखपुर में कलक्टर या इन्स्पेक्टर के साथ उनकी मुठभेड़ के दो किस्सों को छोड़कर उनके जीवन में उग्रमतवाद का प्रभाव ढूँढ़ना उचित नहीं मालूम होता। किसान स्वभाव से ही समझौतावादी होता है, और गान्धीवादी का तो वह फ़लसफ़ा है ही। तिलक का प्रभाव रहा होगा, क्रान्तिकारियों से सहानुभूति थी, पर वे मूलतः गोखले और गान्धी के शान्ति-पथ के ही पथिक थे। वे कलम के सिपाही थे; पर सत्याग्रही कोटि के, हिंसक कोटि के नहीं।

जीवन की सामग्री के रूप में प्रेमचन्द की कहानियों का भी बहुत बार इस्तेमाल हुआ है। 'दफ़्तरी' जैसी कुछ कहानियों में जहाँ प्रेमचन्द की दृष्टि से तख़्त्युल का बहुत कम दख़ल है, भले ही जीवन संबंधी कुछ सूत्र हाथ आ जायें। वैसे अमूमन उनकी कहानियों के भीतर उनकी जीवन-चर्या ढूँढ़ना उनके साथ अन्याय करना कहा जायेगा। यह सही है कि परिवेश, चरित्र आदि के चित्रण में लेखक के अनुभव और दृष्टिकोण की पूरी छाप होती है; पर उसे जीवन मान लेना कथा-साहित्य में 'तख़्त्युल' के उचित अधिकार में हस्तक्षेप करना कहा जायेगा। इसमें एक दूसरी तरह की भी लाभ-हानि दिखाई पड़ती है।

एक व्यक्ति : एक युग

अनेक अवसरों पर उनकी कहानियों या उपन्यासों को चरित्र या घटनाओं के उनके जीवन की असली घटनाओं या चरित्रों से जोड़ देने के कारण एक नये अर्थ की सृष्टि हुई है। यह अर्थ कभी ज़्यादा सुन्दर तो कभी ज़्यादा बदतर भी हो सकता है। साहित्य को तटस्थ साहित्य के रूप में पढ़नेवाले पाठक के मन में उत्पन्न सांकेतिक रूप-सौन्दर्य या अर्थ कभी-कभी क्षतिग्रस्त भी हो सकता है।

जो भी हो, प्रेमचन्द की यह जीवनी प्रेमचन्द के पूरे व्यक्तित्व और साहित्य को एक व्यापक जीवन्त पृष्ठभूमि प्रदान करती है, इसमें सन्देह नहीं। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व कहीं ज़्यादा स्थूल, स्पष्ट, धूल-माटी से लिपटा, संघर्षरत, रोज़मर्रा की समस्याओं से जूझता, गिरता-उठता हमारे सामने खड़ा हो गया है। यह जीवनी एक प्रकार से हिंदी के आधुनिक युग के आरंभ का ज्ञान-कोश बन गयी है। इसके माध्यम से अनेक समस्याएँ—राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, जो हमारे देश के इतिहास का अंग बन गयी है, नये सिरे से एक व्यक्ति का संदर्भ बनकर उठी हैं और ये 'प्रेमचन्द व्यक्ति' को समझने में सहायक हुई हैं। इनसे हमारे साहित्य पर एक नया प्रकाश पड़ा है।

अमृत ने इसे कथा की शैली में लिखा है, इसे वे एक परिचित व्यक्ति पर आधारित उपन्यास कहना चाहते हैं। उन्हें अफ़सोस है, "घटना-प्रसंगों का आविष्कार करने की मुझे छूट नहीं है, कितने ही मोटे-मोटे रस्सों से मैं अच्छी तरह खूँटे से बँधा हुआ हूँ लेकिन मुझे उसकी शिकायत नहीं है।" वस्तुतः प्राप्त सामग्री के आधार पर अमृत ने प्रेमचन्द को पुननिर्मित नहीं तो पुनः अन्वेषित अवश्य किया है। वे अपने चरित्र के साथ इतने तन्मय हो रहे हैं कि उनका चित्रण जीवन से स्पन्दित और अनुभूतियों से अनुप्राणित दिखाई पड़ता है। प्रेमचन्द के बचपन को तो जैसे उन्होंने 'अशिथिल' समाधि की अवस्था में पहुँचकर लिखा है, हिंदी में बचपन का इतना सुन्दर, मार्मिक, भावपूर्ण वर्णन कम ही दिखाई पड़ता है।

'कलम का सिपाही' अमृतराय की प्रशंसनीय कथोपलब्धि मानी जायगी। यह अद्भुत किस्सागोई और षट्स जुबान किसी को भी एक बार अपनी लपेट में ले लेगी, इसमें तनिक सन्देह नहीं। हिंदी भाषा की शुद्धता के प्रेमी शायद भाषा से नाक-भौ सिकोड़ें; पर भाषा की जीवनी-शक्ति से जो परिचित हैं, वे इसकी प्रशंसा ही करेंगे और अमृत को हार्दिक बधाई देने में कभी संकोच का अनुभव न करेंगे।

8. राहुल का हिमालय-प्रेम गुणाकर मुले

सन् 1951 की गर्मियों की बात है। सहारनपुर के पं. कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' मसूरी पहुंचकर राहुलजी के 'हर्न क्लिफ' निवास के नज़दीक के 'हर्न हिल' बंगले में टिके। दोनों 1938 ई. से एक-दूसरे से परिचित थे। शाम को टहलने निकलते, तो प्रभाकरजी राहुलजी से उनके जीवन की कई तरह की बातें पूछते चलते। एक दिन राहुलजी अपने घुमक्कड़ी के जीवन के कुछ रोचक संस्मरण सुना रहे थे, तो प्रभाकरजी ने उन्हें बीच में ही टोका, और पूछा - 'आप खूब घूमे हैं और आपने संसार के अनेक सौंदर्य-केंद्र देखे हैं। आपको संसार में सबसे सुंदर क्या लगता है?'¹

राहुलजी का उत्तर था - 'हिम (बर्फ) मुझे सुंदर लगता है। हिम पड़ा हो, दूर तक हिम ही हिम और बीच-बीच में कहीं-कहीं कुछ और, बस बहुत सुंदर है।'

प्रभाकरजी ने आगे पूछा - 'और दूसरे नंबर पर?' तो बोले - 'देवदारु बहुत सुंदर लगता है।'

सचमुच ही, देवदारु और हिमपात का नज़ारा राहुलजी को बेहद पसंद था। उनके उद्गार भी हैं : 'पड़ती हुई बर्फ का दृश्य बड़ा मोहक मालूम होता है....। हिमराशि और हिमपात बड़े सौंदर्य की वस्तु हैं....। देखने में नयनाभिराम हिमराशि की श्वेतिमा मन को मोहक मालूम होती है।'²

जनवरी 1957 के आरंभ में मसूरी में बर्फ पड़ी, तो राहुलजी उसका वर्णन करते हैं : 'ज़मीन पर दो फुट बर्फ पड़ी हुई थी, मानो छोटे दाने वाली चीनी बिछी हुई हो। ... देवदारु दिन के 9 बजे तक भी हिमयुक्त नहीं हुआ था। उसकी सुई-जैसी पत्तियाँ अपने स्वाभाविक रंग को छोड़कर रुपहली बन गई थीं और पत्ती सहित डालियाँ हाथ के पंजे की तरह बर्फ के लौंदों से ढकी विचित्र-सी मालूम होती थीं। ... ऊपर वाली पहाड़ी पर जो सीधे खड़े हरे-हरे शिखरदार देवदारु दिखाई पड़ते थे वे सब सिर से पैर तक बर्फ से ढके कुछ दूसरे ही वृक्ष मालूम होते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि खंभों के सहारे विकराल मक्के की बालें लटकाई गई हैं। या पृथ्वी से स्वर्ग के रुपहले देवदारु निकले हुए हैं ...!'³

राहुल का हिमालय प्रेम

तिब्बत की अपनी अत्यंत कष्टप्रद चार यात्राओं में प्रकृति की जिस एक चीज़ ने राहुलजी को सबसे ज्यादा सुख पहुँचाया, उन्हें स्फूर्ति प्रदान की, वह थी देवदारु वृक्षों की हरीतिमा। देवदारु वृक्षों के बीच पहुंचकर वे पीछे की अपनी यात्रा के सारे कष्ट भूल जाते थे। अपनी पहली तिब्बत-यात्रा (1929 ई.) में वे छद्मवेश में नेपाल के सीमांत इलाको के एल्मो गाँव की ओर जा रहे थे। नए बूट ने काट खाया था, चलना बहुत मुश्किल हो रहा था, ज्यादा चढ़ाई आने पर एक हट्टे-कट्टे आदमी की पीठ पर चढ़कर किसी तरह आगे बढ़ रहे थे। लिखते हैं : 'एल्मो गाँव अभी कुछ दूर रह गया था, तभी से देवदारु वृक्षों का अनुपम हरित सौंदर्य दिखलाई देने लगा। अब यहाँ काठमांडो की तरह गरमी नहीं थी। ऊपर से यह स्वर्गीय हरीतिमा हमारी आँखों को अपने कोमल मधुर स्पर्श से आप्लावित कर रही थी। मुझे बहुत खुशी हुई इस सुंदर दृश्य को देखकर ...।' ⁴

राहुलजी तीसरी तिब्बत-यात्रा (1936 ई.) से लाछेन-गंतोक (सिक्किम) के रास्ते भारत लौट रहे थे, अकेले ही। लाछेन-जोत पार करके नीचे उतरने पर आगे बढ़े, तो 'चार बंजे से नंगे पहाड़ों की जगह झाड़ी वाले पहाड़ आने लगे, फिर देवदार आ गए, और बीस मील तक अब पहाड़ों पर देवदार ही छाए हुए थे साढ़े चार महीने बाद तरसती आँखों को फिर वृक्षों से आच्छादित पर्वत देखने को मिले, और यह थे देवदार के सुंदरतम वृक्ष।' ⁵

देवदार कहीं भी क्यों न हो, उन्हें बेहद आकर्षित करता था। 1935 ई. में भिक्षु राहुल जापान गए थे और वहाँ नित्ता में करीब डेढ़ महीने ब्योदो महाशय के घर में रहे थे। बताते हैं : 'मंदिर और घर के हाते में एक छोटा-सा बाग , जिसमें देवदार के भी कुछ वृक्ष थे। ... देवदार के सौंदर्य पर वह (जापानी) मुग्ध हैं और हिमालय के देवदार को तो सौंदर्य-शिखामणि मानते हैं। हिमालय से देवदार यहाँ लाए गए हैं और उसके आठ-आठ दस-दस हाथ के पौदे बिकते दिखाई पड़ते हैं। नित्ता छोड़ने से पहले ब्योदोसान् (ब्योदोजी) का आग्रह हुआ, कि मैं अपनी स्मृति के लिए किए हिमालयीय देवदार को मंदिर के सामने लगा जाऊँ। स्मृति पर मुझे विश्वास बहुत नहीं है, लेकिन दो, चार, दस पीढ़ियों के लिए एक सुंदर वस्तु छोड़ जाना अच्छी चीज़ है।' ⁶

अप्रैल 1949 में राहुलजी कालिपोड्. में रहने गए। तब तक उनका कहीं कोई निजी मकान नहीं था, न ही वे 'नई गृहस्थी' के चक्कर में फंसे थे, हालाँकि उसके लिए अब ज्यादा देर नहीं थी। मगर मुख्यतः अपने तिब्बती अनुसंधान-कार्य के ख्याल से वे, अपने अकेले के लिए ही, एक स्थायी निवास की आवश्यकता महसूस कर रहे थे। इसके लिए भी उन्हें हिमालय की वही भूमि पसंद थी जहाँ देवदार हों। लिखते हैं : 'स्थायी निवास बनाने के ख्याल ने एक बार सिक्किम के अंतिम गाँव लाछेन् की ओर भी मन खींचा। तिब्बत से लौटते वक्त दो बार मैं इस गाँव से गुजरा था। इधर सेबों के लिए वह कोटगढ़

हिंदी गद्य विवेचना

और कुल्लू बन गया है। एक फिनिश मिशनरी महिला ने इस शताब्दी के आरंभ में वहाँ अपना अड्डा जमाया। सोचा, और निशनरियों की तरह शायद वह भी अपने बंगले को बेचे, उसे ही क्यों न ले लिया जाए। न बेचे, तब भी देवदारों की सुंदर छाया में सोई इस भूमि में मकान बनाने के लिए जगह मिल सकती है।" ⁷

राहुलजी हिमालय के सौंदर्य पर मुग्ध थे। उन्होंने लिखा भी है : "हिमालय के साथ पर्यटक के तौर पर मेरा घनिष्ट संबंध है, मैं नगाधिराज का परम भक्त हूँ।" ⁸

मगर राहुलजी दूसरे बहुतों की तरह नगाधिराज के केवल भक्त ही नहीं थे। हिमालय से उनका सरोकार सिर्फ स्वान्तः सुखाय नहीं था। उन्होंने हिमालय के विभिन्न खंडों के बारे में और हिमालय की अपनी विविध यात्राओं के बारे में जितना अधिक लिखा है, उतना शायद अन्य किसी पर्यटक ने आज तक नहीं लिखा। सन् 1949 ई. तक राहुलजी अपनी कुछ हिमालय-यात्राओं के विवरण लिख चुके थे, परंतु हिमालय-परिचय की पुस्तकें लिखने का निश्चय उन्होंने 'दोर्जलिङ-परिचय' लिखने के बाद किया। 'दोर्जलिङ-परिचय' (1949-50) के बाद उन्होंने 'हिमालय-परिचय' की क्रमशः पुस्तकें लिखीं - कुमाऊँ (1950), गढ़वाल (1950-52), नेपाल (1952-53), जौनसार-देहरादून (1953) और हिमाचल प्रदेश (1954)।

किस अंतःप्रेरणा और प्रयोजन से राहुलजी ने 'हिमालय परिचय' प्रस्तुत करने का यह इतना विराट कार्य हाथ में लिया? स्वयं बताते हैं : "सारे हिमालय का मुझ पर ऋण था। मैं वर्षों हिमालय की शीतल छाया और शीतल जल का आनंद लेता आया था। उसके पर्वतों, उपत्यकाओं, हिमानियों और सीधे-सादे लोगों से आत्मीयता पैदा की, उनसे परिचय प्राप्त किया। यात्रा करते वक्त मेरा हमेशा ध्यान रहा कि वह केवल स्वान्तः सुखाय नहीं होनी चाहिए, बल्कि उसके आनंद में दूसरों को भी सहभागी बनाना चाहिए। इसीलिए मैंने अपनी हरेक यात्रा के विवरण लिखे। अब हिमालय कह रहा था, हमारे ऋण से भी तुम्हें उऋण होना चाहिए। इसीलिए मैंने निश्चय किया, दार्जिलिङ के बारे में लिखना चाहिए। कालिपोंग में ही मैंने 'दोर्जलिङ-परिचय' लिखना शुरू कर दिया और सामग्री उसी समय जमा कर ली। 'दोर्जलिङ-परिचय' के बाद फिर नैनीताल में रहते 'कुमाऊँ' में हाथ लगाया। मसूरी में आने पर गढ़भूमि (गढ़वाल) का आग्रह हुआ, और उसे भी लिखा। फिर नेपाल कहने लगा, मुझे क्यों बीच में छोड़ रहे हो। उसे भी लिखा डाला, और अंत में 'देहरादून-जौनसार' और 'हिमाचल प्रदेश' लिखकर भूटान की पश्चिमी सीमा से जम्मू-कश्मीर की पूर्वी सीमा तक फैले हिमालय के बारे में लिखकर मैंने अपने को उऋण करना चाहा।" ⁹

राहुल का हिमालय प्रेम

हिमालय के प्रति राहुलजी का इतना अधिक लगाव पहली बार कब और किस तरह हुआ? पन्दहा-कनैला (आजमगढ़) की भूमि में पहाड़ तो क्या, पहाड़ियाँ भी कहीं नहीं हैं। केदारनाथ (राहुलजी का बचपन का नाम) ने पहाड़ियों के भी पहली बार दर्शन 1902 ई. में तब किए जब वह नौ साल का था। उस साल अप्रैल में उसका जनेऊ हुआ, कनैला या पन्दहा में नहीं, बल्कि विंध्याचल में। वह अपने चचा प्रताप पांडे के साथ बनारस-मुगलसराय होते हुए विंध्याचल पहुंचा था। तभी केदार ने पहली बार पहाड़ियाँ देखीं।

केदारनाथ ने पहली बार पहाड़ की – गढ़वाल-हिमालय की – यात्रा 1910 ई. में की, जब वे 17 साल के थे। प्रेरणा-स्रोत थे कनैला के नजदीक के एक आश्रमवासी बाबा हरिकरणदास। 'हरिकरण बाबा दो ही तीन साल पहले बदरीनाथ हो आए थे। वैराग्य और अरण्यवास की बात रोज चलती ही थी। एक दिन उन्होंने अपनी बदरीनाथ-यात्रा का वर्णन किया। ऊँचे-ऊँचे पहाड़, हरे-हरे देवदार, सफेद-सफेद बर्फ, ठंडे पानी के चश्मे तो आकर्षक मालूम हुए ही, क्योंकि वे मेरी पर्यटन की सतत उपस्थित लालसा को जगाते थे; ... आखिर एक दिन मैंने हरिकरण बाबा से उत्तराखंड की ओर जाने का अपना इरादा प्रकट किया, उन्होंने उसका समर्थन किया ...।' ¹⁰

केदार बिना पैसे-धेले के पैदल ही हरिद्वार की ओर चल पड़े। उन पर अब वैराग्य का भूत सवार था; हर समय जबान पर रहता था वह श्लोकांश : का चिंता मम जीवने यदि हरिर्विश्वंभरो गीयते। हरिद्वार में संस्कृत की पढ़ाई की व्यवस्था नहीं हुई, तो ऋषिकेश से आगे बढ़कर देवप्रयाग, टेहरी, जमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, जोशीमठ और बदरीनाथ आदि की यात्रा की। यात्रा में कई बाबाओं-साधुओं का सत्संग रहा। इस यात्रा के बाद राहुलजी काशी लौटे, और वहां संस्कृत की पढ़ाई में जुट गए।

सन् 1910 में, सत्रह साल की आयु में, राहुलजी की यह पहली हिमालय-यात्रा थी। इस पहली यात्रा में ही हिमालय ने उन्हें मोह लिया। बताते भी हैं : 'हिमालय किसको अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता? मेरा तो उसके प्रति आकर्षण 1910 ई. से ही हुआ।' ¹¹

राहुलजी की अगली हिमालय-यात्रा (नेपाल-यात्रा) काफी अंतराल के बाद हुई, 1923 ई. में। उसके पहले देश के दो अत्यंत रमणीय पर्वत-स्थलों – कर्वी (चित्रकूट) और कुर्ग (कर्नाटक) में निवास करने का उन्हें अवसर मिला था, मगर हिमालय के स्थलों से इनकी कोई तुलना नहीं थी। लिखते भी हैं : 'मैं कई बार चित्रकूट-पर्वत की परिक्रमा करने गया। ... वाल्मीकि काल के एक ऐतिहासिक स्थान के तौर पर अभी उसके प्रति सम्मान नहीं पैदा हुआ था, किंतु प्रकृति देवी की एक विचित्रता का आकर्षण जरूर था, यद्यपि हिमालय के दर्शन के कारण वह परिमित सीमा ही तक हो सकता था।'

हिंदी गद्य विवेचना

राहुलजी 1921 ई. में करीब चार महीने कुर्ग में रहे थे। कुर्ग और हिमालय के प्रकृति-सौंदर्य की तुलना करते हुए लिखते हैं : "वैसे तो सारा कुर्ग पार्वत्यदृश्यों से भरा है, किंतु ... कावेरी-स्रोत दर्शनीय स्थान है। ... कावेरी-स्रोत कुर्ग का सबसे ऊंचा पहाड़ नहीं है, तो भी वह ऊंचे पर्वतों में है। लेकिन, हिमालय की नदियों के स्रोतों की बहार यहाँ कहाँ? हिमालय की सनातन श्वेत हिमानियाँ शुरु ही में उन्हें पिघली रौप्यधार प्रदान करती है, और यहाँ नदियों के उद्गम हैं, जहाँ-तहा के झरने और कुंड। हरे-हरे जंगलों और विशाल वृक्षों से आच्छादित होने पर भी सदा हरित वृक्षराज देवदार के अभाव में ये पहाड़ नगाधिराज हिमालय का मुकाबिला नहीं कर सकते।" ¹³

राहुलजी की दूसरी हिमालय यात्रा – प्रथम नेपाल-यात्रा – मार्च-अप्रैल 1923 में हुई। उन दिनों वे बिहार के छपरा जिले में सामाजिक-राजनीतिक कार्य कर रहे थे – बाबा रामोदारदास के नाम से। गर्मियाँ आने लगीं, तो चल पड़े नेपाल की यात्रा पर, शिवरात्रि के दिनों में। रक्सौल से काठमांडू पैदल गए, पैदल ही लौटे। काठमांडू-उपत्यका में करीब डेढ़ महीना रहकर ऐतिहासिक-धार्मिक महत्व के कई स्थान देखे, राजगुरु पं. हेमराज शर्मा से भी मिले। राहुलजी ने अपनी यह पहली नेपाल-यात्रा एक बैरागी साधु के रूप में की थी।

लेकिन 1926 ई. में अगली हिमालय-यात्रा – लद्दाख और कनौर की यात्रा – उन्होंने एक आर्यसमाजी के रूप में की, गेरुआ लुंगी और चदर में रहकर। उन दिनों राहुलजी बड़ी दुविधा की स्थिति में थे : बिहार में वे वैष्णव साधु रामोदारदास थे, तो पंजाब की तरफ आर्य समाजी प्रचारक। इस हिमालय-यात्रा में उन्हें आर्यसमाजियों से बड़ी मदद मिली। खैबर दर्रे में लंडीकोतल तक गए। फिर श्रीनगर पहुंचकर लद्दाख, हेमिस की यात्रा की। चीनी तुर्किस्तान जाने की बड़ी इच्छा थी, परंतु पासपोर्ट मिलने की कोई आशा नहीं थी। फिर साढ़े-पांच हजार मीटर ऊंची खर्दोङ्.ला (जोत) को पार करके सुरम्य नुब्रा घाटी में पहुंच गए थे। आगे लेह-लद्दाख की यात्रा के बाद सिंधु के तट पर पहुंचे, तो वहाँ के एक नजारे ने राहुलजी को सदा के लिए मोह लिया। वह नजारा था : कुछ स्त्री-पुरुष अपने भेड़ों की पीठ पर नमक व अन्य सामान लादे जा रहे थे। उनके साथ एक-दो गदहे भी थे, जिन पर तंबू, चाय मथने का फोंका (चा-दुङ्.) और दूसरा सामान लदा हुआ था। राहुलजी लिखते हैं :

'उस वक्त मेरे दिल में एक जबरदस्त लालसा पैदा हुई। क्या ही अच्छा होता, कि मैं भी इसी तरह कुछ भेड़ों, एक-दो गदहों और एक तिब्बती तरुणी के साथ एक जगह से दूसरी जगह घूमता फिरता। जहाँ मन आता, वहाँ तंबू लगाता। तरुणी और मैं मिलकर गदहों और भेड़ों से सामान उतारते। दो बड़े कुत्ते हमारी चीज़ों की रखवाली करते। तरुणी चाय

राहुल का हिमालय प्रेम

बनाती, फिर उस निर्जन निर्वृक्ष नंगी पार्वत्य-उपत्यका में हम दोनों एक निर्द्वंद्व विचित्र-सा जीवन बिताते। ... इस प्रकार कभी लदाख, कभी मानसरोवर, कभी ब्रह्मपुत्र की उपत्यका में टशील्हन्पो, कभी ल्हासा और कभी खम् हमारे पैरों के नीचे रहता ...।" ¹⁴

राहुलजी को अपनी किसी भी यात्रा में गए रास्ते से वापस लौटना पसंद नहीं था। वे कनौर (रामपुर-बुशहर) के रास्ते शिमला वापस लौटे। लदाख-हिमालय की यह यात्रा राहुलजी की आगे की यात्राओं के लिए बहुत बड़ा प्रेरणा-स्रोत बनी। उन्हें बौद्ध धर्म और संस्कृति को निकट से जानने का मौका मिला। कनौर की भूमि से उन्हें विशेष लगाव हो गया। राहुलजी ने 1929 ई. में छद्मवेश में पहली बार तिब्बत की यात्रा की थी, तो उनका छद्मनाम था - खुन्नू छेवड. (कनौर का छेवड.), संक्षेप में, खुन्नूपा (कनौरवाला)। तिब्बत के कुछ गाँवों में उन्हें कुछ लोगों ने लदापा (लदाखवाला) समझा, तो आगे वे अपने को लदापा बताने लगे थे।

राहुलजी की पहली यात्रा-पुस्तक भी इस लदाख-यात्रा के बारे में ही है। अपनी इस लदाख-यात्रा के बारे में राहुलजी ने उसी समय कई लेख प्रकाशनार्थ भेजे थे। बताते हैं : 'खर्दोड, की चढ़ाई और आगे की यात्रा का मैंने एक बड़ा सुंदर वर्णन लिखा था, जिसे सुनकर राजेंद्र बाबू इतने प्रभावित हुए, कि उन्होंने मेरी लदाख-यात्रा संबंधी लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने के लिए बनारस के अपने एक मित्र को पत्र लिख डाला।" ¹⁵

लदाख-यात्रा के बाद राहुलजी की अगली हिमालय-यात्रा थी - पहली तिब्बत-यात्रा (1929-30 ई.)। श्रीलंका के विद्यालंकार विहार में करीब 19 महीने (1927-28 ई.) रहे, अध्यापन-कार्य किया, साथ ही पालि बौद्ध साहित्य का गहन अध्ययन किया, 'त्रिपिटकाचार्य' हुए। अधिकतर संस्कृत बौद्ध साहित्य भारत से लुप्त था, परंतु तिब्बती व चीनी अनुवादों में उपलब्ध था। उस बौद्ध साहित्य के अध्ययन के लिए राहुलजी ने तिब्बत जाने का निर्णय किया और भारत के बौद्ध स्थलों की यात्रा करके 1929 की शिवरात्रि को काठमांडू पहुंच गए। यह उनकी दूसरी नेपाल-यात्रा थी।

आगे छद्मनाम और छद्मवेश धारण करके राहुलजी ने किस तरह नेपाल-तिब्बत सीमा को पार किया और फिर किस तरह अपार कष्ट झेलते हुए वे ल्हासा पहुँचे, इसका रोमांचकारी विवरण पाठक उनकी पुस्तक 'तिब्बत में सवा वर्ष' या 'मेरी जीवन-यात्रा', भाग-2 में ही पढ़ें, तो उपयुक्त होगा। राहुलजी तीन सरकारों - ब्रिटिश, नेपाल और तिब्बत - की आँखों में धूल झोंककर ल्हासा पहुंचने में सफल हुए। रास्ता कठिन था, खतरनाक भी, मगर अपरिचित नहीं था, जैसा कि कई लोग समझते हैं। राहुलजी ने भी लिखा है : 'यह नेपाल से तिब्बत जाने का मुख्य रास्ता है। फरी-कालिंपोड. का रास्ता जब नहीं खुला था, तो नेपाल ही नहीं, हिंदुस्तान की भी चीजें इसी रास्ते तिब्बत जाया करती

हिंदी गद्य विवेचना

थीं। यह व्यापारिक ही नहीं, सैनिक रास्ता भी था, इसलिए जगह-जगह फौजी चौकियाँ और किले बने हुए हैं।¹⁶ नालंदा के आचार्य शांतरक्षित (750 ई.), उनके शिष्य कमलशील और बाद के कई भारतीय पंडित इसी रास्ते से तिब्बत गए थे। भारतीय बौद्ध तीर्थों की अपनी यात्रा के लिए बहुत-से तिब्बती भी इसी मार्ग को अपनाते रहे।

हिमालय के आर-पार राहुलजी की यह पहली यात्रा थी। महत्व की बात यह है कि वे छिपकर जा रहे थे और पहली बार पाँच-छह हजार मीटर ऊंची जोतों को पार कर रहे थे। आज रक्सौल से काठमांडू और वहाँ से सीधे ल्हासा तक बस-यात्रा संभव हो गई, और तिब्बत भी काफी-कुछ बदल गया है। मगर राहुलजी की तिब्बत-यात्राओं का, विशेषकर उनकी प्रथम तिब्बत-यात्रा (1929-30 ई.) का, महत्व बरकरार रहेगा। एक बार राहुलजी से उनकी सर्वोत्तम यात्रा-पुस्तक के बारे में पूछा गया था, तो उनका उत्तर था : "तिब्बत-यात्रा (तिब्बत में सवा वर्ष)। वह तिब्बत, जिसमें मैं गया था, अब तेजी से बदल रहा है, फिर भी मेरी पुस्तक उस काल का स्वरूप तो है ही।"¹⁷

प्रथम तिब्बत-यात्रा में ल्हासा पहुँचने के बाद राहुलजी ने अपने को प्रकट कर दिया था, और दलाई लामा की ओर से उन्हें वहाँ रहने की अनुमति मिल गई थी। अब वे खुले रूप में भारत लौट सकते थे। अतः फरी-कालिपोड् के रास्ते वापस लौटे। तिब्बत में चहुँओर वृक्ष-रहित नंगे पहाड़ हैं। फरी (दक्षिणी तिब्बत, भूटान की सीमा के पास) से आगे बढ़े, तो छोटे-छोटे वृक्ष शुरू हुए और आगे बढ़ते-बढ़ते काफी देवदार आने लगे। ... बरस भर से आँखें हरियाली के लिए तरस रही थीं, अब पहाड़ में जिधर देखो हरियाली ही हरियाली थी।"¹⁸

प्रथम तिब्बत-यात्रा से भारत लौटने के बाद राहुलजी सीधे श्रीलंका पहुंचे। फिर जल्दी ही, 2 जून, 1930 को, वहाँ के सुरम्य पहाड़ी-स्थल कांडी में उनकी उपसंपदा हुई, वे भिक्षु राहुल सांकृत्यायन हुए। लिखते हैं : "कांडी एक हरा-भरा पहाड़ी स्थान है। इसके लिए 'जनु वसंत ऋतु रही लुभाई' कहा जा सकता है। ... नगर बहुत स्वच्छ और उसका सरोवर अतिसुंदर था।"¹⁹ श्रीलंका के एक अन्य पर्वत-स्थल नूर-एलिया के बारे में वे लिखते हैं : "नूर-एलिया लंका का शिमला छै हजार फीट के ऊपर बसा हुआ है। ... यहाँ के पहाड़ों में जंगल है, किंतु देवदारों की मनमोहक सुंदरता और जाड़ों का बर्फ वहाँ दिखलाई नहीं पड़ता।"²⁰

तात्पर्य यह कि राहुलजी को अन्य कई जगहों के रमणीय पर्वत-स्थल देखने के मौके मिले, मगर उन्हें सबसे अधिक प्रिय था, हिमालय के बर्फ का और देवदार वृक्षों का नजारा। सन् 1932 में वे यूरोप की यात्रा पर गए। वहाँ जर्मनी में केवल एक स्थान पर

राहुल का हिमालय प्रेम

उन्हें देवदार देखने को मिले। वहाँ के एक बौद्ध विद्वान डॉ. पॉल डालके ने बर्लिन के उपनगर फ्रेनौ में एक पहाड़ी पर एक बौद्ध विहार बनवाया था, जहाँ देवदार के वृक्ष थे।

भारत लौटकर 1933 ई. की गर्मियों में राहुलजी लदाख-यात्रा पर गए – दूसरी बार। मुख्य प्रयोजन था – गिलगित में मिली भोजपत्रों पर लिखी हस्तलिपियों को देखना। हस्तलिपियों का एक भाग श्रीनगर में देखने को मिला। गिलगित जाने का आज्ञापत्र नहीं मिला, मगर लदाख जाने की अनुमति मिल गई। अच्छे साथी भी मिल गए – जर्मन बौद्ध कलाकार-विद्वान ब्रह्मचारी गोविंद। राहुलजी लेह में करीब ढाई महीने रहे। उस दौरान उन्होंने तिब्बत में बौद्ध धर्म पुस्तक लिखी, मज्झिम निकाय का हिंदी में अनुवाद किया, भोट भाषा व व्याकरण की कुछ पुस्तकें तैयार कीं और यात्रा पर कुछ लेख भी लिखे। स्पष्ट है कि, राहुलजी लेह और ल्हासा-जैसे स्थानों में भी गंभीर लेखन-कार्य करने में समर्थ थे। लाहुल और कुल्लू होते हुए वे वापस लौटे।

अगले साल (1934 ई.) की गर्मियों में राहुलजी दूसरी बार तिब्बत-यात्रा पर गए। इस बार कार्लिपोङ्-फरी के रास्ते गए और त्रेनम्-काठमांडू (नेपाल) के रास्ते वापस लौटे।

अगले साल (1935 ई.) राहुलजी ने जापान, कोरिया, मंचूरिया, सोवियत रूस और ईरान की यात्रा की। एशिया की इस महायात्रा के दौरान उन्होंने कोरिया के अनेकानेक अद्भुत शिखरोंवाले कोङ्.गो-शान (वज्र-पर्वत) की भी यात्रा की। इसके सबसे ऊँचे पर्वत विरहो (वैरोचन) की ओर आगे बढ़े, तो लिखते हैं : "पर्वतों के आकार नाना प्रकार के थे। कोई नाग के आकार का, कोई घोड़े के आकार का। जलमार्ग भी नाग, त्रिपुंड्री आदि आकार के थे। ... आखिरी तीन मील का दृश्य अत्यंत सुंदर था। दर्शनीय जलप्रपात, विचित्र शिला और शिखर, घनी वृक्षावली, जिसमें नीचे की ओर देवदार और ऊपरी भाग पर भोजपत्र थे।" ²¹

एशिया की इस महापरिक्रमा के चार महीने बाद ही, फरवरी 1936 ई. में, राहुलजी तिब्बत की अपनी तीसरी यात्रा के लिए काठमांडू पहुंचे और वहाँ करीब दो महीने रहकर नेपाल के इतिहास व पुरातत्व का गहन अध्ययन किया, जिसका बाद में 'नेपाल' ग्रंथ लिखने में उपयोग हुआ।

इस बार के काठमांडू-निवास के दौरान बहुत साल बाद स्वामी प्रणवानंद से राहुलजी की भेंट हुई। हिमालय के अनन्य प्रेमी और अन्वेषक स्वामी प्रणवानंद के जीवन व कार्य से कई लोग परिचित हैं, परंतु कम ही लोग जानते होंगे कि राहुलजी और प्रणवानंदजी सहपाठी रहे हैं, कुछ साल तक दोनों एक ही मार्ग के पथिक रहे हैं। राहुलजी 1916 ई. में लाहौर के डी.ए.वी. कालेज के संस्कृत विभाग में 'विशारद' के छात्र थे, तब उनके

हिंदी गद्य विवेचना

विद्यार्थी-मित्र बलदेव चौबे (बाद के स्वामी सत्यानंद सरस्वती) के साथ एक दक्षिण भारतीय विद्यार्थी रहते थे। बताते हैं : "वंशीधर के मंदिर में बलदेवजी के साथ एक दूसरे तरुण मिस्टर कनकदंडी वेंकट सोमयाजुलू भी रहते थे, हम लोग उन्हें 'मिस्टर' कहा करते थे। वे भी हमारे लाहौर के घनिष्ठ मित्रों में थे। उन दोनों मित्रों के कारण अक्सर मैं वंशीधर के मंदिर में जाया करता था। ... गर्मी के दिनों में साफ चिकने संगमरमर के फर्श पर बैठने-लेटने में अच्छा लगता था। वहीं हम लोगों की घंटों अपने भविष्य, देश के भविष्य और आर्य-समाज के काम पर बातें हुआ करतीं।" ²²

लाहौर के डी.ए.वी. कालेज के मिस्टर सोमयाजुलू ही बाद के हिमालय-प्रेमी स्वामी प्रणवानंद (1896-1989 ई.) हैं। राहुलजी 1921 ई. में करीब चार महीने कुर्ग में रहे थे, उसके पीछे भी मिस्टर सोमयाजुलू ही की प्रेरणा थी। वहाँ के नौजवानों में मिस्टर सोमयाजुलू ने आर्य समाज के प्रचार का काम किया था, और वे चाहते थे कि राहुलजी उस काम को आगे बढ़ाएँ।

अब काठमांडू में सत्रह साल बाद पुनः दोनों मित्रों की भेंट हुई। दोनों हिमालय के प्रेमी थे, भक्त थे, मगर अब दोनों के विचारों में बहुत बड़ा अंतर आ गया था। राहुलजी लिखते हैं : '17 वर्ष पहले हम दोनों एक चौरस्ते पर खड़े थे। फिर हमने अपने-अपने पैरों को आगे बढ़ाया, और अब कितना अंतर है। वह घरबार छोड़कर योगी हुए। 1926 ई. तक वह भी कांग्रेस के काम में लगे हुए थे। फिर ब्रह्म और योग ने उन्हें अपनी ओर खींचा। उन्हें एक अच्छा गुरु मिला और दस-दस घंटे की समाधि लगने लगी। बतला रहे थे, बीमारी के कारण आपरेशन कराना पड़ा, इसलिए अब चार-पांच घंटे की ही समाधि रहती है। प्रणवानंद रमण-महर्षि और स्वामी सियाराम (स्वर्गीय) के बड़े प्रशंसक हैं। मैं उनके मुंह से योग की बातों को सुन रहा था, लेकिन इन सबके सुनने की मेरे दिल में कभी स्पृहा नहीं हुई। ज्यादा से ज्यादा मैं यही मान सकता था, कि शायद हमारे योगियों ने क्लोरोफारम के बिना भी बेहोशी की कोई युक्ति निकाल ली है। ऐसी युक्ति को समझना कोई बुरी बात नहीं है। लेकिन, मेरे पास उसका समय कहाँ था? साथ ही मुझे यह भी विश्वास है, कि योग मनुष्य की प्रकृति में अंतर नहीं डाल सकता। अब भी प्रणवानंद 'मिस्टर' की तरह ही निस्संकोच भाषण कर सकते थे। जब मैं पहली बार सीलोन में था (1927-28 ई.), तो वह लदाख होकर मानसरोवर गए थे; तब से वह कई बार मानसरोवर हो आए हैं। एक बार तो सालभर से ज्यादा वहीं रहे। कच्चे योगी होने से, मैं समझता हूँ, उन्होंने कभी भी याक के कच्चे मांस का स्वाद नहीं लिया होगा। हां, कैलास के हवा-पानी में आध्यात्मिकता की विद्युत-तरंगे हैं, यह उनको विश्वास है। हम एक-दूसरे को एक मत का बनाने को लिए उत्सुक नहीं थे, इसलिए बातचीत का ही आनंद रहा। दो-चार दिन हम दोनों एक ही मकान में रहे। हमने अपने पुराने जीवन की स्मृतियाँ दौड़ाईं। एक बात में

राहुल का हिमालय प्रेम

जरूर हम दोनों एक थे, उनको भी तिब्बत के कष्टों का आह्वान करने में आनंद आता था, और मुझे भी।" ²³

स्वामी प्रणवानंद ने कैलास-मानसरोवर की अनेक परिक्रमाएँ कीं और इनके बारे में कई शोध-निबंध भी लिखे। राहुलजी कैलास-मानसरोवर की यात्रा नहीं कर पाए, मगर इसका उन्हें अफसोस नहीं था। लिखते हैं : "मानसरोवर के न जाने का संतोष तो मैं अपनी ल्हासा की ओर की यात्राओं से कर सकता था।" ²⁴

राहुलजी की तीसरी तिब्बत-यात्रा बहुत सफल रही। इस बार उन्हें बड़े महत्व की संस्कृत तालपोथियाँ मिलीं, जिनमें प्रमुख थीं – धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' पर प्रज्ञाकरगुप्त का भाष्य (वार्तिकालंकार) और असंग की 'योगाचार-भूमि'। गए थे पूर्व-परिचित नेपाल के रास्ते से, मगर इस बार लौटे लाछेन-गंतोक (सिक्किम) के नए रास्ते से।

अगले साल (1937 ई.) की गर्मियों में राहुलजी लाहुल गए। कलाकार प्रो. निकोलस रोयरिक का भी निमंत्रण था, इसलिए उरुस्वाती (नगर) भी चले गए। प्रो. रोयरिक के दोनों बेटे – चित्रकार स्वेतस्लाव और तिब्बतीविद जॉर्ज – उस समय वहीं थे। राहुलजी करीब दो सप्ताह रोयरिक-परिवार के साथ रहे। लिखते हैं : "मैं लाइब्रेरीवाले घर के कोठे पर रहता था, जो कि परिवार के बंगले से कुछ सौ गज ऊपर था। इसके चारों तरफ बड़े-बड़े देवदारों का घना जंगल था। दुतल्ला मकान भी देवदार की लकड़ी का ही बना था; जिधर देखें, उधर देवदार की सुई-जैसी हरी-हरी पत्तियाँ दिखलाई पड़तीं और सांस में हर वक्त देवदार की सुगंधि आती थी। मैं देवदार की भूमि में नहीं पैदा हुआ, लेकिन न जाने क्यों वह मुझे इतना प्रिय मालूम होता है। मैं उसे प्राकृतिक सौंदर्य का मानदंड समझता हूँ। यहाँ मैं देवदार-वन का एक अंग बन गया था।" ²⁵

उस साल के अंत में राहुलजी दूसरी बार सोवियत रूस गए, मगर दो महीने बाद ही लौट आए – चौथी बार तिब्बत जाने के लिए। इस बार (1938 ई.) राहुल-दल नेपाल के रास्ते नहीं, कालिपोड़ – फरी के रास्ते गया और लाछेन-गंतोक के छोटे रास्ते से वापस लौटा। यह राहुलजी की अंतिम तिब्बत-यात्रा थी। इस तरह उन्होंने हिमालय की कुल आठ बार आर-पार यात्राएँ कीं।

चौथी तिब्बत-यात्रा से लौटने के बाद राहुलजी सक्रिय राजनीति में कूद पड़े और 29 मास (1940-42 ई.) हजारीबाग जेल व देवली कैम्प में गुजारे। खूब लेखन-कार्य किया। सन् 1943 की गर्मियों (मई-जून) में राहुलजी ने उत्तराखंड की यात्रा की, साथी थे नागार्जुन। नेलड़ तक गए। मसूरी के रास्ते देहरादून लौटकर कालसी की यात्रा की। सन् 1910 के बाद गढ़वाल की यह उनकी दूसरी यात्रा थी।

हिंदी गद्य विवेचना

फिर 1945-47 ई. में पच्चीस मास रूस में रहे। वहाँ से 17 अगस्त, 1947 को लौटे, तो भारत स्वतंत्र था। राहुलजी के जीवन का एक नया दौर शुरू हुआ, उन्होंने अपने शेष जीवन का अधिकांश समय हिमालय में गुजारा और हिमालय के बारे में कई पुस्तकें लिखीं।

राहुलजी अब (1948 ई.) हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति थे। अब डायबेटीज (मधुमेह) की व्याधि उनकी जीवन-संगिनी बन गई थी। उस साल की गर्मियों में वे कन्नौर (रामपुर-बुशहर) गए, ज्यादा समय चिनी में रहे, तिब्बत की सीमा के नज़दीक के नमग्या गांव तक गए, किन्नर देश में पुस्तक लिखी। अगले साल की गर्मियों में पुनः इसी प्रदेश में आने की योजना थी, मगर वह संभव नहीं हुआ।

अगले साल (1949 ई.) की गर्मियों में राहुलजी कालिपोड् गए। सम्मेलन के परिभाषा-कार्य के लिए कुछ सहयोगी भी साथ में थे। अब राहुलजी अपना एक घर बनाकर एक स्थान पर बसना चाहते थे, यानी 'घरबारी' बनना चाहते थे। साथ ही 'घरबारी होने के पाप' से बचना चाहते थे मगर बच नहीं पाए, 'असली अर्थ में यह बात कालिपोड् में ही हो गई'; राहुलजी की नई 'गृहस्थी' वहीं पर शुरू हो गई, एक भारतीय नेपाली तरुणी के साथ।

साल के अंत तक राहुलजी कालिपोड् में रहे। अपने अन्य कामों के अलावा उस हिमालय-खंड का परिचय लिखने के इरादे से काफी स्रोत-सामग्री एकत्र की, नवंबर 1949 ई. में दार्जिलिङ् की यात्रा भी की। कालिपोड् से दंड-कमंडल उठाने का समय आया, तो लिखते हैं : 'दार्जिलिङ् जिले का अन्न-जल इतने दिन तक खाकर उसके लिए कृतज्ञता प्रकट करना मेरे लिए ज़रूरी था। और, उसी का क्यों, सारे हिमालय का मुझ पर ऋण था। ... अब हिमालय कह रहा था, हमारे ऋण से भी तुम्हें उऋण होना चाहिए। इसलिए मैंने निश्चय किया, दार्जिलिङ् के बारे में लिखना चाहिए। कालिपोड् में ही मैंने 'दोर्जेलिङ्-परिचय' लिखना शुरू कर दिया ...।' ²⁶ पूर्व की ओर से आरंभ करें, तो राहुलजी की 'हिमालय-परिचय' पुस्तकमाला की यह पहली पुस्तक है।

राहुलजी को अपनी नई 'गृहस्थी' के लिए अब एक स्थायी 'नीड़' की ज़रूरत थी। मकान खरीदने के ख्याल से, अपनी नई गृहिणी को साथ लेकर, 1950 की गर्मियों में वे कुमाऊं गए और वहां नैनीताल के 'ओक लॉज' में करीब चार महीने उनका निवास रहा। यहां उन्होंने आदि-हिंदी की 'कहानियाँ और गीत' (कौरवी) का संकलन किया। फिर 'लिखने के लिए अब कुमाऊं का ख्याल दिमाग में दौड़ रहा था। 'दोर्जेलिङ्-परिचय' लिखकर हिमालय का परिचय देने का काम शुरू किया। मैं अब कुमाऊं में था, इसलिए

राहुल का हिमालय प्रेम

उसमें हाथ लगाने में सुभीता था। यहां उसके बारे में पुस्तकें जमा कीं और पढ़ते हुए अप्रैल (1950) के तीसरे सप्ताह में कुछ लिखना भी शुरू कर दिया।" ²⁷

'हिमालय-परिचय' की पुस्तकों के बारे में राहुलजी का प्रायः यह नियम रहा कि वे नियोजित हिमालय-खंड का भौगोलिक-ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विवरण पहले लिख लेते थे; तदनंतर उस क्षेत्र की यात्रा करके वे उस विवरण को जांचते थे और यात्रा-वर्णन को भी पुस्तक में जोड़ देते थे। लिखते भी हैं : 'कुमाऊं लिखने की धुन थी। लेकिन हिमालय के किसी भूभाग का परिचय अधूरा ही रहता है, यदि उसमें अपनी की हुई यात्रा का भी कुछ वर्णन हो।' ²⁸

राहुलजी अक्टूबर 1943 में भवाली और अल्मोड़ा गए थे, साथी भारद्वाज और सुमित्रानंदन पंत की जीवनी के नोट्स लेने, 'नये भारत के नये नेता' के लिए। मगर वह उनकी दौड़ती यात्रा थी। इस बार प्रभाकर माचवे को साथी बनाकर उन्होंने भवाली, अल्मोड़ा, कटारमल, बैजनाथ, बागेश्वर, द्वाराहाटा आदि स्थानों की यात्रा की, प्रमुखतः इतिहास-पुरातत्व की दृष्टि से।

राहुलजी ने जुलाई 1950 से मसूरी के 'हर्न क्लिफ' में अपना स्थायी घर बांधा, घर के साथ गृहिणी भी थी। आगे के करीब आठ साल तक, 1958 के लगभग मध्यकाल तक, राहुल-परिवार का स्थायी निवास गढ़भूमि के मसूरी शहर में ही रहा। मसूरी में बस जाते ही उन्होंने 'गढ़वाल' लिखने में हाथ लगा दिया था और अगले साल (1951) की गर्मियों में गढ़वाल-हिमालय की यात्रा करने का निश्चय कर लिया था। तदनुसार, मई 1951 में राहुलजी ने बदरी-केदार की यात्रा की, अकेले। यात्रारंभ के समय लिखते हैं : 'गढ़वाल को बहुत कुछ मैं लिख चुका था। 'हिमालय-परिचय' संबंधी हरेक ग्रंथ में अपनी यात्रा का भी एक अध्याय देना चाहता था। इससे जहाँ पुस्तक की मनोरंजकता बढ़ जाती, वहां नए आंकड़े और जानकारी भी शामिल करने का सुभीता होता।' ²⁹ गढ़वाल में केदार-बदरी यात्रा-विवरण 82 पृष्ठों का है, साथ में राहुलजी द्वारा लिए गए कई चित्र भी हैं। कुमाऊं-यात्रा में भी कैमरा उनके साथ था।

राहुलजी के मन में 'हिमालय-परिचय' पूरा लिख डालने का विचार, 'कुमाऊं' लिखने के बाद, मसूरी में बस जाने पर आया। उन्होंने निश्चय किया कि दार्जिलिङ्ग से चंबा (तिस्ता नदी से चनाब नदी) तक के हिमालय का परिचय हिंदी में प्रस्तुत कर देना है।

प्राचीन परंपरा के अनुसार हिमालय के पांच खंड हैं :

खण्डा : पंच हिमालयस्य कथिता नेपाल-कूर्माचलौ।

केदारोऽथ जलधरोऽथ रुचिरः कश्मीर-संज्ञोऽन्तिमः॥

हिंदी गद्य विवेचना

अर्थात् - 1. नेपाल, 2. कूर्माचल (कुमाऊं), 3. केदार (गढ़वाल), 4, जलंधर (शिमला-कांगड़ा) और 5. कश्मीर।

'गढ़वाल' (हिमालय-परिचय : 1) एक मानक ग्रंथ है। इसे राहुलजी ने अपने मित्र 'गढ़भूमि के सुपुत्र' बैरिस्टर मुकुंदीलाल को समर्पित किया है। ग्रंथ छपा भी अच्छा है, किंतु राहुलजी के 'हिमालय-परिचय' के अन्य ग्रंथों के प्रकाशन की अंततः क्या दुर्दशा हुई, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

'गढ़वाल' को पूरा करने के बाद राहुलजी ने 'नेपाल' लिखने में हाथ लगा दिया और 1952 ई. के अंत तक उसे पूरा कर डाला। जैसी कि उनकी व्यवस्था थी, अब उन्हें नेपाल की यात्रा करनी थी। नया साल (1953 ई.) आया। राहुलजी अपनी नेपाली गृहणी को साथ लेकर 4 जनवरी को मसूरी से रवाना हुए। पहले की सभी यात्राओं में वे रक्सौल-भीमफेरी से आगे सीसागढ़ी-चंदागढ़ी के पहाड़ों को पार करके नेपाल पहुंचे थे। इस बार उन्होंने पटना से काठमांडू तक विमान-यात्रा की। वहां 1 फरवरी तक रहकर उन्होंने काठमांडू और आसपास के कई ऐतिहासिक-धार्मिक स्थान देखे। पटना लौटे, तो वहाँ के एक प्रकाशक ने 'नेपाल' को आग्रहपूर्वक प्रकाशन को लिए मांग लिया। राहुलजी ने 'नेपाल' का एक भाग उसी समय उन्हें दे दिया, लेकिन पूरा ग्रंथ आज तक नहीं छप पाया!

राहुलजी की यह अंतिम नेपाल-यात्रा नहीं थी। सन् 1956 में काठमांडू में विश्व बौद्ध सम्मेलन हुआ, तो राहुलजी को उसमें विशेष रूप से आमंत्रित किया गया। इस बार वे अकेले ही नेपाल गए थे, अंतिम बार।

'दार्जिलिङ्ग' से उठाए हिमालय-संबंधी ग्रंथों को जम्मू-कश्मीर की सीमा तक पहुंचा देना' था, इसलिए अगस्त 1953 में 'जौनसार-देहरादून' लिखने में भी हाथ लगा दिया। वह पुस्तक लिख डाली, तो जनवरी 1954 में 'हिमाचल प्रदेश' को लिखना शुरू कर दिया। बताते हैं : "यद्यपि हिमालय संबंधी लिखी हुई पुस्तकें अभी प्रकाशित होने को बाकी थीं, किंतु हमने जम्मू-कश्मीर की सीमा तक के हिमालय को लिखने का निश्चय कर लिया था, इसलिए अब अंतिम पुस्तक 'हिमाचल प्रदेश' (जलंधर-खंड) के लिखने में हाथ लगा दिया।" ³⁰

पुस्तक पूरी हुई, तो उसी साल (1954 ई.) अप्रैल-मई में राहुलजी ने हिमाचल-प्रदेश की यात्रा की। यात्रा के साथी थे जनकलालजी। कुल्लू, मनाली, मंडी, चंबा, भरमौर आदि अनेक स्थानों पर गए। इस यात्रा-विवरण को उन्होंने पुस्तक में शामिल कर दिया। 'किन्नर देश में' (1948 ई.) में 'हिमाचल-प्रदेश' के एक हिस्से का परिचय आ गया था, इसलिए उस पुस्तक को भी हिमाचल-प्रदेश की पांडुलिपि में सम्मिलित कर दिया।

राहुल का हिमालय प्रेम

राहुलजी का संकल्प पूरा हुआ। 'हिमालय-परिचय' के पांचवे खंड 'कश्मीर' को लिखने का आरंभ में उनका कोई संकल्प नहीं था। सन् 1953 में उन्होंने लिखा भी था : "साठ साल की उमर में किसी काम के लिए संकल्प करना अच्छा नहीं है। उसे तो सिर्फ हाथ में लिया जा सकता है। इसी ख्याल से 'हिमालय-परिचय' (5) – कश्मीर के बारे में मैं संकल्प नहीं करता। इस पांचवें खंड को मेरी लदाख-यात्रा में स्पर्श किया गया है, किंतु कश्मीर के बारे में विस्तृत लिखने के लिए एक बार फिर वहां की यात्रा (चौथी) करनी होगी, जिसके लिए मेरा स्वास्थ्य और शरीर आज्ञा नहीं देता।" ³¹

मगर कश्मीर के बारे में ग्रंथ लिखने का संकल्प उन्होंने छोड़ा नहीं था। शायद इसीलिए 1958 ई. की गर्मियों में वे कश्मीर की यात्रा पर गए थे, चौथी बार। दिसंबर 1955 में उन्होंने लिखा था : "नगाधिराज को जानना हमारे हरेक शिक्षित का कर्तव्य है। इस जानकारी को देने के लिए मैंने हिमालय पर लिखना शुरू किया। 'भूटान की सीमा से जम्मू की सीमा तक' पर लिख भी चुका। इन ग्रंथों में 'दोर्जेलिङ्-परिचय' और 'गढ़वाल' निकल चुके हैं। 'गढ़वाल' के पढ़ने वालों से यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि इन ग्रंथों में किस तरह हिमालय के हरेक अंग को दिखलाने की कोशिश की गई है। 'नेपाल', 'गढ़वाल' (पृष्ठ 569) से भी दूना (1200 पृष्ठों का) ग्रंथ बड़ी मेहनत से लिखा गया है, और यह कहना अत्युक्ति नहीं है, कि अंग्रेजी में भी कोई एक उस तरह की पुस्तक नहीं है। वह तीन वर्ष पहले लिखा जा चुका था। इसके 300 पृष्ठ छपकर अब कीड़ों और चूहों के शिकार बन चुके हैं। 'कुमाऊं' की नैया भंवर में है। 'जौनसार-देहरादून' की अभी पूछ ही नहीं आई। यमुना तट से चनाब के तट तक हिमाचल प्रदेश के सौ फर्मों के ग्रंथ का नाम सुनकर ही प्रकाशक कान पर हाथ रखते हैं। मेरी इच्छा थी, कि जम्मू-कश्मीर और भूटान-पूर्वोत्तर सीमांत के दो और ग्रंथों को लिखकर सारे हिमालय को पाठकों के सामने रख दूं। अभी भी उस संकल्प को मैंने छोड़ा नहीं है, पर कीड़ों को खिलाने से मन हिचकता है।" ³²

स्पष्ट है कि बाद में राहुलजी ने हिमालय के कश्मीर और पूर्वोत्तर सीमांत के खंडों के बारे में भी लिखने का मन बनाया था, मगर 'हिमालय-परिचय' की लिखी हुई पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था नहीं हो रही थी, इसलिए नई पुस्तकों में हाथ लगाने में हिचकिचा रहे थे।

हिमालय के अधिकतर हिस्सों की यात्राएँ करने के बावजूद राहुलजी, न तो मानसरोवर-कैलास की यात्रा कर पाए, न ही पूर्वोत्तर भारत और मणिपुर के पहाड़ों की, जबकि उन्हीं की प्रेरणा से बलभद्र ठाकुर ³³ ने ये यात्राएँ पूरी कीं। लिखते हैं : "ठाकुर मोशाय मानसरोवर भी हो आए, और मनीपुर भी। मानसरोवर के न जाने का संतोष तो मैं अपनी

हिंदी गद्य विवेचना

ल्हासा की ओर की यात्राओं से कर सकता था, लेकिन पूर्वोत्तर भारत और मनीपुर के पहाड़ों की यात्रा की लालसा तो मन की मन में ही रह गई।"

लेकिन 'हिमालय-परिचय' के चार खंड लिखकर राहुलजी ने अपने जिस संकल्प को पूरा किया, वह भी क्या सही अर्थ में पूरा हुआ? दास्तान दुःखद है।

राहुलजी को इलाहाबाद का लॉ जर्नल प्रेस बहुत पसंद था। मैनेजर कृष्णप्रसाद दर ने छपाई-सफाई और मुस्तैदी के मामले में इस प्रेस को भारत का एक सर्वश्रेष्ठ प्रेस बना दिया था। सन् 1933 से ही राहुलजी की पुस्तकें वहाँ से छपती आ रही थीं। बाद में प्रेस सेटों के हाथों में चला गया, मगर दर साहब को मैनेजर के पद पर कायम रखा गया। फिर प्रेस ने अपना प्रकाशन भी आरंभ किया, तो दर साहब ने राहुलजी से पुस्तकें माँगीं। 'हिमालय-परिचय' की दो पुस्तकें – 'गढ़वाल' और 'कुमाऊं' – राहुलजी ने उन्हें दे दीं, कुछ अग्रिम रुपया भी मिला।

दर साहब की देखरेख में 'गढ़वाल' का प्रकाशन (1953 ई.) खूब बढ़िया हुआ। 'कुमाऊं' भी मोनो में पंच हो गई थी। मगर उसी समय मालिकों ने दर साहब को हटा दिया। दर साहब के साथ तय हुआ था कि लॉ जर्नल प्रेस 'हिमालय-परिचय' की सभी पुस्तकें प्रकाशित करेगा। किंतु जब 'नेपाल' के लिए अग्रिम देने से मालिकों ने इनकार कर दिया, तो राहुलजी ने वह पुस्तक पटना के एक प्रकाशक को दे दी।

'नेपाल' के न मिलने का बहाना बनाकर लॉ जर्नल प्रेस ने 'कुमाऊं' को छापने से इनकार कर दिया। राहुलजी कर ही क्या सकते थे, सिवाय यह 'आशीर्वाद' देने के कि, 'थैलीशाही तेरा बेड़ा गर्क हो!' उन्होंने अग्रिम के पैसे लौटा दिए और वाराणसी से 'कुमाऊं' के प्रकाशन की व्यवस्था की। बाद में यह पुस्तक इलाहाबाद से पुनर्मुद्रित हुई, परंतु 'गढ़वाल' दुबारा नहीं छपी।

'नेपाल' का क्या हुआ?

नेपाल-यात्रा (जनवरी 1953) से पटना लौटे, तो बताते हैं। : "श्री मोहनलाल विश्नोई के यहाँ चाय पी। उन्होंने आग्रहपूर्वक 'नेपाल' को प्रकाशित करने को लिए माँगा। हमने उसके कुछ भाग को उसी समय दे भी दिया। यह 2 फरवरी 1953 की बात है, आज 1956 का अंत है, तीन वर्ष हो गए, नेपाल उनके पास पड़ा है। 304 पृष्ठ छापकर न आगे बढ़ने का नाम लेते हैं, न पीछे। लेखक क्या करे? इतनी मेहनत करके नए आँकड़ों के साथ जिस पुस्तक को तैयार करके दिया वह खटाई में पड़ी हुई है। उन्हें टैक्सट बुक और दूसरी छपाइयों से फुरसत नहीं है। कोफ्त होती है, ख्याल आता है कब ऐसी स्थिति से छुटकारा मिलेगा।"

राहुल का हिमालय प्रेम

राहुलजी मई 1961 में बीमारी की हालत में श्रीलंका से दीर्जलिङ्ग लौटे थे। उनकी बहुत-सी ज़रूरी चीज़ें विद्यालंकार विहार के उनके कमरे में थीं। राहुलजी 22 जून, 1961 को दीर्जलिङ्ग से आनंदजी को श्रीलंका में पत्र लिखते हैं। : "मैंने जिन पुस्तकों को भेजने को लिए लिखा उनमें 'नेपाल' के छपे फार्म (19) अतिमहत्व रखते थे। यदि वह गुम हो गए, तो पुस्तक नष्ट समझिए। इसलिए 'नेपाल' को रजिस्टर्ड-बुकपोस्ट से भेजने को कहा था। ... 'नेपाल' के नए प्रकाशक कलकत्ता में तैयार हो गए हैं, जिसमें वे फार्म भी ज़रूरी हैं। उनकी और कॉपी भी नहीं है। प्रेसवाला देगा, इसमें संदेह है।"

'नेपाल' छापने के लिए तैयार हुए कलकत्ता के नए प्रकाशक कौन थे?

वे थे – भारतीय ज्ञानपीठ के श्री लक्ष्मीचंद जैन। दिसंबर 1961 में राहुलजी पर 'स्मृति लोप' का आघात होने पर, पता चलता है कि, नए प्रकाशक ने 'नेपाल' के बारे में राय देने के लिए पांडुलिपि श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री को सौंपी थी। पृथ्वीनाथजी लिखते हैं : "जैसा कि स्वाभाविक था, राहुलजी ने इसे जन-इतिहास के रूप में लिखा था और महाराजाओं और राणाओं की भूमिका की, शोषक के रूप में, यत्र-तत्र सर्वत्र आलोचना की थी। तथ्य बहुत थे, विश्लेषण कम। ... इस रूप में भी पुस्तक प्रकाशनीय लगी। यही अपनी रिपोर्ट में मैंने लिखा।" आगे वे यह भी जानकारी देते हैं कि भारतीय ज्ञानपीठ ने 'नेपाल' की पांडुलिपि को 'प्रकाशनार्थ स्वीकृत' की श्रेणी में रखकर राहुलजी की पत्नी को 5000 रु. अग्रिम रायल्टी भिजवा दी।

परंतु 'नेपाल' ग्रंथ भारतीय ज्ञानपीठ से नहीं छपा। पृथ्वीनाथजी लिखते हैं : "इसका कारण भी बाद में मुझे पता चला, मगर यहाँ मैं उसकी चर्चा नहीं करना चाहता"

कारण का अनुमान लगाना ज्यादा कठिन नहीं है। सेठों की प्रकाशन संस्था ऐसी 'खतरनाक' पुस्तक छापकर नेपाल के प्रभुओं को क्यों भला नाराज़ करेगी? 'नेपाल' आज भी अप्रकाशित है। पता चला है कि राहुल जन्म-शताब्दी वर्ष (1993 ई.) में दिल्ली का एक प्रकाशक 'हिमाचल प्रदेश' को प्रकाशित कर रहा है। इस प्रकार, 'हिमालय-परिचय' का अब केवल एक ही ग्रंथ अप्रकाशित रह गया है – 'नेपाल'!

पुस्तक पूरी हो जाने पर वह तुरंत प्रेस में चली जाती थी, तो राहुलजी को बड़ी प्रसन्नता होती थी। एक जगह लिखते भी हैं : "पुस्तकों के लिखने में मुझे जितना आनंद आता है, उससे कहीं अधिक आनंद उसके प्रूफ देखने में आता है। पुस्तकों का लिखना मानो उसका गर्भ में आना है, और प्रकाशित होना जन्म लेना है। आदमी इससे अपने परिश्रम को सफल समझता है।"

हिंदी गद्य विवेचना

अपने जीवनकाल में 'नेपाल' और 'हिमाचल प्रदेश' को अजन्मा रहते देख राहुलजी को कितनी मानसिक व्यथा हुई होगी, इसका अनुमान लगाना ज्यादा कठिन नहीं है।

'हिमालय-परिचय' की पुस्तकों में ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में बहुत-सी कड़वी-कसैली बातें हैं, पड़ौसी देशों के साथ की सीमाओं के बारे में आज ग्राह्य न हो सकने वाली प्रामाणिक जानकारी है, इसलिए भी इनके प्रकाशन में दिक्कतें हुई हैं। परंतु हिंदी में बड़े परिश्रम से लिखी गई इन पुस्तकों का बहुत महत्व है, आगे की पीढ़ियों के लिए भी, यह बात निर्विवाद है। इन पुस्तकों में त्रुटियाँ हैं, यह बात राहुलजी भी जानते थे। लिखते भी हैं: 'हिमालय-परिचय' की त्रुटियाँ मुझे मालूम है। त्रुटियों को हटाकर और अच्छे ग्रंथ को प्रदान करना हमारी नई पीढ़ी का काम है।' इस तरह की बात वे अपनी प्रायः प्रत्येक पुस्तक के 'प्राक्कथन' में दोहराते हैं।

राहुल जन्म-शताब्दी वर्ष में 'हिमालय-परिचय' की सभी पुस्तकें सुसंपादित होकर एक स्थान से एक पुस्तकमाला (सेट) के रूप में प्रकाशित होती, तो बहुत अच्छा होता। लगता है कि इस दिशा में प्रयास नहीं किया गया।

सन् 1958 में मसूरी का अपना मकान बेचकर उसी साल राहुलजी चीन-यात्रा पर गए। वहाँ से लौटे, तो 1959 के पूर्वार्ध में देहरादून में रहे। उसी साल सितंबर में वे अकेले श्रीलंका गए, वहाँ विद्यालंकार विश्वविद्यालय में दर्शन के महाचार्य नियुक्त होकर। पत्नी ने अपने और बच्चों के लिए मायके (कालिपोड़) के नजदीक दार्जिलिङ् में नया मकान खरीदा। राहुलजी चाहते थे कि पत्नी व बच्चे श्रीलंका में उनके साथ रहें, परंतु पत्नी को यह मंजूर नहीं था। छुट्टियों में राहुलजी दार्जिलिङ् आए गए, मगर उन्हें वहाँ रहना पसंद नहीं था, यह बात आनंदजी को लिखे उन दिनों के पत्रों से स्पष्ट है। वे तो मानसिक रूप से इस बात के लिए भी तैयार थे कि 'शायद भस्मान्त सिंहल में ही हो!'

परंतु प्रकृति को, नगाधिराज को, यह मंजूर नहीं था। दार्जिलिङ् में ही 14 अप्रैल, 1963 को राहुलजी का देहावसान हुआ, भस्मांत हुआ। हिमालय के अनन्य प्रेमी को अंततः हिमालय की गोद में ही चिरशांति मिली।

संदर्भ और टिप्पणियाँ

1. कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', 'मंगलमूर्ति श्री राहुलजी', राहुल सांस्कृत्यायन, स्मृति ग्रंथ (नई दिल्ली, 1971), पृ. 42.
2. राहुल सांस्कृत्यायन, 'हिमपात', गति और रेखा, संचयन (नई दिल्ली, 1987), पृ. 36 व 37.
3. वही पृ. 35.
4. राहुल, मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2 (इलाहाबाद, 1950), पृ. 36.

राहुल का हिमालय प्रेम

5. वही, पृ. 414. उसी यात्रा में लाछेन् से आगे बढ़ने पर राहुलजी लिखते हैं : 'मैं खाली हाथ था। एकाध जगह थोड़ी-सी चढ़ाई आती, नहीं तो बराबर उतराई ही उतराई थी। देवदारों से मंद-सुगंध बयार आती थी, और उन्हीं की छाया में चलना पड़ता था। हिमालय ने अपने सुंदरतम दृश्य को सामने रखा था। मैं शायद कविता करने लगता, लेकिन बहुत साल पहले ही मैंने हाथ-पैर मार के देख लिया था, कि कविता-सुंदरी को मेरी सेवाएँ पसंद नहीं है। एक समझदार आदमी की तरह मैंने फिर उस रास्ते में पैर बढ़ाने का ख्याल नहीं किया। लाछेन् से तीन मील नीचे उतरते-उतरते देवदार रास्ते पर से गायब हो गए थे।' (पूर्वाक्त, पृ. 416).
6. वही, पृ. 327.
7. राहुल, मेरी जीवन-यात्रा, भाग-4 (दिल्ली, 1967), पृ. 318-19.
8. राहुल, विस्मृत यात्री (इलाहाबाद, 1993), 'दो शब्द', पृ. 3.
9. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-4, पृ. 388-89.
10. राहुल, मेरी जीवन-यात्रा, भाग-1 (कलकत्ता, 1951), पृ. 75.
11. राहुल, गढ़वाल (इलाहाबाद, 1953), 'प्राक्कथन'.
12. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-1, पृ. 302.
13. वही, पृ. 345.
14. वही, पृ. 415.
15. वही, पृ. 406.
16. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2 पृ. 52.
17. कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का लेख 'मंगलमूर्ति श्री राहुलजी', पूर्वाक्त, पृ. 38.
18. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2, पृ. 103.
19. वही, पृ. 13.
20. वही, पृ. 12.
21. वही, पृ. 339.
22. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-1, पृ. 246.
23. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2, पृ. 385, स्वामी प्रणवानंद के शोधकार्य और उनकी योग-साधना के बारे में जानकारी के लिए देखिए, ललित पंत का लेख 'स्वामी प्रणवानंद : मानस का हंस, पहाड़ 5/6, नैनीताल, 1992.
24. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-5, पृ. 319.
25. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2, पृ. 434.
26. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-4, पृ. 388-89.

हिंदी गद्य विवेचना

27. वही, पृ. 457.
28. वही, पृ. 461.
29. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-5, पृ. 18.
30. वही, पृ. 232
31. गढ़वाल, 'प्राक्कथन'.
32. राहुल, विस्मृत यात्री (इलाहाबाद, संस्करण : 1993), 'दो शब्द', पृ. 3, बाद में 'कुमाऊं' और 'जौनसार-देहरादून' प्रकाशित हुई, राहुलजी के जीवनकाल में ही।
33. बलभद्र ठाकुर संस्कृत के अच्छे पंडित थे, रूसी भी जानते थे। सन् 1948 में वे राहुलजी की एक साहित्य-यात्रा के साथी थे। फिर वे वर्धा में रहे।

9. रांगेय राघव के रिपोर्ताज मधुरेश

नाटकों की अपेक्षा रिपोर्ताज के क्षेत्र में रांगेय राघव का योगदान बहुत मौलिक और स्थायी महत्व का है। बंगाल के भीषण अकाल में, आगरा से प्रगतिशील लेखक संघ के तत्वावधान में डॉ. कुण्ठे के नेतृत्व में एक चिकित्सक दल पूर्वी बंगाल भेजा गया था। रांगेय राघव उन्नीस वर्ष की अवस्था में जब वह विद्यार्थी ही थे, इस दल के रिपोर्टर की हैसियत से गये थे। पूर्वी बंगाल में मृत्यु और भयावह विनाश का जो ताण्डव उन्होंने देखा उसे बहुत संवेदनशील ढंग से 'तूफानों के बीच' शीर्षक से लिखे गये इन रिपोर्ताजों में उन्होंने अंकित किया है। जब ये रिपोर्ताज धारावाहिक रूप से 'हंस' में प्रकाशित हुए तो हिंदी जगत में इनका प्रकाशन एक ऐतिहासिक महत्व की घटना माना गया था। तब अमृतराय 'हंस' के सम्पादक थे बाद में, रांगेय राघव पर अपना संस्मरण लिखते हुए इन रिपोर्ताज के बारे में उन्होंने टिप्पणी की है...

जहाँ तक मैं जानता हूँ रांगेय राघव के उन्हीं रिपोर्ताजों से हिंदी में रिपोर्ताज लिखने का चलन शुरू हुआ। मैंने और दूसरों ने रिपोर्ताज लिखे, लेकिन जो बात रांगेय राघव के लिखने में थी वह किसी को नसीब न हुई। जिन्हें उस वक्त की याद है वे याद करेंगे कि तब हवा में कैसी थरथरी थी। स्वाधीनता संग्राम अपने अन्तिम अध्याय में था। सन् बयालिस के दमन की पस्ती का दौर खत्म होकर आई.एन.ए. के जवानों की मुक्ति के प्रश्न को लेकर और फिर बम्बई में जहाजियों की बगावत को लेकर देश में फिर एक नया ज्वार आ रहा था। जगह-जगह जुलूस निकलते थे, लाटियाँ चलती थीं, गोलियाँ चलती थी, पकड़-धकड़ होती थी - और आज़ादी के उस जुलूस के साथ रांगेय राघव का रिपोर्ताज कन्धे से कन्धा मिलाये चल रहा था।

(रांगेय राघव का रचना संसार, पृ. 37)

चाहे बंगाल के अकाल से संबंधित रिपोर्ताज हो या ग्वालियर में मज़दूरों पर हुए गोलीकाण्ड से, रांगेय राघव सब कहीं जनता की साम्राज्य-विरोधी चेतना, स्वाधीनता

हिंदी गद्य विवेचना

संग्राम में हिस्सेदारी के उत्साह और साम्प्रदायिक सद्भाव को रेखांकित करते चलते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर में नाज़ी बर्बरता के विरुद्ध साहित्य और पत्रकारिता के मिले-जुले, मानवीय रंगों से इलिया ऐहरनबर्ग, तिखनोव और यूजिनि क्रीगर आदि सोवियत लेखकों ने अपने प्राणों की चिन्ता किये बिना सोवियत जनता की जिस प्रतिरोध चेतना का अंकन रिपोर्ताज की इस सद्यःविकसित विधा में किया था, हिंदी में रांगेय राघव का कार्य भी उसी कोटि का है।

'तूफ़ानों के बीच' में जो रिपोर्ताज संग्रहित है उनमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि लेखक के आगे इस बात को लेकर कोई भ्रम नहीं है कि ये अकाल प्राकृतिक आपदा नहीं, साम्राज्यवादी षड्यंत्र का एक हिस्सा है। अपनी संक्षिप्त भूमिका में इस ओर संकेत करते हुए लेखक ने लिखा है ...

'बंगाल का अकाल मानवता के इतिहास का बहुत बड़ा कलंक है। शायद क्लियोपेट्रा भी धन के वैभव और साम्राज्य की लिप्सा में अपने गुलामों को इतना भीषण दुख नहीं दे सकी जितना आज एक साम्राज्य और अपने ही देश के पूँजीवाद ने बंगाल के करोड़ों आदमी, औरतों और बच्चों को भूखा मार दिया है ...'

(ग्रंथावली-8, पृ. 188)

बंगाल की इस भुखमरी को वह इस देश की परतन्त्रता से जोड़ कर देखते हैं जिसके लिए जनता की महान् शक्ति और नये साहस पर उन्हें गहरा विश्वास है। बंगाली, असमिया, हिंदू और मुसलमान युवा साथियों का यह एक मिला-जुला दल था जिसने कुष्टिया, नारायन गंज और चटगाँव के दूरदराज क्षेत्रों में जाकर विनाश के उस ताण्डव के बीच जनता के साहस और उत्साह को देखा था। बंगाल की स्वर्णभूमि हाहाकार करती मृत्यु से एक महाश्मशान में बदल दी जाती है : बंकिम बाबू का 'आनन्दमठ' रांगेय राघव का 'विषाद मठ' बन कर रह गया है।

अपने विरुद्ध रचे गये इस भयंकर षड्यंत्र की ओर से न तो जनता उदासीन है और न ही किसी प्रकार का कोई भ्रम उसे है। इस मानवीय संकट ने चीज़ों को स्पष्ट रूप में देखने की क्षमता भी उसमें पैदा की है। कुष्टिया का मुस्लिम युवक कहता है ...

'उस दिन हमने देखा कि हिंदू-मुसलमान नहीं, हम भूखे थे, त्रस्त और शोषित थे। जब हम दोनों हिंदू-मुसलमान होकर हमारा रक्त चूसने के लिए एक हो सकते थे तो क्या हम अपने रक्त को बचाने के लिए एक नहीं हो सकते थे? उस दिन हिंदू, हिंदू नहीं था, न मुसलमान, मुसलमान। उस दिन दो वर्ग थे - लुटेरे और भूखे ...'

(ग्रंथावली-8 पृ. 193)

रांगेय राघव के रिपोर्ताज

जिस पद्मा पर बजरे में बैठकर एक दिन महाकवि ने अपने गीतों की रचना की थी, जिनकी गूंज से मानव की आत्मा में नवीन साहस और धमनी-धमनी में स्फूर्ति भरने वाली सृष्टि हुई थी, सब कुछ वैसा ही रहने पर भी जैसे कहीं बहुत कुछ बदल गया है ...

'वह शांत घर चाँदनी में सो रहे थे लेकिन मानव को इतना अवकाश, इतना समय नहीं था कि वह भी पानी पर बहती चाँदी-सोने की झिलमिल चादरों से आल्हादित होता। स्त्री यहाँ वेश्या हुई थी, पुरुष भिखारी, बच्चे घरघराते पशु ... समस्त वातावरण से मानों कराहे फूट पड़ती थी ...'

(वही, पृ. 194)

अपने ही पेट के बच्चों को सोता छोड़कर रूपलाल की पत्नी पति द्वारा कहीं से कैसे ही लाया गया चावल पकाकर, उसके लौटने की प्रतीक्षा किये बिना ही, खा जाती है ... लौटने पर क्रोध से बिफर कर रूपलाल अपने बच्चों समेत उसे गंडासे से काट डालता है और स्वयं पुलिस के पास पहुंचकर आत्म समर्पण कर देता है। दो जवान मुसलमान औरतें जिनमें से एक-एक और दूसरी दो बच्चों की माँ है, परिवार के पुरुषों द्वारा छोड़कर चले जाने पर बाज़ारू औरतों के घर चली जाती हैं। वे अकेली ही नहीं हैं, बंगाल की पच्चीस-तीस प्रतिशत औरतों के साथ यही हुआ था। बाहर से आये भट्टाचार्य जैसे कुछ लोग भले ही उनकी इस कारगुज़ारी को सुनकर रोष से थूक टिकती आवाज़ में कुछ भी कहें। वहीं का बूढ़ा मुसलमान उनके बारे में निर्णय को लेकर ऐसी कोई जल्दबाज़ी नहीं दिखाता। यह ठीक है कि जहाँ बहुत-सी औरतों ने वेश्या बनने के बदले भूखे रहकर मर जाना ठीक समझा, ये भी अगर मर जातीं तो क्या फ़र्क पड़ता। लेकिन फिर बहुत संजीदगी और उदासी भरे लहज़े में वह पलट कर पूछता है - लेकिन मरना भी क्या इतना आसान है? शिद्धिर गंज, ढाका में जब टोली का कोई सदस्य मरियल बैल के पास बैठे नारियल पीते बूढ़े बुनकर को टोली के सदस्यों का परिचय देते हुए गाँव के हालचाल पूछता है तो वह उत्तर देता है ... हाल चाल? ... वह देखो .. और उसने एक कब्र की ओर इशारा किया और कहता गया, ... शिद्धिर गंज के हालचाल सुनना चाहते हो? एक-दो तीन गाँव के एक छोर से दूसरे छोर तक चले जाओ। कसम है, अगर तुम किसी को हाय-हाय करते पाओ। नहीं, आज कुछ नहीं है। था एक दिन, जब गाँव में रात-दिन रोने-कराहने के सिवा और कुछ भी सुनायी नहीं देता था। मगर अब तो वह सब कुछ नहीं है' ... (वही, पृ. 208)

ढाके की जिस मलमल को कभी शहंशाह पहनते थे वहाँ के कारीगर चूहों की मौत मर चुके हैं। एक ही कतार में बनी चौदह कब्रें और पगडण्डियों पर बैठे भूखे और मरियल कुत्ते। एक भुतहा सन्नाटा कसे हुए तार की तरह पूरे गाँव पर, एक छोर से दूसरे छोर तक तना हुआ है ... साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवादी गठबन्धन के परिणामस्वरूप देश एक

हिंदी गद्य विवेचना

भयंकर बुचड़खाने में बदल कर रह गया है। चटगाँव में बच्चों के अस्पताल में बच्चों के नाम पर अधिकांश जीव पल रहे हैं उन्हें देखकर उन्हें गोद में लेने को जी नहीं होता – जैसे हड्डियों पर चमड़ी मढ़ी है जिनके बारे में नर्स की टिप्पणी है 'अधिकांश सड़क की उपज है ...' उन्हें देखकर लेखक अपनी कल्पित प्रेमिका को पत्र में लिखता है ...

'इलिया ऐहरनबर्ग नात्सी बर्बरता के खिलाफ़ बहुत चिल्लाता है। पर मैं चिल्लाना नहीं चाहता क्योंकि तुम दूर से शायद नहीं समझोगी कि मेरे सामने क्या है? लौटने पर एक दिन तुम मेरे साथ श्मशान चलना। मैं हड्डियों पर एक दूसरी को टिका दूँगा और तुम विश्वास से देखना वह ढाँचा मुस्करा देगा ...।' (वही, पृ. 232)

अकाल के बाद चेचक, हैजा और महामारी से लड़ती जनता फ़ौजियों द्वारा बीमारियों की रोकथाम और इन स्वयंसेवकों की सहायता के अन्तर को अच्छी तरह समझती है। उसके साथ मरने और जीने वाले निर्णय को थोड़ा बदल कर लेखक इच्छा व्यक्त करता है – लेकिन साथ मरेंगे नहीं, साथ जियेंगे।

'यह ग्वालियर है!' ग्वालियर में मज़दूरों पर हुए गोलीकाण्ड से संबंधित है। यहाँ भी लेखक साम्राज्यवाद की दमन और निरंकुशता की नीति से ही इस घटना को जोड़ कर देखता है। इन मरने वाले मज़दूरों में भी हिंदू और मुसलमान दोनों थे। अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर युद्ध की यह हुँकार भारत की जनता में 1857 में भी है, जलियांवाला बाग में भी है, सन् '30 में भी है, सन् '42 में भी है। स्त्रियों को गोली से मारने की भर्त्सना करने वाला युवक अपनी छाती खोल कर खड़ा हो जाता है। उसके आगे वारेन हेस्टिंग्स की विशाल मूर्ति और आठवें एडवर्ड का राज्य त्याग कितना हेच लगता है! उस रानी लक्ष्मीबाई की समाधि इसी ग्वालियर में है जिसने विदेशियों के दाँत खट्टे कर दिये थे। उसके हाथ की चमचमाती तलवार से पैदा हुई बिजलियों की लरज़ और कड़क आज सम्मिलित होकर एक नयी हुँकार का रूप ले रही है। आज साम्राज्यवाद के गढ़ में भी यह आग, युद्ध और हलचल दिखायी देती है क्योंकि मज़दूर वर्ग अँगड़ाई लेकर जाग रहा है। यह नंगों और भूखों की जागृति है जिसने विदेशी साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद के वर्ग चरित्र को एकदम साफ़ कर दिया है। वातावरण में व्याप्त सड़क नाली की मामूली सड़क नहीं है, जैसा कि भ्रम होता है ... 'हिन्दुस्तान में सुबह के वक्त जब हवा साफ़ होनी चाहिए थी, मन मिचलाने वाली, उबकाई लाने वाली बदबू क्यों फैल रही है – क्यों वारेन हेस्टिंग्स की लाश सड़ रही है, गल रही है, उसमें कीड़े पड़ गये हैं, चल रहे हैं, गिलगिले, गलीज़, धिनौने ...' (वही, पृ. 258)

स्पष्ट ही यह लाश अकेले वारेन हेस्टिंग्स की न होकर पूरे साम्राज्यवाद की है।

10 . श्रीकांत वर्मा की जिरह अरविंद त्रिपाठी

हालाँकि श्रीकांत वर्मा मुख्यतः और अंततः एक कवि हैं जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, 'मैं एक कवि के रूप में प्रकट हुआ, एक कवि के रूप में मरूँगा।' (साक्षात्कार : श्रीकांत वर्मा रचनावली-4, पृ. 307)। यद्यपि उन्होंने कविता के अलावा कहानियाँ, उपन्यास, डायरी, आलोचना, अनुवाद, यात्रा-वृत्तांत जैसी विधाओं में कविता के समानान्तर लगातार लिखा – तीन दशक तक पत्रकारिता की। साहित्य और जीवन की खोज में तीन बार पूरी दुनिया की यात्राएँ कीं और अंत में कहा 'भारत अद्भुत और महान् देश है।'

इस तरह देखा जाय तो इस छोटे क़द के कुतुब आदमी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वह एक अद्भुत कवि है, इसमें संदेह नहीं; पर कवि के अलावा उसके वैचारिक गद्य में एक सक्रिय बुद्धिजीवी की छवि उभरती है। यह छवि उसके कवि रूप से कम महत्वपूर्ण नहीं, जैसे अज्ञेय और मुक्तिबोध बुनियादी रूप से एक कवि के रूप में जाने-माने जाते हैं। पर इनका वैचारिक गद्य क्या कम मूल्यवान है?

श्रीकांत वर्मा रचनावली के तीसरे और चौथे खण्ड से गुज़रते हुए पाठक को श्रीकांत वर्मा के बौद्धिक व्यक्तित्व की ऊँचाइयों का पता चलता है। अगर वे हमेशा एक बेचैन और उत्तप्त लेखक रहे तो उसका सीधा साक्षात्कार उनके वैचारिक और आलोचनात्मक लेखों, टिप्पणियों, बहसों से करना होगा। जिनमें गहरी विविधता और सघन वैचारिक ऊष्मा का विस्फोट निहित है। उन्होंने वैचारिक गद्य लेखन की यात्रा कवि-कर्म के साथ-साथ की। खासतौर से उन्होंने नयी कविता और नयी कहानी आंदोलन के दौर में चरम वैयक्तिकता का तीखा विरोध किया था। उनके आरंभिक आलोचनात्मक लेखन में इन आंदोलनों की भीतरी राजनीति और उनके निहित सरोकारों पर तीखे प्रहार हैं। तब वे साहित्य में व्यक्तिवाद, कलावाद से जूझ रहे थे।

भटका मेघ (1957) की भूमिका लिखते हुए श्रीकांत ने नयी कविता के व्यक्तिवाद, क्षणवाद पर तीखी टिप्पणियाँ की थीं। स्पष्ट रूप से वे अज्ञेय की नयी कविता के शास्त्र के विरुद्ध खड़े थे। वे प्रतिवाद करते हुए कहते हैं 'प्रश्न यही है कि आज की जीवंत

हिंदी गद्य विवेचना

कविता में कौन-सा व्यक्तित्व उभर रहा है? आज के जीवंत मूल्य कौन-से हैं? राहों के अन्वेषण के लिए मशाल की ज़रूरत होती है। अंधकार के खंडहरों में भटककर चिमगादड़ के पंखों की फटफटाहट को ही जीवन का एकमात्र चिह्न मान लेना एक और बात है, पथ की खोज करना एक और बात है। (श्रीकांत वर्मा रचनावली, पृ. 458)।

यह वक्तव्य छत्तीसगढ़ के उस आरंभिक श्रीकांत का है जो अपनी कविता के ज़रिये जीवन-मूल्यों और आस्था की खोज करने निकला है। तब उसके व्यक्तित्व पर मुक्तिबोध की गहरी छाप मौजूद थी। मुक्तिबोध के व्यक्तित्व की काली धधकती आँच और उनकी कविता के भयानक संसार ने उसे वह विद्युत स्पर्श दिया था, जिसके चलते वह नयी कविता आंदोलन में मुक्तिबोध और उनकी कविता की परम्परा के साथ विकसित हो रहा था। तब उसने नयी कविता में, मुक्तिबोध के साथ 'जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि' को तोड़ने के लिए सप्तक परम्परा से बाहर आकर अज्ञेय के व्यक्तिवाद के किले को तोड़ने की पुरज़ोर कोशिश की थी।

वे अज्ञेय को आधुनिक काव्य का एक ग़लत प्रणेता मानते थे। उनका स्पष्ट मत था कि 'मैं इस नतीज़े पर पहुँचने लगा हूँ कि हिंदी को उसकी जड़ से सबसे अधिक अज्ञेय ने उखाड़ा है। उन्होंने उस पर बाहरी माँग, झूठी मान्यताएँ और नकली चिन्ताएँ आरोपित कीं, इससे हिंदी साहित्य और इससे भी अधिक हिंदी लेखकों का व्यक्तित्व बेडौल हो गया, जो एक व्यक्तित्व का अहं था वह दूसरों का बोझ बन गया।

अज्ञेय के साथ हिंदी लेखन एक ग़लत दिशा में मुड़ गया। हमें नियति का चमत्कार ही कहना चाहिए कि हिंदी लेखन ने 1940 के आस-पास अपने लिए वह भूमिका ओढ़ ली, जो उसके लिए नहीं थी।

तीस वर्षों में कहीं भी इतना छद्म लेखन नहीं हुआ जितना कि 1940 से 1970 के बीच हिंदी में हुआ। अज्ञेय की कविताएँ और गद्य हिंदी छद्म लेखन की शुरुआत हैं। 1965 से 1970 के बीच अकविता इस लेखन की चरम परिणति है।' (श्रीकांत वर्मा की डायरी 6 फरवरी 1972 रचनावली-2, प. 355)।

इस वक्तव्य के परिप्रेक्ष्य में देखें तो श्रीकांत ने अपने कवि-कर्म की शुरुआत नयी कविता के व्यक्तिवाद के विरुद्ध जा कर की। वे अज्ञेय की धारा के विरुद्ध बह रहे थे। वह धारा मुक्तिबोध के समीप थी। पर वह निश्चित रूप से परिमल की नयी कविता और अज्ञेय की कविता के विरोध में बह रही थी। उन्होंने 'मायादर्पण' संग्रह में 'नकली कवियों की वसुन्धरा' शीर्षक से लिखी अपनी बहुचर्चित कविता में जैसे नयी कविता के दौर के उन नकली कवियों का विरोध किया था और लगभग गाली की भाषा में चेतावनी दी थी— 'बरस रहा है अंधकार, मगर उल्लू के पट्टे स्त्रियाँ रिझाऊ कविताएँ लिख रहे हैं', ऐसा

श्रीकांत वर्मा की जिरह

कहकर उन्होंने नयी कविता की व्यक्तिवादी रोमाण्टिकता ' को मुक्तिबोध की तरह एक कठिन चुनौती के रूप में पेश किया। 'मायादर्पण' में कवि की सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ अन्वेषी दृष्टि उनके सजग काव्य विवेक का प्रमाण है। इसे कवि के व्यक्तिगत सिनिसिज़्म में रिड्यूस करना उसके सामाजिक सरोकारों को अनदेखा करना होगा।

श्रीकांत व्यक्तिवाद के समानान्तर उन नक़ली प्रगतिवादियों से भी संघर्ष करते देखते हैं जो कविता को महज़ नारा और गाली बना रहे थे। वे मुक्तिबोध के नाम लिखे (13-12-63) अपने पत्र में युवा कविता का विरोध कर रहे पुराने प्रगतिवादी आलोचकों का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं - 'नयी पीढ़ी को कोसकर फिर से जीवित हुए पुराने प्रगतिवादी आलोचक ग़लती कर रहे हैं। यह सही है कि बहुत-सा फ़ैशनेबल साहित्य भी रद्दी, भद्दी पत्रिकाओं में छप रहा है, मगर आज के साहित्य का महत्वपूर्ण अंश पहले से अधिक मानवीय है ... मैं अब भी एक वामपक्षी समाजवादी समाज में विश्वास करता हूँ और करूँगा क्योंकि मनुष्यता के लिए एक मात्र रास्ता यही है। मगर जिस तरह का अवसरवाद हमारे सामाजिक जीवन के भीतर-ही-भीतर पनप रहा है उससे वामपक्ष भी बरी नहीं है। बल्कि अगर विचारधारा को छोड़ दिया जाये तो व्यवहार और कर्म से वाम और दक्षिण में कोई अन्तर नहीं रह गया है।' (श्रीकांत वर्मा रचनावली 4, पृष्ठ 423)।

गौर किया जाये तो श्रीकांत के वैचारिक आरंभ में एक ओर मुक्तिबोध उन्हें काव्य और साहित्य के स्तर पर प्रभावित कर रहे थे तो दूसरी तरफ़ राजनीतिक विचारधारा के स्तर पर वे डॉ. लोहिया के विचार और कर्म से गहरे स्तर पर आकृष्ट हुए। डॉ. लोहिया के प्रति श्रीकांत का यह आकर्षण केवल आकर्षण भर नहीं था बल्कि वे देश की राजनीति में नेहरू के विकल्प के रूप में डॉ. लोहिया को देख रहे थे। अन्य समाजवादी लेखकों और बुद्धिजीवियों की तरह श्रीकांत डॉ. लोहिया के ग़ैर कांग्रेसवाद और उनकी सप्तक्रांतियों में गहरी आस्था रखते थे।

श्रीकांत लोहिया के व्यक्तित्व की आँच से किस हद तक प्रभावित थे इसके लिए उनका लोहिया के बारे में यह वक्तव्य काफ़ी है - 'ग़लत दुनिया में पैदा होने का अहसास क्रांतिकारी की पहली शर्त है। राममनोहर लोहिया के पहले औरों को भी यह अनुभव हुआ होगा कि वे ग़लत हिंदुस्तान में पैदा हुए हैं ... और आक्रांता इतिहास से जूझते हुए राममनोहर लोहिया ऐसे समय में मरे जबकि युवक यह समझने लगे थे कि कुछ थोड़ा-मोड़ा नहीं सब कुछ ग़लत है ... लोहिया इस ख़तरे को जानते थे। इसलिए उन्होंने अस्वीकार के दर्शन को जिसे उन्होंने स्वयं ही रचा, कर्म का दर्शन बनाया।' (श्रीकांत वर्मा रचनावली-3, पृ. 70)।

हिंदी गद्य विवेचना

श्रीकांत मानते हैं कि डॉ. लोहिया का समूचा चिन्तन एक ऐसी तर्क प्रणाली है जिसकी चपेट में आकर कोई भी रूढ़ि बच नहीं सकती। वे मानते हैं कि डॉ. लोहिया के पूर्व भारतीय राजनीति में गाँधी ही एक ऐसे जननायक थे जिन्होंने हर प्रश्न को विशाल संदर्भ में देखा था। इसीलिए डॉ. लोहिया के प्रश्नों का अन्त नहीं है। वे मानते हैं, "डॉ. लोहिया के पास किसी भी प्रश्न का हल नहीं है। जो लोग हल की तलाश में उनके नज़दीक पहुँचेंगे, उन्हें सबसे अधिक निराशा होगी। बल्कि झुँझलाहट भी होगी क्योंकि उन्होंने हल ढूँढ़ने की बजाय केवल प्रश्न पेश करना अपना कर्तव्य समझा। उनका मन लाखों शंकाओं से भरा हुआ है। जैसे फ्रांस के अस्तित्ववादियों ने स्वयं जीवन के प्रति शंकाएँ उठायी थीं, वैसे ही डॉ. लोहिया ने इतिहास के प्रति शंकाएँ उठायी हैं। यह भी एक कारण है कि शासक राजनेताओं को डॉ. लोहिया का व्यक्तित्व समझ में नहीं आता। उनकी निगाह में लोहिया एक हताश राजनीतिज्ञ हैं, जो जीवन भर दूसरों को चुनौती देते रहे। लेकिन वास्तविकता यह है कि श्री लोहिया ने दूसरों को चुनौतियाँ दी नहीं है बल्कि अपनी वे शिकायतें और सवाल उठाये हैं, जिनसे जूझते हुए स्वयं उनका व्यक्तित्व क्षत-विक्षत हो गया है।" (श्रीकांत वर्मा रचनावली-5, पृ. 67)।

श्रीकांत ने भारतीय राजनीति और समाज में डॉ. लोहिया की स्थिति को 'आत्म निर्वासन' कहा है। वे कहते हैं इस तरह का निर्वासन आज के हर विद्रोही की नियति है। ज़ाहिर है लोहिया का यह आत्म-निर्वासन श्रीकांत की युवाकाल की वाणी का जैसे पाथेय बन गया। सन् '60 के बाद श्रीकांत के कवि कर्म में जो दूसरा निर्णायक मोड़ आया, उसके पीछे भारतीय राजनीति के इसी आत्मनिर्वासित जननायक की भूमिका है, जिसने श्रीकांत की कविता और विचार को दो टूक, निर्मम और नाराज़ बनाया। जिस तरह डॉ. लोहिया समाज और राजनीति में आत्मनिर्वासित नायक रहे, उसी तरह श्रीकांत की कविता का नायक आत्मनिर्वासित नायक है। जो लोहिया की तरह कविताओं में प्रश्न पूछता है, ज़िरह करता है।

श्रीकांत के वैचारिक गद्य में जो अंतहीन बहस, जिरह और प्रश्न खड़ा करने की आदत है, यह उन्हें विरासत में डॉ. लोहिया से मिली। जिससे श्रीकांत अपने विचारों के सबसे बड़े वकील बने। दरअसल लोहिया की वाणी और विचार का असर सिर्फ़ श्रीकांत पर ही नहीं है बल्कि उनके समकालीनों, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और विजयदेव नारायण साही सरीखे कवियों पर भी पड़ा है। श्रीकांत में लोहिया की वाणी की आक्रामकता और दो टूकपन सबसे ज़्यादा है। शायद इसीलिए श्रीकांत के गद्य और कविता की भाषा का तापमान हमेशा चढ़ा रहा, इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि लोहिया के बिना श्रीकांत की वैचारिक ऊष्मा की पड़ताल अधूरी है।

श्रीकांत वर्मा की जिरह

श्रीकांत की पहली भेंट डॉ. लोहिया से 1963 में हुई थी। श्रीकांत कहते हैं, 'मैं उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ था और उनका भी मेरे प्रति अनुराग था।' डॉ. लोहिया की असामाजिक मौत से श्रीकांत कितने गहरे सदमें में हैं, इसका अन्दाज़ा उनकी इस टिप्पणी से लगाया जा सकता है : 'गरीब बाप के बेटे राममनोहर लोहिया ने चालीस साल तक इस देश की गरीबी, अशिक्षा और भुखमरी के विरुद्ध अकेले संघर्ष किया है, पिछले दस दिनों से वह तमाम डॉक्टरों के बावजूद मृत्यु से अकेले संघर्ष कर रहे हैं ... हाल के इतिहास में किसी एक आदमी के लिए इतनी प्रार्थनाएँ नहीं की गयीं जितनी कि पिछले दस दिनों से डॉ. लोहिया के लिए की जा रही हैं। नयी दिल्ली का विलिंग्डन अस्पताल देश की चिन्ता और बेचैनी का केंद्र बना हुआ है।' डॉ. लोहिया की मृत्यु पर वे लिखते हैं – 'और लोग मरने के बाद सम्पत्ति छोड़ जाते हैं, सम्पत्ति के सबसे बड़े विरोधी डॉ. राममनोहर लोहिया कोई सम्पत्ति नहीं छोड़ गये, यहाँ तक कि अपनी भस्मी भी नहीं, उनकी जो थोड़ी-सी भस्मी मिली, वह संगम पर प्रवाहित नहीं की जायेगी। डॉ. लोहिया को समुद्र से प्रेम था। इस प्रेम को दृष्टि में रखते हुए उनके कुछ मित्रों ने यह निश्चय किया है कि थोड़ी-सी राख कन्याकुमारी अन्तरद्वीप पर प्रवाहित कर दी जाये ... डॉ. लोहिया बेघर थे। मृत्यु के बाद अब उनके लिए घर की व्यवस्था की जा रही है।' (दिनमान, 22 अक्टूबर 1967)।

डॉ. लोहिया के अवसान के बाद समाजवादी आंदोलन बिखरने लगा। डॉ. लोहिया ने गाँधी की राजनीतिक विरासत के स्वप्न को गैर कांग्रेसवाद में देखा था। श्रीकांत डॉ. लोहिया के जीवनकाल में इस गैर कांग्रेसवाद के समर्थक थे। पर उनके न रहने पर गैर कांग्रेसवाद की सरकारों में एक गहरा अवसरवाद पैदा हुआ। इससे लोहियावादी बुद्धिजीवियों को एक बड़ा झटका लगा। श्रीकांत लिखते हैं 'समाजवादी आंदोलन बिखरने लगा और अन्य बुद्धिजीवियों की तरह मैं भी समाजवादियों से दूर जा पड़ा। 1969 में श्रीमती गाँधी ने ऐसे कई क़दम उठाये, जिन्हें मैं अब भी जनवादी मानता हूँ। मैं आकर्षित होकर श्रीमती गाँधी के निकट आया।' (वही, परिशिष्ट-ग पत्र)। हालाँकि श्रीमती गाँधी कितनी जनवादी थीं यह बहस का एक अलग मुद्दा है। पर इतना तय है कि राजनीतिक विचारधारा के स्तर पर श्रीकांत का समाजवादियों से मोहभंग और श्रीमती गाँधी के आकर्षण में खिचकर कांग्रेस में जाना उनके वैचारिक परावर्तन का एक गंभीर मोड़ है। श्रीकांत तर्क देते हैं कि 'डॉ. लोहिया यह अच्छी तरह समझ चुके थे कि जब तक कांग्रेस नहीं टूटती है तब तक वह सत्ता भी नहीं टूटेगी जिसे वह सर्वग्रासी कहते थे। यह अजीब बात लग सकती है लेकिन सच यह है कि कांग्रेस को तोड़ने की प्रक्रिया दो स्तरों पर चली एक डॉ. राममनोहर लोहिया के स्तर पर, दूसरी श्रीमती गाँधी के स्तर पर। लोहिया जी कुछ भिन्न कारणों से कांग्रेस को तोड़ना चाहते थे जबकि श्रीमती गाँधी अन्य कारणों से। लेकिन दोनों के

हिंदी गद्य विवेचना

उद्देश्यों में बहुत विरोध नहीं था।" (श्रीकांत वर्मा रचनावली-4, पृ. 329)। श्रीकांत फिर प्रश्न करते हैं "क्या आप कल्पना कर सकते हैं। कि यदि लोहिया जीवित रहते तो 1969 में वही करते जो उनके अनुयायियों ने किया। वह सत्ता पर हावी होने की कोशिश करते, क्योंकि उनका विश्वास था कि सत्ता सामाजिक क्रांति और परिवर्तन का अस्त्र है, उसे प्राप्त करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। शायद वे अल्पमत में जा रही कांग्रेस से सौदे करते, शर्तें रखते, सत्ता में हिस्सेदारी करते ताकि सामाजिक परिवर्तन का पक्ष प्रशस्त हो सके।" (वही, पृ. 339)। श्रीकांत के इस निष्कर्ष से हालाँकि सहमत होना कठिन है कि डॉ. लोहिया और श्रीमती इन्दिरा गांधी के उद्देश्यों में बहुत विरोध नहीं था। लेकिन वे श्रीमती गांधी से उसी तरह प्रभावित हुए जैसे कभी डॉ. लोहिया से। इसीलिए वे कांग्रेस में गये। क्योंकि कांग्रेस विभाजन के बाद इंडीकेट कांग्रेस की श्रीमती गांधी पर्याय थीं जो आजीवन बनी रहीं। पर श्रीकांत वैचारिक स्तर पर कभी कांग्रेस से जुड़े नहीं रहे। बल्कि कांग्रेस से जुड़े रहने का एकमात्र रहस्य ही उनके लिए श्रीमती गांधी थीं; क्योंकि श्रीमती गांधी के बाद श्रीकांत का मोहभंग कांग्रेस से उसी तरह होता है जैसे डॉ. लोहिया के न रहने पर समाजवादियों से। श्रीकांत के राजनीतिक रुझानों को समझने में इस तथ्य को नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए। उनकी कांग्रेस से मोहभंग की कहानी जानने के लिए आज उनकी डायरियों के वे पन्ने विशेष महत्व रखते हैं जिन्हें उन्होंने अपनी मृत्यु के कुछ माह पहले लिखा था।

यहाँ राजेंद्र माथुर का श्रीकांत की राजनीति के सिलसिले में यह विश्लेषण सटीक लगता है "लोहिया से वे प्रभावित हुए अवश्य लेकिन दिनमान में की गयी पत्रकारिता उन्हें लगातार सक्रिय राजनीति की ओर ले आयी और जब 1968-69 में इंदिरा गांधी और तथाकथित सिंडिकेट के बीच मुकाबला चला तो वे इंदिरा गांधी के पक्षधर हो गये। पर श्रीकांत कांग्रेसी होते हुए भी कांग्रेसी संस्कृति के अंग नहीं बन सके। वे इंदिरा गांधी के व्यक्तित्व और उनकी कार्य-प्रणाली के कायल थे। और यही उनकी राजनीति थी। वे हमेशा उनको प्रति ईमानदार बने रहे। और हालाँकि आपात्काल के दौरान वे संजय गांधी के कारनामों से सहमत नहीं थे लेकिन इंदिरा गांधी का साथ उन्होंने नहीं छोड़ा।" (श्रीकांत वर्मा के निधन पर लिखा संपादकीय : नवभारत टाइम्स, 27 मई, 1986)।

देखा जाय तो राजनीतिक स्तर पर श्रीकांत शुरू से ही समाजवादी विचारधारा के समर्थक रहे। जब वे श्रीमती गांधी के संपर्क में आये तब भी उनका समाजवादी तेवर बुझा नहीं। वे सच्चे लोकतंत्र के हिमायती थे। वे चाहते थे कि समता के आधार पर समाज में सम्पन्नता आये। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को वे लोकतंत्र में सबसे बड़ा मूल्य मानते थे। शायद इसीलिए उन्होंने जीवन भर किसी भी तरह की तानाशाही ताकतों का विरोध किया। उनके कुछ आलोचकों का यह आरोप सही नहीं है कि वे इमरजेंसी के समर्थक थे। बल्कि

श्रीकांत वर्मा की जिरह

इसके विरोध में उन्होंने लेखकों के एक प्रतिनिधि मण्डल के साथ श्रीमती गाँधी से शिकायत की थी कि लेखकों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर हमला किया जा रहा है। इसलिए इमरजेंसी के दौर में कांग्रेस में बने रहने की उनकी नियति को इमरजेंसी का समर्थक नहीं घोषित किया जा सकता। इंदिरा गांधी के साथ तो वे तब भी बने रहे जब सन् '77 के आम चुनावों में कांग्रेस का सफ़ाया हो गया था। वे अगर अवसरवाद की राजनीति में विश्वास करते तो अन्य कांग्रेसियों की तरह जनता पार्टी में शामिल हो सकते थे। क्योंकि उस दौरान उन्हें पुराना समाजवादी मानकर जनता पार्टी के लोगों ने प्रलोभन दिये थे कि 'वापस आ जाओ' पर श्रीकांत पीछे नहीं लौटना चाहते थे। क्योंकि तब वे ग़ैर कांग्रेसवाद के औचित्य को नाकाफ़ी मान चुके थे।

चूँकि श्रीकांत एक लेखक होने के साथ ही देश की राजनीति में भी सक्रिय रहे हैं इसलिए उनके साहित्यिक-वैचारिक सरोकारों के साथ उनके राजनीतिक सरोकारों को भी ध्यान में रखना ज़रूरी है। हालाँकि श्रीकांत साफ़-साफ़ कहते हैं कि "मेरे साहित्य और मेरी राजनीति की दुनिया अलग-अलग हैं। दोनों को एक में मिलाना मेरे साथ ज़्यादाती है।" पर क्या एक लेखक का साहित्य उसकी राजनीति से बिल्कुल अलग है? श्रीकांत के साहित्य और राजनीति के सिलसिले में यह बहस का एक दिलचस्प मुद्दा है। जो हमेशा विचारणीय रहेगा।

जैसा कि पहले कहा गया अपने साहित्यिक जीवन में श्रीकांत मुक्तिबोध से गहरे स्तर पर प्रभावित रहे। उनकी कविताओं को लेकर हमेशा उनमें तीव्र आकर्षण रहा। मुक्तिबोध की कविता में जो भयानक तनाव और अंतर्द्वंद्व हैं उसे श्रीकांत ने अपने कवि-कर्म में आजमाया। पर वैचारिक स्तर पर उन्होंने डॉ. लोहिया की समाजवादी अवधारणाओं पर विश्वास रखने के चलते मुक्तिबोध की विचारधारा से अपनी असहमति व्यक्त की थी। इसीलिए वे मार्क्सवाद और मार्क्सवादियों से जीवन भर असहमत रहे। क्योंकि वे इस दर्शन को मनुष्य की मुक्ति का अंतिम दर्शन नहीं मानते थे। इसीलिए वे शुरू से लेकर आखिर तक अपनी ज़िरह में मार्क्सवाद से प्रश्न पूछते हैं, असहमत होते हैं और लगातार झगड़ते हैं। पर इस झगड़ने में उनकी मुद्रा मार्क्सवाद को रद्द करने की नहीं है जैसा कि कुछ मार्क्सवादी लेखकों ने श्रीकांत को मार्क्सवाद का कट्टर विरोधी मान लिया। जैसे कट्टर विरोधी अज्ञेय, नरेश मेहता और निर्मल वर्मा सरीखे घोर कलावादी और व्यक्तिवादी लेखक हैं।

अगर ऐसा होता तो श्रीकांत मुक्तिबोध और परसाई सरीखे कट्टर मार्क्सवादी लेखकों को अपना आदर्श नहीं बनाते। वे मुक्तिबोध की कविता को हिंदी कविता का एक महान् युग मानते हैं। मुक्तिबोध के जीवन और कविता पर उनकी यह टिप्पणी कितनी अर्थवान है, यह देखने की चीज़ है – 'तालाब के किनारे बैठकर रोमैण्टिक हो जाना स्वाभाविक है।

हिंदी गद्य विवेचना

मुक्तिबोध दूसरी तरह के रोमैण्टिक थे। उनके पास न प्रेम-कथाएँ थीं न सस्ती भावुकता थी। उनके पास मालवे की यादें थीं। प्रकृति की स्मृतियाँ थीं। और उनकी प्रकृति भी जैसा कि उनकी कविता से स्पष्ट है और कवियों की प्रकृति से अलग है, अज़ीबोगरीब है। पेड़ों में बरगद उनका मनपसंद पेड़ था और पक्षियों में घुग्घू, देवताओं में, देव-प्रतिमाओं में अगर उन्हें कोई प्रिय था तो भैरों। यह विशालता, विश्वबोध जो अक्सर कालातीत हो जाता है मुक्तिबोध के काव्य और व्यक्तित्व की विशेषता थी। वह कहीं भी हों, लगता था किसी बड़े संदर्भ से जुड़े हुए हैं। उनका हर अनुभव किसी महानुभव से जाकर जुड़ जाता था। चाहे वह जुम्मा टैंक हो या टेकड़ी—मुक्तिबोध के लिए वे केवल प्रसंग थे। संदर्भ था - वह महाजीवन जिससे मुक्तिबोध एक इतिहासज्ञ, एक पुरातत्ववेत्ता और एक वैज्ञानिक की तरह जूझ रहे थे।" (श्रीकांत वर्मा रचनावली-4, पृ. 65)।

इस तरह श्रीकांत मुक्तिबोध के जितने कट्टर समर्थक हैं, शिवदान सिंह चौहान जैसे जड़ मार्क्सवादियों के उतने ही विरोधी। वे शिवदान सिंह के वर्ग संघर्ष के एलान को एक राजनीतिक कार्यकर्ता का एलान मानते हैं। वे साहित्य में प्रतिबद्धता की बहस को फ़िज़ूल मानते हैं - "भेद न करना दृष्टिहीनता की ही दृष्टि की व्यापकता का परिचायक है। साहित्य-दवा की बोटल नहीं है जिसमें भेद किया जा सके। साहित्य में कोई पक्ष-विपक्ष नहीं होता। पक्षधरता राजनीति का स्वभाव है। जो साहित्य को भी पक्ष-विपक्ष में विभक्त कर देखता ही नहीं मूल्यांकन करता है, वह वास्तव में एक राजनीतिक कार्यकर्ता है साहित्यकार नहीं।" (श्रीकांत वर्मा रचनावली-3, पृ. 44)।

साहित्य में प्रतिबद्धता के सवाल को रद्द करने के बावजूद श्रीकांत जार्ज लुकाच जैसे मार्क्सवादी आलोचक को अस्वीकार नहीं कर पाते हैं, जो साहित्य में पक्षधरता और प्रतिबद्धता के प्रश्न को सबसे बड़ा मूल्य मानता है। श्रीकांत जार्ज लुकाच के अवदान को रेखांकित करते हुए कहते हैं, "इसमें कोई संदेह नहीं कि जहाँ तक उन्नीसवीं सदी और उसके साहित्य का प्रश्न है जार्ज लुकाच की व्याख्याएँ प्रामाणिक हैं ... जहाँ तक मार्क्सवादी साहित्य का प्रश्न है जार्ज लुकाच उसके विधाता हैं। यदि मार्क्सवादी साहित्य ने कुछ भी पैदा न किया होता केवल लुकाच पैदा किया होता तो भी वह हमेशा बुद्धिजीवियों और रचनाकारों के अध्ययन का विषय होता।" (वही, पृ. 221)।

गौर करने की बात है कि श्रीकांत वर्मा मार्क्सवाद से असहमत क्यों हैं? यद्यपि वे अपने साहित्य में समाज और साहित्य के रिश्ते को अनेक बार, अनेक तरह से व्याख्यायित करते हैं और मनुष्य की नैतिक आवाज़ को ही साहित्य का मुख्य स्वर मानते हैं। शायद इसकी एक बड़ी वजह यह है कि वे अपने जीवन और लेखन में आधुनिकता का विकल्प नहीं ढूँढ़ पाये। कहना न होगा कि वे नयी कविता के दौर में आधुनिकता और आधुनिक

श्रीकांत वर्मा की जिरह

साहित्य के सबसे बड़े पैरोकार थे। उनकी यह पैरोकारी शुरू से आखिर तक झलकती है। पर वे पश्चिमी आधुनिकता के हिमायती नहीं हैं बल्कि उसके विरोधी हैं। वे कहते हैं "पश्चिम की यह आधुनिकता जो हमारे साहित्य और जीवन में आयी वह नकली है।" इसके बरक्स वे मानते हैं कि "आधुनिक जीवन में भारत में एक देसी आधुनिकता भी विकसित हुई है, यही आधुनिकता हमारे साहित्य और समाज के लिए यथेष्ट है।"

'बीसवीं शताब्दी के अँधेरे में' में जिरह करते हुए श्रीकांत मानते हैं कि बीसवीं शताब्दी की कल्पना बिना आधुनिकता के असंभव है। वे कहते हैं कि आधुनिकता का जब इतना विरोध है तो यह बताना ज़रूरी होगा कि आखिर आधुनिकता का विकल्प क्या है? पर श्रीकांत आधुनिकता के पक्ष में ज़िरह करते हुए आँख नहीं मूँद लेते हैं बल्कि वे आधुनिकता से भी ज़िरह करते हैं। वे आधुनिकता के उन मानवविरोधी मूल्यों में तीव्र अहसमति प्रकट करते हैं जो डिमाक्लीज की तरह मनुष्यता की गर्दन पर आज झूल रहा है। वे मानते हैं "इस समय कलाओं पर दोहरा दबाव है। एक ओर उन्हें मनुष्यता के संकट को व्यक्त करना है और दूसरी ओर स्वयं उनका अस्तित्व संकट में है। टेक्नोलॉजी ने और टेक्नोलॉजी से उत्पन्न खिलवाड़ ने कलाओं को बहुत हद तक असंगत कर दिया है ... विशिष्टता और व्यक्तित्व का सबसे अधिक हास इस शताब्दी में हुआ है।" ('बीसवीं शताब्दी के अँधेरे में' की भूमिका : रचनावली-1, पृ. 474)। उनके अनुसार, बीसवीं शताब्दी में "मूल्यहीनता से टकराते और भटकते हुए मनुष्य के सवालों को सबसे अधिक संवेदना के साथ साहित्यकारों ने उजागर किया है। यह साहित्य के प्रति मेरी पक्षधरता नहीं है, यह सच्चाई है और इससे वे परिचित हैं जो तमाम देशों में रचे जा रहे साहित्य के कुछ सम्पर्क में हैं।" (वही, पृ. 474)।

श्रीकांत वर्मा की दृष्टि में आज बीसवीं शती के साहित्य के सामने मुख्य प्रश्न मनुष्य के अस्तित्व और उसके भविष्य का है। उनका कहना है कि बीसवीं शताब्दी के भारतीय साहित्य के सामने भी प्रश्न यही है। वे मानते हैं कि "दरअसल अस्मिता का प्रश्न अतीत के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। कोई भी रचनाकार अपनी अस्मिता की तलाश अपनी परम्परा के बाहर जाकर नहीं कर सकता।" ज़ाहिर है वे आधुनिकता के बरक्स परम्परा की खोज भी ज़रूरी मानते हैं। बिना अपनी परम्परा से गुज़रे, उसका मूल्यांकन किये हम अपनी आधुनिकता और बीसवीं शताब्दी के प्रश्नों से जूझ नहीं सकते। यह आकस्मिक नहीं है कि इधर बीसवीं शताब्दी के अवसान के समीप भारतीय साहित्य अपनी स्मृतियों की ओर सभी भाषाओं में लौटा है। श्रीकांत ने इस तथ्य की ओर इशारा आज से पच्चीस साल पहले किया था, जो उनके अचूक भारतीय आधुनिक होने का सबूत है।

वे आधुनिक भारतीय साहित्य के वर्तमान चेहरे को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं - "भारत में भी कुछ वर्षों में एक नयी छटपटाहट आरंभ हुई है। अतीत ओर वर्तमान पर

हिंदी गद्य विवेचना

पुनर्विचार हुआ है। और इस पुनर्विचार के साथ ही लेखक की अपनी स्थिति पर पुनर्विचार भी शुरू हुआ है। फिर भी एक भारतीय लेखक को यह नहीं भूलना चाहिए कि कुछ प्रश्न सार्वभौमिक होते हैं, कुछ निजी और कुछ राष्ट्रीय। वह किसी भी प्रश्न से कतरा नहीं सकता। जब तक प्रश्न है तभी तक साहित्य है।' (वही, पृ. 480)।

श्रीकांत की इस ज़िह में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि वे मानते हैं कि एक लेखक के जीवन में बसंत कभी नहीं आता। वे कहते हैं— 'मैं बसंत की तलाश में हूँ। मेरी रचनाओं में बसंत कभी नहीं आया ... अगर मैं चाहूँ भी तो यह कह सकता हूँ, यही इस युग का सत्य है। लेकिन मैंने युग सत्य की तलाश का दावा कभी नहीं किया। इसलिए सिर्फ़ इतना ही कहूँगा कि मैंने जो और जैसा जीवन जिया—उसका यही सत्य था।' ('प्रसंग' की भूमिका : श्रीकांत वर्मा रचनावली-1, पृ. 466)।

श्रीकांत की ज़िह में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि वे सिर्फ़ साहित्य के प्रश्नों से ही नहीं जूझते बल्कि विचारधाराओं की तानाशाही के विरुद्ध मानवीय स्वतंत्रता, जिसमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सबसे बड़ा मूल्य है, जैसे प्रश्नों के साथ कला, समाज, राजनीति के विश्वव्यापी संकटों से जूझते हैं और मनुष्य के सम्मुख संकटों को बहुत सुलझी हुई विचार दृष्टि के साथ उद्घाटित करते हैं। जिनसे आप टकरा सकते हैं, कतरा नहीं सकते।

चूँकि वे अपने विचारों के सबसे बड़े वकील थे। इसलिए, उनके वैचारिक गद्य में एक अंतहीन बहस के साथ-साथ लम्बी ज़िह भी मौजूद है जिससे गुज़रना उस अंतहीन बहस में शामिल होना है, जहाँ श्रीकांत के शब्द बीसवीं शताब्दी के अवसान के समीप पूरी आवाज़ के साथ बज रहे हैं। जीवन के आखिरी वर्षों में उनकी यह आवाज़ अपनी प्रखर बौद्धिकता के साथ भारतीय और विश्व आधुनिकता से गुज़रती हुई भारतीयता के उस जीवन-मूल्य की खोज पर टिकी, जहाँ वे ईमानदार और खरे क्षोभ से अंततः गहरे उदास विवेक तक पहुंचे थे। यह गहरा उदास विवेक ही उन्हें सच्चा भारतीय लेखक बनाता है। उनकी यह वैचारिक यात्रा दरअसल बीसवीं शताब्दी के एक सच्चे आधुनिक भारतीय मनुष्य की अंतहीन ज़िह है।

('श्रीकांत वर्मा', साहित्य अकादमी, नई दिल्ली से साभार)

11. प्रताप नारायण मिश्र और 'धोखा'

जीवन परिचय

भरतेन्दु के जीवनकाल में ही लेखकों और कवियों का एक मंडल तैयार हो गया था। इस मंडल के लेखकों ने नवजागरण की भूमिका को पहचाना और उससे साहित्य को समृद्ध करने का प्रयत्न किया। हिंदी साहित्य के नूतन विकास में योगदान किया। सांस्कृतिक जागरण का बोध जो उस समय अंकुरित हो रह था। उसे फलने-फूलने के लिए इन साहित्यकारों ने उर्वर भूमि प्रदान की। भारतेन्दु मंडल के लेखकों ने साहित्य और जीवन के नजदीकी रिश्तों को पहचाना। भारतेन्दु मंडल के साहित्यकारों में प्रताप नारायण मिश्र का नाम प्रमुख है।

बैसवाड़ा अपनी लोक संस्कृति के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ की लोक संस्कृति का प्रभाव यहाँ जन्म लेने वाले साहित्यकारों पर व्यापक रूप से पड़ा है। सूफ़ी कवि मलिक मुहम्मद जायसी और मुल्ला दाऊद में इसका असर देख सकते हैं। इसी बैसवाड़ा जनपद के एक गाँव जिसका नाम बैजेगांव है, उसी गाँव में 24 सितंबर 1856 ई. को प्रताप नारायण मिश्र का जन्म हुआ था। इनके पूर्वजों का व्यापार बाग लगाना और पशुपालन करना था। इनके पिता संकटा प्रसाद मिश्र ज्योतिष विद्या में पारंगत थे। इन्होंने ज्योतिष विद्या के कारण अपार धन संपत्ति अर्जित की।

प्रताप नारायण जी के पिता की इच्छा थी कि बालक प्रताप को ज्योतिष विद्या पढ़ाई जाय। परंतु इनका मन संस्कृत की पाण्डित्य परंपरा में नहीं लगा। पिता ने उनका दाखिला रामगंज के मिशन स्कूल में करा दिया। पर वहाँ भी उनका मन नहीं लगा। स्वतंत्र और मनमौजी प्रवृत्ति के कारण जहाँ उन्होंने जीवन की मस्ती देखी, वहीं रम जाते थे। 1875 में इन्होंने स्कूली शिक्षा को नमस्कार कर दिया। लेकिन इसी बीच उन्होंने कई भाषाओं की जानकारी हासिल कर ली थी। वे हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी, संस्कृत आदि भाषाओं के अतिरिक्त अवधी और ब्रजभाषा के भी पूर्ण जानकार थे। उर्दू और फारसी में वे 'बरहमन' के उपनाम से कविता किया करते थे।

मिश्रजी का गृहस्थ जीवन बड़ा अस्त-व्यस्त रहा। इनके दो विवाह हुए थे। पहला विवाह 18-19 वर्ष की अवस्था में हुआ था। चार-पाँच महीने के बाद ही उनकी पत्नी का देहान्त

हो गया। दूसरा विवाह उन्नाव जिले के पंडित राम सहाय शुक्ल की पुत्री सूरज कुंअरि से हुआ था। मिश्रजी दृढ़ इच्छा शक्ति वाले गृहस्थ कभी नहीं रहे। लापरवाही और धनाभाव ने उनकी पारिवारिक हालत को खस्ता कर दिया था। उनके घर का खर्च मकान किराए से चलता था।

प्रतापनारायण मिश्र के कानपुर वाले घर पर प्रसिद्ध साहित्यकारों का जमघट रहता था। वहाँ 'ब्राह्मण' पत्र के संपादन के विषय और विश्लेषण तथा हिन्दी के प्रसार संबंधी योजनाओं पर बहस होती थी। वे अपने समय के अच्छे लावनी बाज थे। 19वीं सदी के वे समर्पित साहित्य साधकों में से एक थे।

1894 ई. में मिश्र जी ऐसे बीमार पड़े कि फिर कभी स्वस्थ नहीं हो सके। अगस्त 1894 में उनका 38 वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास हो गया। वे बड़े ही नेक और जिंदादिल इंसान थे। वे जीवन की तह में छिपे विनोद और मनोरंजन की सामग्री ढूँढ लिया करते थे। उनकी प्रवृत्ति हास्यविनोद की ओर अधिक थी। इनकी रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उनका पर्यावरण बोध भी काफी विकसित था। उन्हें न सिर्फ प्रकृति से अपितु पशु, पक्षियों से भी प्रेम था। उनमें देश की वर्तमान दशा और विदेशी शासन के प्रति तीव्र आक्रोश था। वे ऐसे सजग साहित्यकार थे जो कांग्रेस जैसी राष्ट्रीय राजनीतिक संस्था से आजीवन संबद्ध रहे।

साहित्यिक योगदान

समसाययिक जीवन के प्रति जैसी जागरूकता भारतेन्दु युग के साहित्यकारों में मिलती है वैसी अन्य युग में मुश्किल से ही दिखाई देती है। वे नवजागरण दौर के लेखक थे और उसकी प्रायः सभी विशेषताएँ उनके लेखन में दिखाई देती हैं।

प्रतापनारायण मिश्र के साहित्यिक व्यक्तित्व के तीन प्रमुख रूप हैं - निबंधकार, कवि तथा पत्रकार। इनके कवि व्यक्तित्व में जहाँ ब्रजभाषा की श्रृंगारिक प्रवृत्ति है वहीं लोक प्रवृत्ति के तत्वों की बहुलता भी है। व्यंग्य विनोद के साथ देशीपन की गंध भी इनकी कविता में विद्यमान है। 'प्रेमपुष्पावली' और 'मन की लहर' में उनकी विविध भाषाओं में लिखी गई लावनियों का संकलन है जिसका प्रकाशन 1885 में हुआ था। 'श्रृंगार विलास', 'आल्हादंगल', 'ब्रैडला स्वागत' लोकोक्ति शतक (100 कथावर्तों पर राष्ट्रीय भाव से युक्त 100 कविताएँ) आदि उनके काव्य संग्रह हैं। इसके अतिरिक्त आपके दो संपादित संकलन भी हैं - 'दीवाने बरहमन' (उर्दू कविताओं का संकलन) तथा 'रसखान शतक'। इनकी कविताओं का एक महत्वपूर्ण संकलन 'प्रताप लहरी' के नाम से प्रकाशित हुआ था।

हिंदी गद्य विविधा

मिश्र जी अच्छे लावनीबाज थे। लावनी की प्रतियोगिता दो दिलों के बीच में होती है। वे लावनी गायन में भी दक्ष थे। उनका अपना मानना था कि हिंदी उत्थान में इससे सहायता मिलेगी। इनके काव्य में लोकजीवन की सहजता है। इनका भावबोध और दृष्टिकोण आधुनिक है।

वे हिंदी के श्रेष्ठ आत्मव्यंजक निबंधकार हैं। उनके निबंध में देश दशा, समाज सुधार, नागरी-हिंदी प्रचार, मनोरंजन आदि सब विषयों पर विवेचन होता था। उनके निबंधों के संग्रह 'निबंध नवनीत' और 'प्रताप पीयूष' प्रताप नारायण ग्रंथावली में संकलित है। 'ब्राह्मण' पत्र उन्होंने विविध विषयों पर गद्य प्रबंध लिखने के लिए ही निकाला था।

प्रतापनारायण मिश्र नाटककार और अभिनेता भी थे। उन्होंने स्वयं भारतेन्दु के कई नाटकों में भूमिका की थी। उन्होंने 1883 ई. में 'भारत एंटरटेनमेंट' क्लब की स्थापना की। उनके द्वारा लिखित 'कलिकौतुक' रूपक में पाखंडियों और दुराचारियों का चित्र खींचकर उनसे सावधान रहने की ओर संकेत किया गया है। 'संगीत शाकुंतल' लावनी के ढंग पर गाने योग्य पद्यबद्ध नाटक है। मिश्रजी का नाटक 'भारत दुर्दशा' प्रतीकात्मक है जिसमें भारत, कलियुग, आलस्य आदि पात्र हैं। 'हठी हम्मीर' रणथंभौर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का वृत्त लेकर लिखा गया नाटक है। 'गो संकट' और 'कलिप्रभाव' नाटक के अतिरिक्त 'जुआरी खुआरी' नामक उनका एक प्रहसन भी है।

प्रतापनारायण मिश्र के साहित्य में कलात्मक तराश नहीं अनगढ़ता है। वे जीवन की मौज मस्ती में ही नहीं समाज और परिस्थिति के आत्मज्ञान से भी रचना करते थे। 19 वीं सदी का जो वैचारिक अन्तर्विरोध भारतेन्दु में मिलता है वही अन्तर्विरोध उनमें भी मौजूद था। उनमें स्वदेशी चेतना है लेकिन आज की स्वदेशी चेतना की तरह वह मात्र आडंबर नहीं था। उनकी स्वदेशी चेतना लोक परंपरा से फूटती हुई मालूम पड़ती है।

रचना के बारे में

'धोखा' निबंध का रचनाकाल ठीक तरह से मालूम नहीं होने पर भी उसे 1876-85 के बीच की रचना मान सकते हैं। इस निबंध की रचना से पूर्व वे कवि, नाटककार और पत्रकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

धोखा नामक भाव को समझने के ध्येय से इस निबंध की रचना हुई है। निबंध को जीवन संदर्भों से जुड़े अनुभवों से पुष्ट बनाया गया है। अनुभव और शास्त्र को ध्यान में रखकर 'धोखा' भ्रम, छल आदि के बीच के सूक्ष्म अंतर को बताया गया है। लोक और समाज के मंगल के लिए 'धोखा' की पहचान अनिवार्य मानते हैं। उनके व्यक्तित्व की उन्मुक्तता उनके निबंध का प्राणतत्व है।

'धोखा' प्रतापनारायण मिश्र का भावपरक निबंध है। सर्वप्रथम उन्होंने धोखा और भ्रम को स्पष्ट किया है। वे मनोभाव को स्पष्ट करने में हिचकते नहीं, उस पर बेबाक टिप्पणी करते हैं। उसे लोक अनुभव से संपृक्त करते हैं। उनके लेखन की आधुनिकता इस बात में है कि वे भाव और विचार का एक पक्षीय विश्लेषण नहीं करके उसके बहुपक्षीय प्रभाव को दिखाते हैं। मनुष्य प्रत्यक्ष में इतना अधिक विश्वास करने लगा है कि उसे अमूर्त भाव और संवेदना जैसे शब्द अजनबी लगने लगेंगे इसकी ओर भी लेखक ने संकेत किया है। इसमें जिन समस्याओं को उठाया गया है वह आधुनिक सभ्यता और आधुनिक मनुष्य की समस्याएँ हैं। उनके मानोभाव संबंधी, निबंधों को देखकर ऐसा लगता है कि रामचंद्र शुक्ल के मनोभाव संबंधी निबंधों के लिए ज़मीन उन्नीसवीं सदी में बनने लगी थी।

'धोखा' एक मनोभाव को केन्द्र में रखकर लिखा गया निबंध है। भाव की गयात्मकता के महत्वपूर्ण पक्ष को सामने रखा गया है। वे धोखा और ईश्वरीय लीला के भ्रम के बीच साम्य और वैषम्य पर बल देते हैं। लोक अनुभव में प्रचलित उद्धरणों से बात को पुष्ट करते हैं। बुद्धिवाद की अधिकता के कारण सहज जीवन के प्रवाह में जो बाधा उपस्थित हुई उसकी मर्मस्पर्शी पहचान उनमें मौजूद हैं। वे जीवन में निहित रचनात्मक संभावनाओं की खोज करते हैं। सांसारिक जीवन और संबंधों को छोड़कर विराग की ओर अग्रसर होने वाले को वे अपना निशाना बनाते हैं। जीवन की वास्तविकता से सीधा मुकाबला करने की सामर्थ्य पर उन्होंने विश्वास रखा है। बड़े-बड़े वैचारिक प्रश्न और तर्कजाल की उलझन को गहराई में जाकर उन्होंने देखा है। दूसरी ओर यथार्थ और प्रत्यक्ष को वे जीवन का एकमात्र प्रयोजन नहीं बनाते हैं। अमूर्त भाव चाहे गोचर नहीं हो पर उसकी सत्ता पर संदेह करना उचित नहीं है। उनके संबंधों में जीवन के प्रति संतुलित दृष्टिकोण को अपनाने की वकालत की गई है। उन्होंने शाश्वत सनातन सत्य पर व्यंग्य किया है, उसे भी संदेह की निगाह से देखा है। इसमें उन्हें कोई हिचक नहीं दिखाई है। यह उनके आधुनिक होने का प्रमाण है।

शैली की दृष्टि से 'धोखा' विचार प्रधान भावात्मक निबंध है। उनके इस निबंध में अभिव्यक्ति की उन्मुक्तता दिखाई देती है। उनके व्यक्तित्व की सर्वाधिक प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति उनके आत्मव्यंजक निबंधों में ही होती है। भाव के आवेग के साथ उनका व्यक्तित्व साकार हो उठता है। मिश्रजी ने समास शैली का प्रयोग भी जहाँ-तहाँ किया है। उनके निबंध में हास्य है, व्यंग्य है और जिदांदिली है और इसी वजह से उनकी भाषा स्वयं मूर्तिमान हो उठती है। शब्दों में गति आ जाती है। विषय को रूचिकर बनाने के लिए न केवल दृष्टांत एवं मुहावरे का प्रयोग करते हैं अपितु वे रचनात्मक भाषा भी लिखते हैं। उनकी भाषा पूरबी कहावतों और मुहावरों की झड़ी लगा देती है। मिश्रजी में भाषागत दोषों

हिंदी गद्य विविधा

के रहते हुए भी कह सकते हैं कि वे समर्थ निबंधकार हैं। जीवन और जगत संबंधी चिंतन को अपने व्यक्तित्व की संश्लिष्टता से मनोरंजक बनाते हैं।

शब्दावली

बरंच : बल्कि

इद मित्थं : बिल्कुल सही

माया बपुधारी : माया का अवतार

नारि नारि सब एक हैं जस मेहर तस माय : पूर्वी हिंदी प्रदेशों में प्रचलित लोकोक्ति का प्रयोग। जिसका भावार्थ यह है कि नारी के सभी रूप एक से हैं चाहे वह पत्नी हो या माता।

मूँदि गई आंखें तब लाखें केहि काम की : लोकोक्ति का प्रयोग। भावार्थ यह है कि जब जीवन ही नहीं रहेगा तो लाखों की धन-संपत्ति भी किस काम की रहेगी।

मुडियावे : अपने मत्थे लेना

ना हम काहू के कोऊ ना हमारा : 'कवितावली' में तुलसीदास की पंक्ति। जिसका अर्थ है- न मेरा कोई है, न मैं किसी के लिए हूँ।

व्यतिक्रम : उलटे क्रम से

अविदित सुख दुख : जिस सुख दुख के विषय में जानकारी न हो

निर्विशेषरूप : परमात्मा, परंब्रह्म

अथच : और भी

ढिच्चर : बखेड़ा

प्राज्ञगण : बुद्धिमान आदमी

संखिया : एक बहुत जहरीली सफेद उपधातु या पत्थर। उससे तैयार भस्म दवा के काम में आता है।

सिंगिया : एक पौधा, यह भी जहरीला होता है और औषधि बनाने में काम आता है।

दोख : दोष (भाषा के पूरबी रूप का प्रयोग है)

हिकमत : कौशल या चतुराई

गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया : कहावत का प्रयोग

अक्किल : अक्ल, बुद्धि

भेष : वेशभूषा

गो : इंद्रिय

निरे : निपट

माया मोहनी मन हरन : ब्रह्म की शक्ति का रूप माया माना गया है। सूरदास यहाँ मोहिनी शक्ति मनोहर रूप की चर्चा करते हैं।

गो गोचर जहं लगी मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई : तुलसीदास की पंक्ति है। इंद्रिय या सांसारिक विषय वासनाओं में जिसका मन लग गया हो उस पर व्यंग्य करते हैं। माया को परमज्ञानी ही पहचानते हैं। जो संसारिकता में खोया हुआ है उसे तो उसकी पहचान ही नहीं होती।

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है। वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्यों कर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके। पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?
2. सच है, भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी संसार है बरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं ! और कौन जाने हो तो हमें उससे कोई काम नहीं ! परमेश्वर सबका भ्रम बनाए रखे इसी में सब कुछ है। जहाँ भ्रम खुल गया वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है।
3. धोखा खाने वाला मूर्ख और धोखा देने वाला ठग क्यों कहलाता है? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से भी दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे, बरंच रही न जाय तौ फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आप की नाक भौंह क्यों सुकुड़ जाती है?
4. परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिए तो क्या भीख माँग के प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा वा भूखों मर के आत्महत्या के पाप भागी होइएगा ! यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो, उसे राजा से दंड दिलवाइए वा आप ही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्यलाभ होगा।

हिंदी गद्य विविधा

व्याख्या का उदाहरण

गद्यांश: जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है। वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्यों कर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके। पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?

संदर्भ-संकेत

भारतेंदु युग के लेखकों में प्रतापनारायण मिश्र का प्रमुख स्थान है। उपर्युक्त गद्यांश उनके निबंध 'धोखा' से उद्धृत है। धोखा एक मनोभाव है इस पर मिश्रजी ने निबंध में विचार किया है। उपर्युक्त अंश में वे इस शब्द पर ईश्वर संबंधी संकल्पना के संदर्भ में विचार करते हैं। वह संकल्पना क्या है इसे समझते हुए निबंध में कही गई बात का मर्म समझा जा सकता है।

व्याख्या-संकेत

उक्त अंश में लेखक ने साकार और निराकार की संकल्पना पर टिप्पणी की है। भारतीय परंपरा में ईश्वर के दो रूप माने जाते हैं : एक, साकार यानी जो विभिन्न प्राणी रूप धारण कर सकता है जैसे ब्रह्म या विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख किया जाता है। दो, निराकार यानी जिसका कोई रूप, कोई आकार नहीं है। मिश्र जी कहते हैं कि यदि वह निराकार है तो फिर विभिन्न रूप कैसे धारण कर सकता है और यदि वह साकार है तो उसे निराकार कहने का क्या अर्थ। इसी प्रकार ईश्वर को निर्विकार भी कहा गया है यानी वह सभी सांसारिक विकारों से परे है। लेकिन साकार रूप मानने पर अवतार लेता है और विभिन्न लीलाएँ भी करता है। इसी अंतर्विरोध को देखकर लेखक यह प्रश्न उठाता है कि क्या ईश्वर के यह भिन्न-भिन्न रूप देखकर उसे 'धोखे का पुतला' नहीं कहा जा सकता?

दूसरा प्रश्न स्वयं ईश्वर के अस्तित्व के बारे में उठाते हैं। हम सभी जानते हैं कि ईश्वर है या नहीं इसके बारे में सभ्यता के आरंभ से ही विवाद रहा है। आस्तिक और नास्तिक की दो श्रेणियाँ इसी आधार पर बनी है। जो ईश्वर के अस्तित्व को मानते हैं आस्तिक कहलाते

हैं और जो नहीं मानते वे नास्तिक कहलाते हैं। जब ईश्वर का अस्तित्व भी संदेह से परे नहीं है तो उसे निर्भ्रम कैसे कहा जा सकता है या 'उसके बनाए संसार' को भी भ्रम या धोखे से रहित कैसे माना जा सकता है?

उपर्युक्त गद्यांश में मिश्रजी इसी बात पर बल देते हैं कि धोखे से परे कुछ नहीं है न ईश्वर और न यह संसार। इस प्रकार धोखे की सर्वव्यापकता को वे प्रमाणित करते हैं।

विशेष-संकेत

दर्शनशास्त्र में प्रस्तुत संकल्पनाओं का ऐसा सरल और तार्किक विवेचन मिश्रजी के लेखन की खास पहचान है। उसी के अनुरूप उन्होंने शब्दावली और वाक्यों का प्रयोग किया है। आप इस पहलू पर भी टिप्पणी कर सकते हैं।

सहायक पुस्तकें

रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

डॉ. रामविलास शर्मा : भारतेन्दु युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

देवीशंकर अवस्थी : आलोचना और आलोचना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

डॉ. भगवती प्रसाद शर्मा : नवजागरण और प्रताप नारायण मिश्र, राधा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

धोखा

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असंभव न हो तो भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान रामचंद्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण मृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खायें? बरंच ऐसी ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा में इससे प्रथक् रहता है सो भी एक रीति से नहीं ही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है। और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं, इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा। क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है वा धोखे की टट्टी खड़ा करता है।

अतः सबसे प्रथक् रहने वाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, बरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं, क्योंकि वेदों में उसे "आश्चर्योस्य वक्ता" "चित्रन्देवानमुदगातनीक" इत्यादि कहा है और आश्चर्य तथा चित्रत्व को मोटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतार धारण की दशा में उसका नाम माया-बपु-धारी होता है, जिसका अर्थ है - धोखे का पुतला, और सच भी यही है। जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है। वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कही नहीं संकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्यों कर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके। पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?

वेदांती लोग जगत् को निरा भ्रम समझते हैं। यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली भाँति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है। किंतु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरांत उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक में वह फूट-फूट कर रोने लगे। इस पर शिष्य ने

आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान बूझकर रोते क्यों हैं? उसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है, भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी तक संसार है बरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं ! और कौन जाने हो तो हमें उससे कोई काम नहीं ! परमेश्वर सबका भ्रम बनाए रखे इसी में सब कुछ है। जहाँ भ्रम खुल गया वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बन कर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मान के सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें; पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, बरंच निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और 'नारि नारि सब एक है जस मेहरि तस माय' इत्यादि सिद्धांतों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मज़ा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छंटना सत्यानाशी की जड़ है ! ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मलमूत्र, मांस मज्जादि, घृणास्पद पदार्थों का विकारमात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं और दर्शन स्पर्शनादि से आनंद लाभ करते हैं।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे शिर में कितने बाल हैं वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किंतु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख-देख कर सुख प्राप्त करते हैं। विचार कर देखिए तो धन जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरांत न जाने किसके हाथ में वा किस दशा में पड़ के हमारे पक्ष में कैसे हो जायं, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें क्या? आखिर एक दिन मरना है, और 'मूँदि गई आंखें तब लाखें केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझ कर सबसे संबंध तोड़ दें तो सारी पूंजी गंवा कर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री पुत्रादि का प्रबंध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें ! 'ना हम काहू के कोऊ ना हमारा' का उदाहरण बनके सब प्रकार के सुख सुविधा, सुयश से वंचित रह जावें ! इतना ही नहीं, बरंच और भी सोच कर देखिए तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी।

बहुतेरों का सिद्धांत यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त हैं, और ठीक-ठीक लगे हुए हैं तभी तक उस में खट खट, टन टन आवाज आ रही है, जहाँ उसके पुरजों का लगाव बिगड़ा वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक-ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है, जहाँ इसके

हिंदी गद्य विविधा

क्रम में व्यक्तिक्रम हुआ, वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव? कैसी आत्मा? एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में अंततोगत्वा यों ही कहा जा सकता है ! इसी प्रकार स्वर्ग नर्कादि के सुख दुःखादि का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किंतु बड़े बड़े आस्तिकों के सिद्धांत से भी 'अविदितिसुखदुख निर्विशेषस्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नर्क और बैकुंठ का पता कहीं नहीं पाया। किंतु भय और लालच को छोड़ दें तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों से रुचि न रख कर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी-ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदास जी का 'गो गोचर जहं लगि मन जाई, सो सच माया जानेहु भाई' और भी सूरदास जी का 'मायामोहिनी मन हरन' कहना प्रत्यक्षतया सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं? धोखा खाने वाला मूर्ख और धोखा देने वाला ठग क्यों कहलाता है? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से भी दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे, बरंच रही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आप की नाक भौंह क्यों सुकुड़ जाती है? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गंवा बैठता है, और जो धोखा देता है उस की एक न एक दिन कलाई खुले बिना नहीं रहती है और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके संबंध में हो ही जाया करती हैं।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि उससे बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहने वाला बेदाग नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर में रहने वाले अल्प-सामर्थी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असंभव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उस का उस की निद्रा करना नीतिविरुद्ध है। पर क्या कीजिए, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञ गण अल्पज्ञ कह गए हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा पीछा सोचे बिना जो मुँह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने बिगड़ने से बनाव बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिए तो क्या भीख माँग के प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा वा भूखों मर के आत्महत्या के पाप भागी होइएगा ! यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है,

पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो, उसे राजा से दंड दिलवाइए वा आप ही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्यलाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने बैठने की शक्ति न रहेगी। और संखिया, सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष है, किंतु उचित रीति से शोध कर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग दोख दूर हो जायेंगे। यही लेखा-धोखे का भी है। दो एक बार धोखा खा के धोखेबाजी की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी फुंदनी जोड़ कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली बरंच 'गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तौ भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

यों ही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाजी कोई भांप न सके, और तुम्हारा बलिपशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथखंडे ताड़ भी जाय तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आंसू तथा गुरु-घंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादुपूर्वक खा! इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गए हैं कि आदमी कुछ खो के सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीतिकुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है और छिपी रहै तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतने लिखने से आप धोखे का तत्व यदि निरे खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों तो समझ गए होंगे। पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते हैं कि धोखा खा के धोखेबाज का पहिचानना साधारण समझ वालों का काम है। इस से जो लोग अपनी भाषा भोजन, भेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़ कर आप से भी छुड़वाया चाहते हों उनको समझे रहिए कि स्वयं धोखा खाए हुए हैं और दूसरों को धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसों से बचना परम कर्तव्य है, और जो पुरुष एवं पदार्थ अपने न हों व देखने में चाहे जैसे सुशील और सुंदर हों, पर विश्वास के पात्र नहीं है, उनसे धोखा हो जाना असंभव नहीं है। बस, इतना स्मरण रखिएगा तो धोखे से उत्पन्न होने वाली विपत्तियों से बचे रहिएगा। नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आंसुओं से धो और खा, क्योंकि जो हिंदू हो कर ब्रह्मवाक्य नहीं मानता वह धोखा खाता है।

12 . रामचंद्र शुक्ल और 'लोभ और प्रीति'

जीवन परिचय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म उत्तर प्रदेश में बस्ती जिले के अगौना नामक गाँव में 1884 ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम चंद्रबली शुक्ल था। आचार्य शुक्ल के बचपन के पाँच-छह वर्ष अगौना में ही बीते। उनके पिता ने नौकरी कर ली तो उनका परिवार 1891 ई. में हमीर जिले की राठ तहसील चला आया। उनके पिता की नियुक्ति कानूनगो के तौर पर हुई थी। 1893 ई. में आचार्य शुक्ल का परिवार मिर्जापुर आ गया। 1908 ई. तक वे वहीं रहे। उनकी युवावस्था के दिन मिर्जापुर में बीते जिसके प्राकृतिक सौन्दर्य का उनके व्यक्तित्व निर्माण में बड़ा योगदान है।

इनके पिता पर अरबी-फारसी बहुल उर्दू का गहरा संस्कार था जबकि अपनी माता से उन्होंने रामचरितमानस के पाठ भी सुने थे। शुक्लजी की आरंभिक शिक्षा अन्य विषयों के साथ-साथ उर्दू और फारसी में भी हुई। मिर्जापुर आने पर रमईपट्टी मुहल्ले के एंग्लो-संस्कृत जुबली स्कूल में उनका नाम लिखाया गया। वहीं से चौदह वर्ष की उम्र में उन्होंने उर्दू के साथ अंग्रेजी लेकर मिडिल पास किया। 1901 में उन्होंने स्कूल फाइनल की परीक्षा पास की। शुक्लजी की पढ़ने में गहरी रुचि थी। अध्यापकों के प्रोत्साहन से उनका अंग्रेजी ज्ञान काफी पुष्ट हो चला था। सोलह वर्ष की आयु में शुक्लजी ने 'एडिसन के ऐस्से ऑन इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनंद' के नाम से हिंदी अनुवाद किया था।

स्कूली शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने इलाहाबाद में कायस्थ पाठशाला में इंटरमीडिएट में पढ़ने के लिए नाम लिखाया लेकिन पारिवारिक कारणों से लौट आए। 1896 में उनका विवाह हो गया था। आरंभ में उन्होंने कई तरह की नौकरियाँ करने की कोशिश की लेकिन उनमें उनका मन नहीं लगा। उन्होंने अंग्रेजी में अपना पहला निबंध **What has India to do** 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में प्रकाशित कराया जिसमें भारतवासियों के कर्तव्य और सरकारी नौकरियों के प्रति उनके दृष्टिकोण का पता चलता है। कुछ समय के लिए उन्होंने लंदन मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर के पद पर भी काम किया। साहित्य संबंधी उनके आलोचनात्मक लेखन पर चित्रकला के प्रति उनके गहरे रुझान का प्रभाव साफ़ देखा जा सकता है।

लोभ और प्रीति

शुक्लजी का परिचय 'आनंद कादंबिनी' के संपादक और भारतेंदु युग के वरिष्ठ लेखक प्रेमघन से 1896 ई. में हुआ। 1896-97 में आचार्य शुक्ल का हिंदी में पहला संवादात्मक लेख 'भारत और वसंत' 'आनंद कादंबिनी' में ही प्रकाशित हुआ था। 1903 ई. में प्रेमघन ने उन्हें उसके संपादन कार्य से भी जोड़ लिया।

1919 ई. में वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। उस समय उनका वेतन 60 रूपया महीना था। एक बड़े परिवार को चलाने के लिए उन्हें अतिरिक्त श्रम करना पड़ता था। 1936 ई0 में डॉ. श्यामसुन्दर दास के अवकाश प्राप्त करने पर वे विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष बने। मृत्युपर्यन्त इस पद पर बने रहे। दो फरवरी 1941 को आपका निधन हो गया।

साहित्यिक योगदान

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का साहित्यिक योगदान सिर्फ आलोचना तक सीमित नहीं है। उन्होंने हिंदी साहित्य का व्यवस्थित इतिहास लेखन किया जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है। आचार्य शुक्ल के लेखन को पढ़ने से कोई भी यह पहचान सकता है कि आलोचक बनने के लिए उन्होंने कितनी गंभीर तैयारी की थी। उन्होंने जहाँ पूर्व और पश्चिम के द्वंद्व के बीच अपनी धरती के सहज विवेक को नहीं खोया, वहीं ज्ञान और संवेदना के वातायन को मुक्त भाव से खुला रखा। उनका दृष्टिकोण वस्तुवादी था। उनमें चिंतन की गंभीरता और सामाजिक दृष्टिकोण की दृढ़ता थी। उनका सामाजिक संस्कार उन्हें जड़ और अतीतोन्मुखी नहीं बनाता बल्कि एक नई दृष्टि से उन्हें अभिसिक्त करता है। वे अपने साहित्य चिंतन से रहस्यवाद और अध्यात्म को हटाकर सहज मनुष्य पर ध्यान केंद्रित करते हैं।

उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (1929) है। यह इतिहास 'हिंदी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था। समालोचना की पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास' (1933) स्वतंत्र पुस्तक के रूप में उपलब्ध है। 1923 ई. में तुलसी ग्रंथावली के संपादन के दौरान इस पर विस्तार से उन्होंने लिखा था। जायसी ग्रंथावली (1925) का संपादन करते हुए उन्होंने उसकी महत्वपूर्ण भूमिका लिखी थी जो जायसी के काव्य की समग्र आलोचना प्रस्तुत करती है। 'भ्रमरगीत सार' (1926) का संपादन करते हुए उन्होंने सूरदास के काव्य का सूक्ष्म विवेचन किया।

सैद्धांतिक समालोचना में उनके द्वारा लिखित निबंधों में 'काव्य में रहस्यवाद' और 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' प्रमुख हैं। इन दो लेखों के अलावा भी साहित्य और आलोचना के सैद्धांतिक पक्षों पर उन्होंने कई महत्वपूर्ण निबंध लिखे जो 'चिंतामणि' के तीनों भागों में

हिंदी गद्य विविधा

और 'रस मीमांसा' नामक पुस्तक में संग्रहीत है। मनोविकार संबंधी निबंध 'चिंतामणि' भाग-एक में संग्रहीत है।

उन्होंने 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी भी लिखी थी जो हिंदी की आरंभिक कहानियों में से एक है।

रामचंद्र शुक्ल द्वारा किया गया अनुवाद कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना उनका मौलिक लेखन। हैकल की विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'रिडल ऑफ दि युनीवर्स' का अनुवाद 'विश्व प्रपंच' के नाम से किया था जिसकी लंबी भूमिका भी पठनीय है। एडीसन की पुस्तक 'एस्से ऑन इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनंद' नाम से अनुवाद किया। 'लाइट ऑफ एशिया' का अनुवाद 'बुद्ध चरित' के नाम से किया। इनके अतिरिक्त भी कई महत्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद उन्होंने किया। आचार्य शुक्ल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि हिंदी साहित्य इतिहास के वैज्ञानिक विश्लेषण में है। उन्होंने इतिहास दृष्टि का निर्माण किया और कार्य-कारण संबंध को विश्लेषण के केन्द्र में रखा। साहित्यिक परिस्थिति के पीछे सक्रिय राजनीतिक-सामाजिक इतिहास को उन्होंने साहित्य विवेचन से जोड़ा। उन्होंने हिंदी समालोचना के लिए काव्यशास्त्र की पुनर्व्याख्या करके उसे फिर से संदर्भवान बनाया। काव्यशास्त्र को वर्तमान बोध और सहृदय के संदर्भ में अर्थवान बनाया। रसवाद से शास्त्रीयता को हटाकर उसे व्यक्ति और समाज, अंतर्जगत और बाह्यजगत, रूप और वस्तु, अनुभूति और विचार जैसे पहलुओं के संदर्भ में विवेचित किया।

शुक्लजी की नजर में निबंध के लेखक अपनी संपूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और हृदय दोनों को साथ लिये हुए अपने विषय प्रतिपादन में प्रवृत्त होते हैं। उनकी व्यावहारिक समीक्षा का उत्कृष्ट उदाहरण हमें भक्त कवियों के विवेचन में दिखाई देता है। यद्यपि वे छायावादी काव्य को पर्याप्त सहानुभूति नहीं दे सके लेकिन उन्होंने प्रमुख छायावादी कवियों के काव्य का जो विवेचन प्रस्तुत किया, उसकी आज भी प्रासंगिकता है।

आचार्य शुक्ल ने समस्त रचनाकर्म को सामाजिक और सहृदय के भावात्मक सरोकार से जोड़कर तथा लोकमंगल की कसौटी पर कसकर ही साहित्य सिद्धांतों का व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत किया। नामवर सिंह के शब्दों में "आचार्य शुक्ल की स्वातंत्र्य चिंता सिर्फ साहित्य और साहित्यशास्त्र तक सीमित नहीं है बल्कि उससे ज्यादा गहरी है और क्षेत्र भी अधिक व्यापक है। वस्तुतः इसका संबंध संपूर्ण जाति अथवा राष्ट्र की स्वतंत्र सत्ता से है।" इन्होंने आलोचना को रचना का परजीवी नहीं मानकर उसके साथ विकसित होने वाले रचनाकर्म का दर्जा दिलाया। साहित्य को मात्र मनोविनोद या कलावार्ता के स्तर से उठाकर एक गंभीर नैतिक दायित्वपूर्ण स्तर पर प्रतिष्ठित किया।

रचना के बारे में

आचार्य शुक्ल ने 1912-1918 के दौरान मनोविकार संबंधी निबंध लिखे। ये 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित होते थे। इनमें मानवीय राग - विराग की अनुभूति की विविधता है जिससे साहित्य का मानचित्र निर्मित होता है।

मनोभाव संबंधी निबंधों में आचार्य शुक्ल यह बतलाना चाहते हैं कि साहित्य और मनुष्य के भीतर बहते हुए भाव का स्रोत एक है। वे मनोभावों को हमेशा लोकव्यवहार और नैतिकता की कसौटी पर परखते हैं। मनोभावों का आधार मनुष्य का भौतिक जीवन है। **लोभ और प्रीति** निबंध में जीवन के विविध पक्षों के बीच से यात्रा करते हुए भाव को स्थापित करते हैं।

साहित्य को समझने के लिए भाव का सूक्ष्म विश्लेषण आवश्यक है। एक उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिक दृष्टि विकसित करने के लिए भाव की तह में जाना होता है। इसलिए भावों के सामाजिक आधार और उसके सामाजिक परिणाम को दिखाना अनिवार्य होता है। लोभ कहाँ तक सामाजिक विकास में मदद करते हैं और उसके दुष्परिणाम से स्वार्थ केंद्रित मनुष्य किस प्रकार से आत्मज्ञान से शून्य हो जाता है। जबकि प्रीति व्यक्ति के उत्कर्ष में किस प्रकार ऊर्जा का संचार करती है। लोभ का संबंध सामान्य से होता है और प्रेम का संबंध विशेष से। लोभ वस्तुपरक होता है और प्रेम व्यक्तिपरक। भाव के प्रवृत्तिगत सत्य को पहचान कर ही साहित्य की व्यंजना को समझ सकते हैं।

आचार्य शुक्ल के निबंध की शैली यह है कि वे पहले उसे परिभाषा में बांधते हैं फिर उसकी व्याख्या करते हैं। दो मिलते-जुलते भाव का सूक्ष्मता से अध्ययन करते हैं। लोभ की परिभाषा देते हुए प्रीति से उसका अंतर स्पष्ट करते हैं। भाव के आवेग को समझते हुए आगे बढ़ते हैं। लोभ किस सीमा तक बुनियादी जरूरत है, किस सीमा के बाद लोलुपता में बदल जाता है। दृष्टांत देते हुए वे अपनी बात सिद्ध करते हैं। लोभ के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करते हैं। सामाजिक लक्ष्य के संदर्भ में उसका परीक्षण करते हैं। उसकी सीमा निर्धारित करते हैं। लोभ के लोक मंगल स्वरूप का सवाल उठाते हैं। फिर, लोभ और असंतोष के संबंध को खोलते हैं जो आधुनिक समाज में रोग की तरह व्याप्त हो गया है। असंतोष मानसिक उद्विग्नता को जन्म देता है। प्रेम में व्यक्ति संवेदनात्मक निकटता का अहसास करता है। प्रेम के ऐकांतिक और लोकजीवन के प्रभाव के बीच उसको निखारते हैं। प्रेम के संदर्भ में कर्म सौन्दर्य की प्रधानता पर बल देते हैं। रूपाकर्षण और साहचर्यजन्य प्रेम में अंतर बताते हैं। प्रेम भाव का उज्ज्वल रूप हमारे सामने उपस्थित होता है। संक्षेप में, आचार्य शुक्ल के निबंध 'लोभ और प्रीति' की यही भावयात्रा है।

हिंदी गद्य विविधा

'लोभ और प्रीति' निबंध में लेखक की भाषा प्रौढ़, परिभार्जित और तत्सम प्रधान है। तद्भव रूप से भी वे परहेज नहीं रखते। निबंधों की भाषा की सबसे उल्लेखनीय विशेषता है : समर्थ एवं भावव्यंजक शब्दों का नूतन निर्माण। भाषा के प्रति उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक और लचीला है। वे लोभ और प्रीति के संबंध में सूत्रात्मक वाक्य रचते हैं, फिर विश्लेषण करते हैं। विश्लेषण करने के उपरांत वे नये सूत्र को रचते हैं। मनोविकार संबंधी निबंध उनकी अन्तर्यात्रा के कुछ पड़ाव हैं। साहित्य पर विचार करते हुए उन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। भाव को विस्तार देने में वे अराजक नहीं होते हैं। विचार वाक्यों और अनुच्छेदों में कसे हुए होते हैं।

शब्दावली

सान्निध्य : समीप

व्यभिचार : दूषित आचरण

इच्छात्मक अवयव : इच्छा का अंग

ठीकरों : मिट्टी के बर्तन

राजधर्म : राज्य का धर्म। जिससे राज्य में कानून का बोध होता है। राजधर्म का महत्व सामंतवादी शासन व्यवस्थाओं में था।

आचार्य धर्म : सामंती शासकों के यहाँ राजगुरु हुआ करते थे। जो अनुशासन की मर्यादा में रहते थे। उनके लिए निर्धारित धर्म को आचार्य धर्म कहा गया है।

वीर धर्म : वीरोचित आचरण

ब्राह्मण धर्म : ब्राह्मण नामक जाति विशेष के लिए निर्धारित आचरण। इसका वर्णवादी व्यवस्था से संबंध है।

क्षात्रधर्म : क्षत्रियोचित धर्म। शुक्लजी के अनुसार जिसमें लोक मंगल की भावना निहित है।

वणिक धर्म : वणिक नामक जाति या समुदाय के लिए निर्धारित धर्म। इसका संबंध भी वर्णवादी व्यवस्था से है। वणिक व्यापार करने वाली जातियों के लिए प्रयुक्त होता है।

प्रीति सौरभ पूर्ण : प्रेम की सुगंध से सुगन्धित

स्वायत्त रक्षा : अपनी रक्षा अपने आप करना

स्वनिरपेक्ष : अपने से तटस्थ

निश्चयात्मिका वृत्ति : निश्चय करने वाली प्रवृत्ति

विपर्यय : विपरीत

स्वविषयान्वेषी : अपने लिए विषय का अन्वेषण करने वाला।

अनवकाश : अवकाश रहित

स्तंभन : जड़ बना देने वाला

वांछा : आकांक्षा

व्यसन : आदत

निरसन : दूर हटाना।

सर्वस्वहरण : संपूर्ण अपहरण

विगर्हणीय : निंदनीय

अंतर्वृत्ति : आन्तरिक प्रकृति

ढब : बनावट

प्रसूनमय : फूल से सजे।

वीरदर्प : वीरोचित गर्व का भाव

नेह : स्नेह, प्रेम

त्याज्य : त्यागने योग्य

युगपद : साथ-साथ

तुल्यानुराग : एक-सा प्रेम भाव

वक्फ : धर्म के कार्य हेतु धन आदि देना। खुदा के नाम पर छोड़ी गई वस्तु।

आलंबन : रस सिद्धांत में प्रयुक्त शब्द जिसका अर्थ है जिसके कारण दर्शक या ग्रहीता में भाव उत्पन्न हो।

रसाभास : साहित्य में किसी रस का अनुचित संदर्भ में अथवा अनुपयुक्त स्थान पर वर्णन।

विभाव, अनुभाव आदि से पूर्ण होने पर भी अनौचित्य के कारण रसाभास होगा।

विप्लव : क्रांति

साहचर्यगत प्रेम : वह प्रेम जो साथ-साथ रहने से उत्पन्न हो, साहचर्यगत प्रेम कहलाता है।

प्रतिवर्तन : प्रतिक्रिया।

दीर्घ निश्वास : ऊँची साँस छोड़ना।

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। जहाँ लोभ सामान्य या जाति के प्रति होता है वहाँ वह लोभ ही रहता है। पर जहाँ किसी जाति के एक ही विशेष व्यक्ति के प्रति होता है वहाँ वह 'रुचि' या 'प्रीति' का पद प्राप्त करता है। लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख।
2. रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देश प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझकर, या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने

हिंदी गद्य विविधा

देंगे? मोटे आदमियों तुम जरा-सा दुबले हो जाते - अपने अँदशे से ही सही - तो न जाने कितनी ठटरियों पर माँस चढ़ जाता।

3. धन का जो लोभ मानसिक व्याधि या व्यसन के रूप में होता है उसका प्रभाव अंतःकरण की शेष वृत्तियों पर यह होता है कि वे अनभ्यास से कुण्ठित हो जाती है। जो लोभ और मान-अपमान के भाव को, करुणा और दया के भाव को, न्याय-अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्ट-निवारण या सुखभोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्यता कहीं तक रहने देगा?
4. प्रेम का प्रभाव एकांत भी होता है और लोक-जीवन के नाना क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ता है। एकांत प्रभाव उस अंतर्मुख प्रेम में देखा जाता है जो प्रेमी को लोक के कर्मक्षेत्र से खींचकर केवल दो प्राणियों के एक छोटे से संसार में बंद कर देता है। उसका उठना-बैठना, चलना-फिरना, मरना-जीना, सब उसी घेरे के भीतर होता है। वह उस घेरे के बाहर कोई प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से कुछ भी नहीं करता। उसमें जो साहस, धीरता, दृढ़ता, कष्टसहिष्णुता आदि दिखाई देती है वह प्रेम-मार्ग के बीच प्रेमोन्माद के रूप में, लोक के बीच कर्तव्य के रूप में नहीं।
5. प्रेमी तो प्रेम कर चुका, उसका कोई प्रभाव प्रिय पर पड़े या न पड़े। उसके प्रेम में कोई कसर नहीं। प्रिय यदि उससे प्रेम करके उसकी आत्मा को तुष्ट नहीं करता तो उसमें उसका क्या दोष? तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता में कोई त्रुटि नहीं आ सकती। जहाँ तक ऐसे प्रेम के साथ तुष्टि की कामना या अतृप्ति का क्षोभ लगा दिखाई पड़ता है वहाँ तक तो उसका उत्कर्ष प्रकट नहीं होता। पर जहाँ आत्मपुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले ही से नहीं रहती, वहाँ प्रेम का अत्यंत निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है।

व्याख्या का उदाहरण

लोभ चाहे जिस वस्तु का हो, जब बहुत बढ़ जाता है तब उस वस्तु की प्राप्ति, सान्निध्य या उपभोग से जी नहीं भरता। मनुष्य चाहता है कि वह बार-बार मिले या बराबर मिलती रहे। धन का लोभ जब रोग होकर चित्त में घर कर लेता है, तब प्राप्ति होने पर भी और प्राप्ति की इच्छा जगी रहती है, जिससे मनुष्य सदा आतुर और प्राप्त के आनंद से विमुख रहता है। जितना नहीं है उतने के पीछे जितना है उतने से प्रसन्न होने का उसे कभी अवसर ही नहीं मिलता। उसका सारा अंतःकरण सदा अभावमय रहता है। उसके लिए जो है वह भी नहीं है। असंतोष अभाव-कल्पना से उत्पन्न दुख है अतः जिस किसी में यह

अभाव-कल्पना स्वाभाविक हो जाती है सुख से उसका नाता सब दिन के लिए टूट जाता है।

व्याख्या-संकेत

किसी भी अंश की व्याख्या आरंभ करने से पहले आप उस अंश को ध्यान से पढ़ें। यह सुनिश्चित करें कि उक्त अंश किस रचना या पाठ से लिया गया है। उसके लेखक कौन हैं और उसमें किस विषय के बारे में विचार किया गया है। इन बातों को हम **संदर्भ शीर्षक** देकर लिख सकते हैं। ज्यादा विस्तार देकर लिखने से बचें।

इसके बाद उक्त अंश से पूर्व पाठ में कही गई बात का हवाला दें ताकि उक्त अंश की व्याख्या को सही संदर्भ में समझा जा सके। मसलन उपर्युक्त अंश में आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा लोभ की अधिकता के परिणाम पर विचार किया गया है। इस अंश को आप **प्रसंग शीर्षक** देकर लिख सकते हैं और इसका भी अधिक विस्तार न करें। संदर्भ और प्रसंग को एक ही शीर्षक के अंतर्गत एक साथ भी लिख सकते हैं।

व्याख्या के लिए आप इस बात पर विचार करें कि मुख्य बातें क्या-क्या कही गई हैं। आप उन बातों को बोधगम्य और सरल ढंग से समझाकर लिखें। ऊपर जिस अंश को व्याख्या के लिए हमने चुना है उसमें निम्नलिखित मुद्दों पर लेखक ने अपनी बात कही है :

- क) लोभ की अधिकता
- ख) धन का लोभ और उसका व्यक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव
- ग) धन के लोभ से उत्पन्न असंतोष और उसकी दुख में परिणति

आपको इन तीनों को समझाकर लिखना है। वैसे तो शुक्लजी ने सभी बातें काफी साफ ढंग से कही हैं, लेकिन आप इन्हें और सरल और थोड़ा विस्तार देकर लिखें।

व्याख्या के बाद आप उक्त अंश में किसी विशेष कथन, कथन के अंदाज, भाषा और शैली संबंधी कोई उल्लेखनीय बात हो तो उसे भी लिखें। इस अंश को **विशेष शीर्षक** देकर लिखा जा सकता है।

सहायक पुस्तकें

डॉ. रामविलास शर्मा : आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि., नई दिल्ली।

मलयज : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि., नई दिल्ली।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

आलोचना और आलोचना : डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

आलोचना अंक : आचार्य शुक्ल विशेषांक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

लोभ और प्रीति

किसी प्रकार का सुख या आनंद देने वाली वस्तु के संबंध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं। दूसरे की वस्तु का लोभ करके लोग उसे लेना चाहते हैं, अपनी वस्तु का लोभ करके लोग उसे देना या नष्ट होने देना नहीं चाहते। प्राप्य या प्राप्त सुख के अभाव या अभाव-कल्पना के बिना लोभ की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः इसके सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्ष हैं। जब लोभ अप्राप्त के लिए होता है तब तो दुःख स्पष्ट ही रहता है। प्राप्त के संबंध में दुःख का अंश निहित रहता है और अभाव के निश्चय या आशंका मात्र पर व्यक्त हो जाता है। कोई सुखद वस्तु पास में रहने पर भी मन में इस इच्छा का बीज रहता है कि उसका अभाव न हो। पर अभाव का जब तक ध्यान नहीं होता तब तक इस वासना का कहीं पता नहीं रहता। हम बैठे-बैठे किसी वस्तु का आनंद ले रहे हैं और उस आनन्द के अभाव से जो दुःख होगा उसका कुछ भी ध्यान हमारे मन में नहीं है। इसी बीच में कोई आकर उस वस्तु को ले जाना चाहता है, तब हम उससे कुछ व्यग्र होकर कहते हैं 'अभी रहने दो।' इसके पहले कोरे आनंद के अभाव में इच्छा का कहीं पता न था कि वह वस्तु हटाई न जाय।

विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। जहाँ लोभ सामान्य या जाति के प्रति होता है वहाँ वह लोभ ही रहता है। पर जहाँ किसी जाति के एक ही विशेष व्यक्ति के प्रति होता है वहाँ वह 'रुचि' या 'प्रीति' का पद प्राप्त करता है। लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। कहीं कोई अच्छी चीज सुनकर दौड़ पड़ना लोभ है। किसी विशेष वस्तु पर इस प्रकार मुग्ध रहना कि उससे कितनी ही अच्छी-अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उस विशेष वस्तु से प्रवृत्ति न हटे, रुचि या प्रेम है। किसी स्त्री या पुरुष के रूप की प्रशंसा सुनते ही पहला भाव लोभ का होगा। किसी को हमने बहुत सुंदर देखा और लुभा गए, उसके पीछे दूसरे को उससे भी सुंदर देखा तो उस पर लुभा गए। जब तक प्रवृत्ति का यह व्यभिचार रहेगा, तब तक हम रूप लोभी ही माने जायेंगे। जब हमारा लोभ किसी एक ही व्यक्ति पर स्थिर हो जायगा, हमारी वृत्ति एकनिष्ठ हो जायगी, तब हम प्रेमी कहे जाने के अधिकारी होंगे। पर साधारणतः मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।

लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनंद का अनुभव होना। अतः वह आनंद स्वरूप है। इसी से किसी

लोभ और प्रीति

अच्छी वस्तु को देखकर लुभा जाना कहा जाता है। पर केवल इस अवस्था में लोभ की पूरी अभिव्यक्ति नहीं होती। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगी, किसी वस्तु से हमें बहुत सुख या आनंद मिला, इतने ही पर दुनिया में यह नहीं कहा जाता कि हमने लोभ किया। जब संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का संयोग होगा अर्थात् जब उस वस्तु को प्राप्त करने की, दूर न करने की, नष्ट न होने देने की इच्छा प्रकट होगी तभी हमारा लोभ लोगों पर खुलेगा। इच्छा लोभ या प्रीति का ऐसा आवश्यक अंग है कि यदि किसी को कोई बहुत अच्छा या प्रिय लगता है तो लोग कहते हैं कि वह उसे चाहता है।

भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है पर चौबेजी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि चौबेजी को मिष्ठान से अधिक रुचि है। यह अभिरुचि भी लोभ की चेष्टाएँ उत्पन्न करती है। इन्द्रियों के विषय-भेद से अभिरुचि के विषय भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कमल का फूल और रमणी का सुंदर मुख अच्छा लगता है। वीणा की तान और अपनी तारीफ अच्छी लगती है, जूही और केंसर की गन्ध अच्छी लगती है, रबड़ी और मालपुवा अच्छा लगता है, मुलायम गद्दा अच्छा लगता है। ये सब वस्तुएँ तो आपको आनंद देती हैं इससे इनकी प्राप्ति की इच्छा बहुत सीधी-सादी और स्वाभाविक कही जा सकती है। पर जिससे इन सब वस्तुओं की प्राप्ति सुलभ होती है उसमें चाहे आनंद देने वाली स्वतः कोई बात न हो, पर उसकी प्राप्ति की इच्छा होती है, उसका लोभ होता है। रुपये के रूप, रस, गन्ध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते हैं उस वेग से भौरे कमल पर और कौए मांस पर भी न टूटते होंगे। यहाँ तक कि 'लोभी' शब्द से साधारणतः रुपये-पैसे का लोभी, धन का लोभी, समझा जाता है। एक धातुखण्ड के गर्भ में कितने प्रकार के सुख और आनंद मनुष्य समझता है। पर यह समझ इतनी पुरानी पड़ गई है कि इसकी ओर हमारा ध्यान अब प्रायः नहीं रहता। धन संचय करने में बहुतों का लक्ष्य धन ही रहता है, उससे प्राप्य सुख नहीं। वे बड़े से बड़े सुख के बदले में या कठिन से कठिन कष्ट के निवारण के लिए थोड़ा-सा भी धन अलग करना नहीं चाहते। उनके लिए साधन ही साध्य हो जाता है।

स्थितिभेद से प्रिय या अच्छी लगने वाली वस्तु के संबंध में इच्छा दो प्रकार की होती है :

1. प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा।
2. दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा।

प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा भी दो प्रकार की हो सकती है :

1. इतने सम्पर्क की इच्छा जितना और किसी का न हो।

हिंदी गद्य विविधा

2. इतने सम्पर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हों।

इनमें से प्रथम प्रतिषेधात्मक होने के कारण प्रायः विरोधग्रस्त होती है इससे उस पर समाज का ध्यान अधिक रहता है। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगती है, लगा करे, दूसरों को इससे क्या? पर जब हम उस वस्तु की ओर हाथ बढ़ाएँगे या औरों को उसकी ओर हाथ बढ़ाने न देंगे तब बहुत से लोगों का ध्यान हमारे इस कृत्य पर जायगा जिनमें से कुछ हाथ थामने वाले और मुँह लटकाने वाले भी निकल सकते हैं। हमारे लोभ की शिकायत ऐसे ही लोग अधिक करते पाये जायेंगे। दूसरों के लोभ की निंदा जैसी अच्छे लोभी कर सकते हैं वैसी और लोग नहीं। माँगने पर न पाने वाले और न देने वाले दोनों इसमें प्रवृत्त होते हैं। एक कहता है 'वह बड़ा लोभी है, देता नहीं' दूसरा कहता है 'वह बड़ा लोभी है, बराबर माँग करता है।' रहीम दोनों को लोभी, दोनों को बुरा, कहते हैं :

रहिमन वे नर मर चुके जे कहँ माँगन जाहिं।

उनतँ पहिले वे मुए जिन मुख निकसत 'नाहिं' ॥

ऐसा उस समय होता है जब एक ही वस्तु के संबंध में एक ओर तो प्राप्त करने और दूसरी ओर दूर न करने की इच्छा बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप से दो व्यक्तियों में होती है। इसके अतिरिक्त एक ही वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा यदि संयोग से कई प्राणियों के चित्त में हुई तो भी विरोध का पूरा विधान होता है। सारांश यह कि दोनों अवस्थाओं में लोभ का लक्ष्य एक होने पर लोभी एक दूसरे को बहुत व्याकुल करते हैं।

प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छा की सदोषता और निर्दोषता लोभ के विषय पर निर्भर रहती है। लोभ के विषय दो प्रकार के होते हैं - सामान्य और विशेष। अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा, अच्छा घर तथा धन, जिससे ये सब वस्तुएँ सुलभ होती हैं, सबको भाता है, सब उसकी प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। ये लोभ के सामान्य विषय हुए, जिन पर प्रायः मनुष्य-मात्र का लक्ष्य रहता है, अतः इनके प्रति जो लोभ होता है उस पर बहुत लोगों का ध्यान जाता है। पर यदि किसी को गुलाब-जामुन या विशेष बूटा की छींट बहुत अच्छी लगे और वह उसे प्राप्त करना या न देना चाहे, तो उसके इस लोभ पर बहुत कम लोगों का ध्यान जाएगा और जिनका ध्यान जायगा भी उन्हें वह खटकेगा नहीं। ऐसे लोभ को वे रुचि कहेंगे। सबको जिसकी हाय-हाय होती है, सब जिसको पाना या रखना चाहते हैं, वह बहुत से लोगों को एक मैदान में लाकर खड़ा किया करता है जहाँ एक दूसरे की गतिविधि का निरीक्षण और अवरोध बड़ी कड़ी नजर और पूरी मुस्तैदी से होता है।

यदि मनुष्य-समाज में सब के लोभ के लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते तो लोभ को बुरा कहने वाले कहीं न मिलते। यदि एक साथ रहने वाले दस आदमियों में से कोई गाय बहुत

चाहता, कोई घोड़ा, कोई कपड़ा, कोई ईंट, कोई पत्थर, कोई सोना, कोई चाँदी, कोई ताँबा और इन वस्तुओं में से किसी को शेष सब वस्तुओं को प्राप्त कराने की कृत्रिम शक्ति न दी जाती, तो एक के लोभ से दूसरे को कोई कष्ट न पहुँचता और दूसरी बात यह होती कि लोभ का एक बुरा लक्षण जो असंतोष है, उसकी भी एक सीमा हो जाती - कोई कितनी गायें रखता, कितने घोड़े बाँधता, कहाँ तक सोना चाँदी इकट्ठी करता। पर विनिमय की कठिनता दूर करने के लिए मनुष्यों ने कुछ धातुओं में सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने का कृत्रिम गुण आरोपित किया जिसमें मनुष्य मात्र की सांसारिक इच्छा और प्रयत्न का लक्ष्य एक हो गया, सब की टकटकी टके की ओर लग गई।

लक्ष्य की इस एकता से समाज में एक दूसरे की आँखों में खटकने वाले की वृद्धि हुई। जब एक ही को चाहने वाले बहुत से हो गए तब एक की चाह को दूसरे कहाँ तक पसंद करते? लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए। धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की पुष्टि से, धर्म की दृष्टि से, की जाती थीं वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगीं। आजकल तो बहुत-सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। पैसे से राज-सम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिसके पास कुछ रुपया है बड़े-बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फीस देकर अपने मुकद्दमे दाखिल कर सकते हैं और महँगे वकील-बेरिस्टर करके बढ़िया खासा निर्णय करा सकते हैं, अत्यंत भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं। राजधर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से, उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से, ब्राह्मणधर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया, केवल वणिग्धर्म रह गया।

व्यापारनीति राजनीति का प्रधान अंग हो गई। बड़े-बड़े राज्य माल की बिक्री के लिए लड़ने वाले सौदागर हो गए। जिस समय क्षात्रधर्म की प्रतिष्ठा थी, एक राज्य दूसरे राज्य पर कभी-कभी विजय कीर्ति की कामना से डंके की चोट चढ़ाई करता था। अब सदा एक देश दूसरे देशों का चुपचाप दबे पाँव धन हरण करने की ताक में लगा रहता है। इसी से भिन्न-भिन्न राज्यों की परस्पर संबंध समस्या इतनी जटिल हो गई है। कोई-कोई देश लोभवश इतना अधिक माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में दिन-रात मरते रहते हैं। जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख-शांति न होगी। दूर वह अवश्य होगा। क्षात्रधर्म की संसार में एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी चोरी का बदला डकैती से लिया जाएगा।

सामान्य-विषयगत प्रतिषेधात्मक लोभ में भी लोभदृष्टि जितनी ही संकुचित होती है, उसके भीतर जितनी ही कम वस्तुएँ आती हैं, उतना ही उसका दोष कम होता है।

हिंदी गद्य विविधा

अच्छे भोजन की सब को चाह होती है। अतः उसे बहुत चाहनेवाला लोभी कहला सकता है पर अच्छे भोजनों में से यदि किसी की मिठाई की चाह अधिक रहे, तो उसका दोष कम और मिठाइयों में से यदि केवल गुलाबजामुन की अधिक चाह रहे तो और भी कम क्या कुछ भी न समझा जाएगा। इसी प्रकार जहाँ एक ही वस्तु बहुत प्रकार की रखी हुई है वहाँ यदि कोई एक किसी को बहुत पसंद आ जाय और वह उसे लेना चाहे तो उसकी गिनती लोभियों में न होगी। विश्वामित्र को वशिष्ठ की गाय बहुत पसंद आई और वे उसके बदलें में बहुत-सी गायें देने के लिए तैयार हो गए पर वशिष्ठ ने अपनी गाय नहीं दी। इसके लिए लड़-भिड़कर भी न वशिष्ठ लोभी कहलाए, न विश्वामित्र। इसी प्रकार एक नवाब साहब को बाबू हरिश्चंद्र का एक अलबम बहुत पसंद आया था। ये लोभ के विशेष विषय के उदाहरण हैं। इनके प्रति जो लोभ होता है उसके अवसर इतने कम होते हैं कि उनसे स्वभाव या अधिक अभ्यास का अनुमान नहीं किया जा सकता। पर किसी की अच्छी चीज़ देखते ही जिनके मुँह में पानी आ जाता है, वे बराबर खरी-खोटी सुना करते हैं। एक लोभ से दूसरे लोभ का निवारण भी होता है जिससे लोभी में अन्य वस्तुओं के त्याग का साहस आता है। विशेष विषय-गत लोभ यदि बहुत प्रबल और सच्चा हुआ तो लोभी के त्याग का विस्तार बहुत बड़ा होता है। लोभ तो उसे एक विशेष और निर्दिष्ट वस्तु से है अतः उसके अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं का त्याग वह उसके लिए कर सकता है। विश्वामित्र एक गाय के लिए अपना सारा राजपाट देने को तैयार हो गए थे। अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।

यहाँ तक तो प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छा वाले लोभ की बात हुई जिसका प्रायः विरोध होता है। अब प्राप्ति की उस इच्छा का विचार करता हूँ जिसे एक ही वस्तु के संबंध में बहुत से लोग बिना किसी विरोध के रख सकते हैं। जिस लोभ से दूसरे को कोई बाधा या कष्ट पहुँचता है उसी को पहले एक - प्रायः जिसे बाधा या कष्ट होता है - बुरा कहता है, फिर दूसरा, फिर तीसरा इसी प्रकार बहुत से बुरा कहने वाले हो जाते हैं। सारांश यह कि लोभ दूसरे की सुखशांति या स्वच्छंदता का बाधक होता है, अधिकतर वही निंद्य समझा जाता है। उपवन की शोभा सबको लुभाती है। यदि कोई नित्य किसी के बगीचे में जाकर टहला करे तो उसका क्या जाता है? यदि हम किसी वस्तु पर लुभाकर उससे उतना ही सम्पर्क रखना चाहते हैं जितना सब लोग एक साथ रख सकते हैं, तो हमारा लोभ किसी की आँखों में नहीं खटक सकता। बगीचे को आँख से एक साथ बहुत लोग देख सकते हैं, पर उसमें के फल नहीं खा सकते। जहाँ देखने का भी दाम लगता है या कुछ आदमियों का देखना बिना बंद किये देखा नहीं जा सकता, वहाँ दृष्टि-सम्पर्क की इच्छा भी मुश्किल में डाल देती है। पर जहाँ एक की इच्छा दूसरे की इच्छा का बाधक न होकर साधक होती है। वहाँ एक ही वस्तु का लोभ रखने वाले बहुत से लोग बड़े सद्भाव के साथ रहते हैं। लूटेरे वा डाकू इसी प्रकार दल-बद्ध होकर काम करते हैं।

लोभ और प्रीति

किसी को कोई स्थान बहुत प्रिय हो जाता है और वह हानि और कष्ट उठाकर भी वहाँ से नहीं जाना चाहता। हम कह सकते हैं कि उसे उस स्थान का पूरा लोभ है। जन्म-भूमि का प्रेम, स्वदेश-प्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देश-प्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मुनष्य, पशु-पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा, सबको वह चाहभरी दृष्टि से देखेगा, सबको सुध करके वह विदेश में आँसू बहायेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणयसौरभ-पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि, 'भाइयो! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े वा खड़े-खड़े, तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो।' प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करने वाले नहीं। हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र हो सकता है। हित-चिंतक और हित-साधन की प्रवृत्ति इस ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग पर निर्भर है, उसका संबंध लोभ या प्रेम से है जिसके बिना आवश्यक त्याग का उत्साह ही नहीं सकता। जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार होगा :

नैनन सों रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।

कैतिक ये कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर बारौं॥

रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देश प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर शीझकर, या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियों तुम जरा-सा दुबले हो जाते - अपने अँदेशे से ही सही + तो न जाने कितनी ठटरियों पर माँस चढ़ जाता।

अब पूछिए कि जिनमें यह देश-प्रेम नहीं है उनमें यह किसी प्रकार हो भी सकता है? हाँ, हो सकता है - परिचय से, सान्निध्य से। जिस प्रकार लोभ से सान्निध्य की इच्छा उत्पन्न होती है उसी प्रकार सान्निध्य से भी लोभ या प्रेम की प्रतिष्ठा होती है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें हम बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें हम बराबर

हिंदी गद्य विविधा

सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ हो जाता है, सारांश यह कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। जिस स्थान पर कोई बहुत दिनों तक रह आता है उसे छोड़ते हुए उसे दुःख होता है। पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उन्हें परच जाते हैं। यह 'परचना' परिचय से निकलता है। परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँखें खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहो हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसो, देखो तो क्या हो रहा है। जो मिले उनसे दो-दो बातें करो, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी-आध-घड़ी बैठ जाओ और समझो कि ये सब हमारे हैं। इस प्रकार जब देश का रूप तुम्हारी आँखों में समा जायगा, तुम उसके अंग-प्रत्यंग से परिचित हो जाओगे, तब तुम्हारे अंतःकरण में इस इच्छा का उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे, वह सदा हरा-भरा और फला-फूला रहे, उसके धन-धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राण सुखी रहे। यह तो वर्तमान प्रेमसूत्र हुआ। अतीत की ओर भी दृष्टि फैलाओ। राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भवभूति इत्यादि का स्मरण करो जिससे ये सब नाम तुम्हारे प्यारे हो जाएँ। इनके नाते भी यह भूमि और इस भूमि के निवासी तुम्हें प्रिय होंगे।

पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं को लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुंदर एक छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा-सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों पुरातत्व-विभाग का कैंप पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हम लोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सवेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसंत का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला - "महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।" इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा, "यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।" मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।

आरंभ में ही कहा जा चुका है कि प्रवृत्ति-भेद से प्रिय वस्तु के संबंध में इच्छा दो प्रकार की होती है - प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा तथा दूर न करने या कष्ट न होने की इच्छा। प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा का विचार तो हो चुका। अब रक्षा की इच्छा का अन्वेषण करना है। रक्षा की इच्छा भी दो प्रकार की होती है :

1. स्वायत्त रक्षा की इच्छा अर्थात् अपने अधिकार में रहने की इच्छा।

लोभ और प्रीति

2. स्व-निरपेक्ष रक्षा की इच्छा अर्थात् केवल बने रहने देने की इच्छा।

स्वायत्त रखने की इच्छा प्रायः अनन्य उपयोग या उपभोग की वासना से सम्बद्ध रहती है इससे वह कभी-कभी लोगों को खटकती है और लोग उसका विरोध करते हैं। कोई बहुत मीठे आम का पेड़ है जिसका फल सब लोग खाते हैं और जिसकी रखवाली सब लोग करते हैं। यदि उनमें से कोई एक अकेले उसकी रखवाली करने चले और किसी को पास न आने दे, तो सब लोग मिलकर विरोध करेंगे। पर कभी-कभी स्वायत्त रखने की इच्छा अन्य द्वारा यथेष्ट रक्षा के उस अविश्वास के कारण होती है जो लोभ या प्रीति की अधिकता से उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में यदि संरक्ष्य वस्तु के उपयोग या उपभोग आदि में औरों को कोई बाधा नहीं पहुँचाती है तो किसी एक का उसे अपनी रक्षा में रखना दूसरे को बुरा नहीं लगता।

यदि लोभ की वस्तु ऐसी है जिससे सबको सुख और आनंद है तो उस पर जितना ही अधिक ध्यान रहेगा, रक्षा के भाव की एकता के कारण, परस्पर मेल की उतनी ही प्रवृत्ति होगी। यदि दस आदमियों में से सबकी यही इच्छा है कि कोई मंदिर बना रहे, गिरने-पड़ने न पाए अथवा और अधिक उन्नत और सुसज्जित हो, तो यह सम्मिलित इच्छा ऐक्य-सूत्र होगी। मिलकर कोई कार्य करने से उसका साधन अधिक या सुगम होता है, यह बतलाना 'पर उपदेश कुशल' नीतिज्ञों का कर्म है मेरे विचार का विषय नहीं। मेरा उद्देश्य तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की छानबीन है जो निश्चयात्मिका वृत्ति से भिन्न है। मुझे तो यह कहना है कि इन-इन अवस्थाओं में मेल की प्रवृत्ति होती है। अब मेल से क्या लाभ होते हैं, यह न जाने कितने झगड़ालू बताते हैं और न जाने कितने लोग सुनकर झगड़ा करते हैं।

लोभ का सबसे प्रशस्त रूप वह है जो रक्षा मात्र की इच्छा का प्रवर्तक होता है, जो मन में यही वासना उत्पन्न करता है कि कोई चीज़ बनी रहे, चाहे वह हमारे किसी उपयोग में आए या न आए। इस लोभ में दोष का लेश उसी अवस्था में आ सकता है जब कि वह वस्तु ऐसी हो जिससे किसी को कोई बाधा या हानि पहुँचती हो। कोई सुंदर कृष्णसार मृग नित्य आकर खेती की हानि किया करता है। उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसकी रक्षा चाहने वाला यदि बराबर उसकी रक्षा में प्रवृत्त रहेगा तो बहुतों से उसकी अनबन हो सकती है। वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक दूसरे का लोभी बनाए रहती है वह भी परम पूज्य है। घर का प्रेम, पुर या ग्राम का प्रेम, देश का प्रेम उसी पवित्र लोभ के क्रमशः विस्तृत रूप हैं। मनुष्य के प्रयत्नों की पहुँच बहत परिमित होती है। अतः जो प्रेमक्षेत्र जितना ही निकटस्थ होगा उसमें उतने ही अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होगी और जो जितना ही दूर होगा, प्रयत्नों का उतना ही कम अंश उसके लिए आवश्यक होगा। सबसे

हिंदी गद्य विविधा

अधिक घर की रक्षा का, फिर पुर या ग्राम की रक्षा का और फिर देश की रक्षा का ध्यान जनसाधारण के लिए स्वाभाविक है। पर जिनकी दृष्टि बहुत व्यापक होती है, जिनके अंतःकरण में परार्थ को छोड़ स्वार्थ के लिए अलग जगह नहीं होती, वे इस क्रम का विपर्यय कर दिखाते हैं। वे देश की रक्षा के लिए अवसर पड़ने पर घर का लोभ क्या प्राण तक का लोभ छोड़ देते हैं। पर ऐसे लोग विरले होते हैं। सबसे ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

अब घर का प्रेम, पुर का प्रेम, देश का प्रेम कहाँ तक विरोधशून्य होता है, यह भी देखिए। इनका अविरोध परिमित होता है - "घर के भीतर, पुर या ग्राम के भीतर ही उसके होने का निश्चय रहता है। घर के बाहर, पुर या ग्राम के बाहर, देश के बाहर विरोध करने वाले मिल सकते हैं। एक घर की रक्षा दूसरे घरवालों से, एक पुर की रक्षा दूसरे पुरवालों से और एक देश की रक्षा दूसरे देशवालों से करनी पड़ती है।

जिनकी आत्मा समस्त भेदभाव भेदकर अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँची हुई होती है वे सारे संसार की रक्षा चाहते हैं - जिस स्थिति में भूमण्डल के समस्त प्राणी, कीट-पतंग से लेकर मनुष्य तक सुखपूर्वक रह सकते हैं, उसके अभिलाषी होते हैं। ऐसे लोग विरोध के परे होते हैं। उनसे जो विरोध रखें वे सारे संसार के विरोधी हैं, वे लोक के कंटक हैं।

कोई वस्तु हमें बराबर सुख या आनंद देती रहे और कोई वस्तु बनी रहे, इन्हीं दो भावों को लेकर स्वायत्त रक्षा की इच्छा और स्वनिरपेक्ष रक्षा की इच्छा से दो विभाग पहले किए गए हैं। अतः पहली को यदि हम अपने सुख की रक्षा की इच्छा कहें तो बहुत अनुचित न होगा। वस्तु के दूसरे के पास जाने से या नष्ट हो जाने से हमें सुख या आनंद न मिल सकेगा, इसी से हम उसकी रक्षा के लिए व्यग्र होते हैं। यदि ऐसी वस्तु को कोई उठाए लिए जाता हो और वह बीच में नष्ट हो जाय, तो हमें दुःख न होगा, क्योंकि जब चीज़ हमारे हाथ से निकल गई, हमें वह सुख या आनंद दे ही नहीं सकती, तब वह चाहे रहे, चाहे नष्ट हो। यहाँ तक कि यदि ले जाने वाले के प्रति हमें क्रोध होगा या ईर्ष्या होगी तो हम प्रसन्न होंगे। जहाँ वस्तु रक्षा की इच्छा होगी वहाँ यह बात न होगी। हम किसी दशा में उस वस्तु का नाश न चाहेंगे। किसी पुराने काजी के पास दो स्त्रियाँ एक बच्चे का लेकर लड़ती हुई आईं। एक कहती थी कि बच्चा मेरा है, दूसरी कहती थी मेरा। काजी साहब ने परीक्षा के विचार से कहा - "अच्छ, तुम दोनों को बच्चा काटकर आधा-आधा बांट दिया जायगा।" इतना सुनते ही दोनों में से एक स्त्री घबराकर बोल उठी - "जाने दीजिए, बच्चा मुझे न चाहिए, उसी को दीजिए।" काजी साहब समझ गए कि बच्चा इसी का है। वह स्त्री बच्चे की माँ थी, अतः उसे उसका सच्चा लोभ था।

लोभ और प्रीति

अब तक लोभ के संबंध में जो कुछ कहा गया वह उसका व्यापक अर्थ लेकर। पर जैसा पहले कहा जा चुका है, 'लोभ' शब्द कहने से आज-कल प्रायः धन के लोभ की भावना होती है, प्राप्ति या रक्षा की उस इच्छा की ओर ध्यान जाता है जो जीवन-निर्वाह की सामग्रियों के प्रति होती है। धन से अनेक सुखों की प्राप्ति और अनेक कष्टों का निवारण होता है अथवा यों कहिए कि धन के बिना संसार में रहना संभव नहीं। संसार में जो इतने लोग धन इकट्ठा करते दिखाई देते हैं उनमें से कुछ तो घोर कष्ट के निवारण के लिए, कुछ अधिक सुख की प्राप्ति के लिए, कुछ भविष्य में सुख के अभाव या कष्ट की आशंका से और कुछ बिना किसी उद्देश्य-भावना के। इनमें से प्रथम श्रेणी के लोग तो धन की चाहे जितनी प्रबल इच्छा करें, उसके लिए चाहे जितने आतुर हों, लोभी नहीं कहला सकते। धन के बिना जिन्हें पेट भर अन्न नहीं मिलता, जो शीत और ताप से अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकते, उन्हें जो लोभी कहे वे बड़े भारी लोभी और बड़े भारी क्रूर हैं। दूसरी श्रेणी के लोगों पर से लोभ के आरोप की संभावना क्रमशः बढ़ते-बढ़ते चौथी श्रेणी के लोगों पर जाकर निश्चय-कोटि को पहुँच जाती है। कष्ट निवारण की इच्छा, अधिक सुखप्राप्ति की इच्छा, सुखाभाव या कष्ट की आशंका - ये तीनों धन और उसकी प्राप्ति की इच्छा के बीच ओट या व्यवधान के रूप में रहती है। जहाँ इन तीनों में से कोई परदा नहीं रहता वहाँ शुद्ध धन-लोभी की जघन्य मूर्ति साक्षात् दिखाई पड़ती है।

धन की कितनी इच्छा लोभ के लक्षणों तक पहुँचती है, इसका निर्णय कठिन है। पर किसी मनोविकार की उचित सीमा का अतिक्रमण प्रायः वहाँ समझा जाता है जहाँ और मनोवृत्तियाँ दब जाती हैं या उनके लिए बहुत कम स्थान रह जाता है। और मनोवेगों के आधिक्य से लोभ के आधिक्य में विशेषता यह होती है कि लोभ स्वविषयान्वेषी होने के कारण अपनी स्थिति और वृद्धि का आधार आप खड़ा करता रहता है, जिससे असंतोष की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ और वृत्तियों के लिए स्थायी अनवकाश हो जाता है और मनोविकारों में वह बात नहीं होती। क्रोध को ही लीजिए। क्रोध कुछ बातों पर आता है पर उन बातों को ढूँढ़ने में प्रवृत्त नहीं होता। क्रोधी स्वभाव का मनुष्य ऐसी बातों पर चिढ़ जाता है जिनसे और लोग नहीं चिढ़ते, पर वह सदा इस फेर में नहीं घूमा करते कि कोई बात चिढ़ने को मिले। क्रोध से आग बबूला होने वाले तुरंत करुणा से आर्द्र और लज्जा से पानी-पानी होते हुए भी देखे जाते हैं। क्रोध आदि में अन्य वृत्तियों का जो बोध हो जाता है वह प्रायः क्षणिक होता है, पर लोभ द्वारा स्थायी हो जाता है। बात यह है कि लोभ का प्रथम अवयव सुखात्मक होने के कारण लोभ को विषय की ओर बराबर प्रवृत्त रखता है। धन का लोभी धन पाकर लोभ से निवृत्त नहीं हो जाता, या तो भले-बुरे का सब विचार छोड़ रक्षा में तत्पर दिखाई देता है या और अधिक प्राप्ति में। इस प्रकार लोभ से अन्यसुख वृत्तियों का जो स्तम्भन होता है, वह स्वाभावान्तर्गत हो जाता है। अस्तु, स्थूल रूप से उद्धृत लोभ के दो उग्र लक्षण कहे जा सकते हैं :

हिंदी गद्य विविधा

- (1) असंतोष।
- (2) अन्य वृत्तियों का दमन।

लोभ चाहे जिस वस्तु का हो, जब बहुत बढ़ जाता है तब उस वस्तु की प्राप्ति, सान्निध्य या उपभोग से जी नहीं भरता। मनुष्य चाहता है कि वह बार-बार मिले या बराबर मिलती रहे। धन का लोभ जब रोग होकर चित्त में घर कर लेता है तब प्राप्ति होने पर भी और प्राप्ति की इच्छा बराबर जगी रहती है जिससे मनुष्य सदा आतुर और प्राप्त के आनंद से विमुख रहता है। जितना नहीं है उतने के पीछे जितना है उतने से प्रसन्न होने का उसे कभी अवसर ही नहीं मिलता। उसका सारा अंतःकरण सदा अभावमय रहता है। उसके लिए जो है वह भी नहीं है। असंतोष अभाव-कल्पना से उत्पन्न दुःख है अतः जिस किसी में यह अभाव-कल्पना स्वाभाविक हो जाती है, सुख से उसका नाता सब दिन के लिए टूट जाता है। न किसी को देखकर वह प्रसन्न होता है और न उसे देखकर कोई प्रसन्न होता है। इसी से संतोष सात्विक जीवन का एक अंग बतलाया गया है। भक्तवर तुलसीदास जी संतोषवृत्ति की वाञ्छा इस प्रकार करते हैं :

कबहुँक हौं यहि रहिन रहौंगो?

यथालाभ संतोष सदा काहूँ सौं कछु न चहौंगो।

पर जिस स्थिति से कोई कष्ट या कठिनता हो उससे असंतुष्ट रहना गृहस्थ का धर्म है क्योंकि ऐसे असंतोष से जिस प्रयत्न की प्रेरणा होती है वह एक अच्छे फल के निमित्त होता है। ऐसे असंतोष का अभाव आलस्य-सूचक होता है। पर प्राप्ति की जो इच्छा व्यसन के रूप में होती है उसका निरसन ही ठीक है।

धन का जो लोभ मानसिक व्याधि या व्यसन के रूप में होता है उसका प्रभाव अंतःकरण की शेष वृत्तियों पर यह होता है कि वे अनभ्यास से कुण्ठित हो जाती है। जो लोभ और मान-अपमान के भाव को, करुणा और दया के भाव को, न्याय-अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्ट-निवारण या सुखभोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्यता कहाँ तक रहने देगा? जो अनाथ विधवा का सर्वस्वहरण करने के लिए कुर्क अमीन लेकर चढ़ाई करते हैं, जो अभिमानी धनिकों की दुतकार सुनकर त्योरी पर बल नहीं आने देते, जो मिट्ठी में रुपया गाड़ कर न आप खाते हैं न दूसरे को खाने देते हैं, जो अपने परिजनों का कष्ट-क्रन्दन सुनकर भी रुपये गिनने में लगे रहते हैं वे अधमरे होकर जीते हैं। उनका आधा अंतःकरण मारा गया समझिए। जो किसी के लिए नहीं जीते, उनका जीना न जीना बराबर है।

लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-

लोभ और प्रीति

अपमान में समान भाव रखते हैं। अब और चाहिए क्या? जिससे वे कुछ पाने की आशा रखते हैं वह यदि उन्हें दस गालियाँ भी देता है तो उनकी आकृति पर न रोष का कोई चिह्न प्रकट होता है और न मन में ग्लानि होती है। न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया। सुंदर से सुंदर रूप देखकर वे अपनी एक कौड़ी भी नहीं भूलते। करुण से करुण स्वर सुनकर वे अपना एक पैसा भी किसी के यहाँ नहीं छोड़ते। तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ फैलाने में वे लज्जित नहीं होते। क्रोध, दया, घृणा, लज्जा आदि करने से क्या मिलता है कि वे करने जाएँ? जिस बात से उन्हें कुछ मिलता नहीं जब कि उसके लिए उनके मन के किसी कोने में जगह नहीं होती तब जिस बात से पास का कुछ जाता है, वह बात उन्हें कैसी लगती होगी, यह यों ही समझा जा सकता है। जिस बात में कुछ लगे वह उनके किसी काम की नहीं - चाहे वह कष्ट-निवारण हो या सुखप्राप्ति, धर्म हो या न्याय। वे शरीर सुखाते हैं, अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र आदि की आकांक्षा नहीं करते, लोभ के अंकुश से अपनी संपूर्ण इन्द्रियों को वश में रखते हैं। लोभियों ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान - समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्पुरुता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!!

पक्के लोभी लक्ष्य भ्रष्ट नहीं होते, कच्चे हो जाते हैं। किसी वस्तु को लेने के लिए कई आदमी खींचतान कर रहे हैं। उनमें से एक क्रोध में आकर उस वस्तु को नष्ट कर देता है। उसे पक्का लोभी नहीं कह सकते, क्योंकि क्रोध ने उसके लोभ को दबा दिया, वह लक्ष्य-भ्रष्ट हो गया।

अब एक प्राणी के प्रति दूसरे प्राणी के लोभ का प्रसंग सामने आता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। यद्यपि किसी व्यक्ति की ओर प्रवृत्ति भी जब तक एकनिष्ठ न हो, लोभ ही कही जा सकती है, पर साधारण बोल-चाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम' कहते हैं। वस्तु और व्यक्ति के विषय-भेद से लोभ के स्वरूप और प्रवृत्ति में बहुत कुछ भेद पड़ जाता है, इससे व्यक्ति के लोभ को अलग नाम दिया गया है। पर मूल में लोभ और प्रेम दोनों एक ही हैं इसका पता हमारी भाषा ही देती है। किसी रूपवान या रूपवती को देख उस पर 'लुभा जाना' बराबर कहा जाता है। अंग्रेजी के प्रेम-वाचक शब्द 'लव' (Love) सैक्सन के 'लुफु' (Lufe) और लैटिन के 'लुबेट' (Lubet) का संबंध संस्कृत के 'लोभ' शब्द या 'लुभ' धातु से स्पष्ट लक्षित होता है।

किसी व्यक्ति का लोभ वस्तु के लोभ से कितना विलक्षण होता है, अब यह देखना चाहिए। विलक्षणता का सबसे बड़ा कारण है दोनों पक्षों में मनस्तत्व का विधान। जो लुब्ध होगा उसको भी हृदय होता है, जिस पर वह लुब्ध होता है उसके भी। अतः किसी

हिंदी गद्य विविधा

व्यक्ति का लोभी उस व्यक्ति से केवल बाह्य सम्पर्क रख कर ही तुष्ट नहीं हो सकता, उसके हृदय का सम्पर्क भी चाहता है। अतः मनुष्य का मनुष्य के साथ जितना गूढ़, जटिल और व्यापक संबंध हो सकता है उतना वस्तु के साथ नहीं। वस्तु-लोभ के आश्रय और आलम्बन, इन दो पक्षों में भिन्न-भिन्न कोटि की सत्ताएँ रहती हैं। पर प्रेम एक ही कोटि की दो सत्ताओं का योग है, इससे कहीं अधिक गूढ़ और पूर्ण होता है।

वस्तु के भीतर लोभी चेतना का कोई विधान नहीं देखता जिस पर प्रभाव डालने का वह प्रयत्न करे। पर प्रेमी प्रिय की अंतर्वृत्ति पर प्रभाव डालने में तत्पर रहा करता है। प्रभाव डालने की यह वासना प्रेम उत्पन्न होने के साथ ही जगती है और बढ़ी चली जाती है। किसी वस्तु पर लुब्ध होकर कोई इस चिंता में नहीं पड़ता कि उस वस्तु को मालूम हो जाय कि वह उस पर लुब्ध है। पर किसी पर लुब्ध या प्रेमासक्त होते ही प्रेमी इस बात के लिए आतुर होने लगता है कि प्रिय को उसके प्रेम की सूचना मिल जाय। उसे इस बात की चिंता रहती है कि प्रिय को भी उससे प्रेम हो गया है, कम से कम उसके प्रेम का पता लग गया है, या नहीं :

वा निरमोहिनी रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।

बारहि बबार विलोकि घरी घरी सूरती तौ पहिचानति ह्वै है॥

ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।

आवत हैं नित मेरे लिए, इतनो तो विशेष कै जानति ह्वै है॥

इस प्रवृत्ति के मूल में कई बातें दिखाई पड़ती हैं। पहली बात तो तुष्टि का विधान है। लोभी या प्रेमी सान्निध्य या सम्पर्क द्वारा तुष्ट होना चाहता है। वस्तु के सान्निध्य या सम्पर्क के लिए तो वस्तु की ओर से किसी प्रकार की स्वीकृति या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। पर किसी चेतन प्राणी से प्रेम करके कोई उसके सान्निध्य या सम्पर्क की आशा तब तक नहीं कर सकता जब तक कि वह उसमें भी सान्निध्य या सम्पर्क की इच्छा न उत्पन्न कर ले। दूसरी बात यह है कि प्रेम का पूर्ण विकास तभी होता है जब दो हृदय एक दूसरे की ओर क्रमशः खिंचते हुए मिल जाते हैं। इस अंतर्व्योम के बिना प्रेम की सफलता नहीं मानी जा सकती। अतः प्रिय को अपने प्रेम की सूचना देना उसके मन को अपने मन से मिलाने के लिए न्योता देना है।

अपने प्रेम की सूचना देने के उपरांत प्रेमी प्रिय के हृदय में अपनी ओर कुछ भावों की प्रतिष्ठा चाहता है। पहले कहा जा चुका है कि सहसा उत्पन्न लोभ या प्रीति का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है "अच्छ लगना"। वस्तु के संबंध में तो उसी वस्तु का अच्छ लगना काफी होता है। लोभियों को इस फेर में नहीं पड़ना पड़ता कि जो वस्तु उन्हें अच्छी लग रही है उसे वे भी अच्छे लगें पर प्रेमी यह चाहने लगता है कि जिस प्रकार प्रिय मुझे अच्छ लगता है उसी प्रकार मैं भी प्रिय को अच्छ लगूँ। वह अणा सारा

लोभ और प्रीति

अच्छापन किसी न किसी बहाने उसके सामने रखना चाहता है। यह बराबर देखने में आता है कि जब कभी किसी नवयुवक का चित्त किसी युवती की ओर आकर्षित होता है तब ऐसे स्थानों पर जाते समय जहाँ उसके दिखाई पड़ने की संभावना होती है, उसका ध्यान कपड़े-लत्ते की सफाई और सजावट की ओर कुछ अधिक हो जाता है। सामने होने पर बात-चीत और चेष्टा में भी एक खास ढब देखा जाता है। अवसर पड़ने पर चित्त की कोमलता, सुशीलता, वीरता, निपुणता इत्यादि का भी प्रदर्शन होता है। प्रेमी को जिस घड़ी यह पता चलता है कि प्रिय का चित्त भी उसकी ओर थोड़ा बहुत खिंचा है उसी घड़ी से वह लोभ की ऊपरी सतह से और गहरे में जाकर प्रेम को आनन्द-लोक में मग्न हो जाता है।

एक दूसरे की ओर आकर्षित दो हृदयों के योग से जीवन में एक नया रस उत्पन्न हो जाता है या दूनी सजीवता आ जाती है। आनंद की संभावना भी बहुत अधिक बढ़ जाती है और दुःख की भी। प्रिय के हृदय का आनंद प्रेमी के हृदय का आनंद हो जाता है। अतः एक ओर तो प्रिय के आनंद का मेल हो जाने से प्रेमी संसार की नाना वस्तुओं में कई गुने अधिक आनंद का अनुभव करने लगता है, दूसरी ओर प्रिय के अभाव में उन्हीं वस्तुओं में उसके लिए आनंद बहुत कम या कुछ भी नहीं रह जाता है। वियोग की दशा में तो वे वस्तुएँ उलटा दुःख देने लगती हैं। होते-होते यहाँ तक होता है कि प्रेमी के लिए प्रिय के आनंद से अलग आनंद रह ही नहीं जाता। प्रिय के आनंद में ही वह अपना आनंद ढूँढा करता है। दो हृदयों की यह अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभव-पथ का द्वार है। प्रेम का यह एक रहस्यपूर्ण महत्व है।

प्रेम का प्रभाव एकांत भी होता है और लोक-जीवन के नाना क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ता है। एकांत प्रभाव उस अंतर्मुख प्रेम में देखा जाता है जो प्रेमी को लोक के कर्मक्षेत्र से खींचकर केवल दो प्राणियों के एक छोटे से संसार में बंद कर देता है। उसका उठना-बैठना, चलना-फिरना, मरना-जीना, सब उसी घेरे के भीतर होता है। वह उस घेरे के बाहर कोई प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से कुछ भी नहीं करता। उसमें जो साहस, धीरता, दृढ़ता, कष्टसहिष्णुता आदि दिखाई देती है वह प्रेम-मार्ग के बीच प्रेमोन्माद के रूप में, लोक के बीच कर्तव्य के रूप में नहीं। सारांश यह कि इस प्रकार के प्रेम का क्षेत्र सामाजिक और पारिवारिक-जीवन से विच्छिन्न होता है। उसमें प्रियपक्ष का प्रबल राग जीवन के अन्य सब पक्षों से पूर्ण विराग की प्रतिष्ठा कर देता है। फारसी के साहित्य में ऐसे ही ऐकान्तिक और लोक-बाह्य प्रेम की प्रधानता है। भारतीय साहित्य में गोपियों के प्रेम को प्रायः यही स्वरूप दिया गया है। भक्तिमार्ग में प्रायः यही ऐकान्तिक और अनन्य प्रेम लिया गया है। क्योंकि यह एक ऐसा राग है जिसके प्रभाव से विराग की साधना आप से आप, बिना किसी मानसिक प्रयत्न के, हो जाती है।

हिंदी गद्य विविधा

प्रेम का दूसरा स्वरूप वह है जो अपना मधुर और अनुरंजनकारी प्रकाश जीवन-यात्रा को नाना पथों पर फेंकता है। प्रेमी जगत् के बीच अपने अस्तित्व की रमणीयता का अनुभव आप भी करता है और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है। प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसे अपने आसपास चारों ओर सौंदर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म-सौंदर्य प्रदर्शित करता है। वह प्रिय को अपने समग्र जीवन का सौंदर्य जगत् के बीच दिखाना चाहता है। यह प्रवृत्ति इस बात का पूरा संकेत करती है कि मनुष्य की अंतःप्रकृति में जाकर प्रेम का जो विकास हुआ है वह सृष्टि के बीच सौंदर्य-विधान की प्रेरणा करने वाली एक दिव्य शक्ति के रूप में। मनुष्य का प्रेम-सौंदर्य - वस्तु सौंदर्य, कर्म-सौंदर्य, वाक्-सौंदर्य, भाव-सौंदर्य सब - देखना और दिखाना चाहता है। वीरता के पुराने जमाने में युवक योद्धा यह समझकर कि गद्दी की ऊँची अट्टालिका के गवाक्षों से हमारी प्रेयसी झाँकती होगी, किस सौंदर्य भावनापूर्ण उमंग के साथ रणक्षेत्र में उतरता था। कर्म का सबसे अधिक विकट क्षेत्र युद्ध है। इससे आर्य्य जाति के वीरकाल के काव्यों में श्रृंगार और वीर का अत्यंत मनोहर समन्वय पाया जाता है। जिस प्रकार यूरोपीय साहित्य में वीरधर्म का एक युग रहा है उसी प्रकार हमारे हिंदी-साहित्य में भी। उस काल की कविता का प्रसंग अधिकतर 'युद्ध और प्रेम' (Love and war) ही पाया जाता है।

भारतीय प्रबंध-काव्यों की मूल प्रवृत्ति लोक-जीवन से संश्लिष्ट प्रेम के वर्णन की ओर ही रही। आदि कवि वाल्मीकि ने राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलों और बगीचों में न दिखाकर दंडकारण्य के विस्तृत कर्मक्षेत्र के बीच दिखाया है। उनका प्रेम जीवन यात्रा के मार्ग में माधुर्य्य फैलाने वाला है, उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भराने वाला नहीं, उसके प्रभाव से वनचर्या में एक अद्भुत रमणीयता आ गई है। सारे कंटीले पथ प्रसूनमय हो गए हैं, सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है। कोमलांगी सीता अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओं और कन्धों के ऊपर निकली हुई धनुष की वक्रकोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन काननों में निःशंक विचर रही है। खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती आ रही है। राम कुछ मुसकराकर एक बार प्रेम-भरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं, फिर वीरदर्प से राक्षसों की ओर दृष्टि फेरकर अपना धनुष चढ़ाते हैं। उस वीरदर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य्य रहा होगा! सीता-हरण होने पर राम का वियोग जो सामने आता है। वह भी चार-पाई पर करवटें बदलने वाला नहीं है, समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतरवाने वाला है।

उस ऐकान्तिक प्रेम की अपेक्षा जो प्रेमी को एक घेरे में उसी प्रकार बन्द कर देता है जिस प्रकार कोई मर्ज मरीज़ को एक कोठरी में डाल देता है, हम उस प्रेम का

लोभ और प्रीति

अधिक मान करते हैं जो एक संजीवन रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन-पथ को रमणीय और सुंदर कर देता है, उसके सारे कर्मक्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है। जो प्रेम जीवन की नीरसता हटाकर उसमें सरसता ला दे, वह प्रेम धन्य है। जिस प्रेम का रंजनकारी प्रभाव विद्वान की बुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता, वीर के उत्साह तक बराबर फैला दिखाई दे उसे हम भगवान् का अनुग्रह समझते हैं। भगवद्भक्ति के लिए हम तो प्रेम की यही पद्धति समीचीन मानते हैं। जब कि प्रिय के संबंध से न जाने कितनी वस्तुएँ प्रिय हो जाती हैं तब उस परम प्रिय के संबंध से सारा जगत् प्रिय हो सकता है। शुद्धि भक्तिमार्ग में जगत् से विरक्त का स्थान हम ढूँढ़ते हैं और नहीं पाते हैं। भक्ति-राग की वह दिव्य भूमि है जिसके भीतर सारा चराचर जगत् आ जाता है। जो भक्त इस जगत् को ब्रह्म की ही व्यक्त सत्ता या विभूति समझेगा, भगवान् के लोकपालक और लोकरंजन स्वरूप पर मुग्ध रहेगा, वह अपने स्नेह, अपनी दया, अपनी सहानुभूति को लोक में और फैलायेगा कि चारों ओर से खींच लेगा? हम तो जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण देखते हैं क्योंकि राम की ओर ले जाने वाला रास्ता इसी संसार से होता हुआ गया है।

जब कोई रामभक्त पुत्र-कलत्र, भाई-बंधु का राग छोड़ने, कर्मपथ से मुँह मोड़ने और जगत् से नाता तोड़ने का उपदेश देता है तब मेरी समझ जवाब देने लगती है। मेरे देखने में तो वही रामभक्त-सा लगता है जो अपने पुत्र-कलत्र, भाई-बहिन, माता-पिता से स्नेह का व्यवहार करता है, रास्ते में चीटियाँ बचाता चलता है, किसी प्राणी का दुःख देख आँसू बहाता हुआ रुक जाता है, किसी दीन पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से तिलमिलाता हुआ अत्याचारी का हाथ थामने के लिए कूद पड़ता है, बालकों की क्रीड़ा देख विनोद से पूर्ण हो जाता है, लहलहाती हुई हरियाली देख लहलहा उठता और खिले हुए फूलों को देख खिल जाता है। जो यह सब देख 'मुझ से क्या प्रयोजन?' कहकर विरक्त या उदासीन रहेगा - क्रोध, करुणा, स्नेह, आनंद आदि को पास तक न फटकने देगा - उसे मैं ज्ञानी, ध्यानी, संयमी चाहे जो कहूँ, भक्त कदापि न कह सकूँगा। राम का नाता सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नहीं। लोकमंगल की प्रेरणा का प्रयत्न करता है। इस संबंध निर्वाह में जो बाधक हों, भक्त के लिए वे अवश्य त्याज्य हैं, चाहे वे अपने सुहृद् और स्नेही परिजन ही क्यों न हों, क्योंकि :

नाते सबै राम के मनियत सुहृद् सुसेव्य जहाँ लौं।

एकान्तिक और लोकबद्ध, प्रेम के इन दो स्वरूपों का परिचय हो चुका। अब हम प्रेमी और प्रिय, इन दो पक्षों की पारस्परिक स्थिति पर कुछ विचार करना चाहते हैं। प्रेम कहीं तो दोनों पक्षों में युगपद् होता है अर्थात् आरंभ ही से सम रहता है, कहीं पहले एक में उत्पन्न होकर फिर दूसरे में होता है और कहीं एक ही में उत्पन्न होकर रह जाता है,

हिंदी गद्य विविधा

दूसरे में होता ही नहीं अर्थात् विषम ही रह जाता है। पहले कहा जा चुका है कि किसी के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही प्रेमी से अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर होता है। यह आतुरता तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के लिए होती है जिसके बिना प्रेम सफल नहीं जान पड़ता। तुल्यानुराग के प्रयत्न की भी एक बँधी हुई पद्धति दिखाई पड़ती है।

दूसरों की ओर द्रवित करने वाली हृदय की दो कोमल वृत्तियाँ हैं - करुणा और प्रेम। इनमें से प्रेम का पात्र होने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की विशिष्टता अपेक्षित होती है। इससे दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न कर सकने का निश्चय किसी को जल्दी नहीं हो सकता। पर दया का पात्र होने के लिए केवल दुःख या पीड़ा का प्रदर्शन ही पर्याप्त होता है। दया का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। दया मनुष्यमात्र का धर्म है और प्राणि-मात्र उसके अधिकारी हैं। दया यह नहीं देखने जाती कि दुखी या पीड़ित कौन और कैसा है। इसी से प्रेमी कभी तो यह चेष्टा करता दिखाई पड़ता है कि वह भी प्रिय को अच्छा लगे और कभी ऐसे उपायों का अवलम्बन करता है जिनसे प्रिय के हृदय में उसके ऊपर दया उत्पन्न हो। दया उत्पन्न करके वह प्रिय के अंतस में प्रेम भी भूमिका बाँधना चाहता है। वह समझता है कि दया उत्पन्न होगी तो धीरे-धीरे प्रेम भी उत्पन्न हो ही जायगा। वह वियोग की अपनी दारुण वेदना प्रिय के कानों तक बराबर पहुँचाता रहता है।

यह न समझना चाहिए कि प्रिय के हृदय में दया उत्पन्न करने की यह चाह तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के पूर्व तक ही रहती है। यह प्रेम मार्ग की एक सामान्य प्रवृत्ति है जो प्रेमी के हृदय में सदा बनी रहती है। बात यह है कि जिस प्रकार दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न करने की ज़रूरत होती है उसी प्रकार बराबर बनाये रखने की भी। प्रेम की रखवाली करने के लिए प्रेमी प्रिय के हृदय में दया को बराबर जगाता रहता है। दया या करुणा का भाव जाग्रत रखने की इस प्रवृत्ति का प्रकर्ष फारसी या उर्दू की शायरी में विशेष रूप से पाया जाता है। वहाँ प्रेमी जीते-जी यार के कूचे में अपनी कब्र बनवाते हैं, उस कूचे के कुत्तों के नाम अपनी हड्डियाँ वक्फ़ करते हैं। और बार-बार मरकर अपना हाल सुनाया करते हैं। मरण से बढ़कर करुणा का विषय और क्या हो सकता है? शत्रु तक का मरना सुनकर सहानुभूति के एक-आध शब्द मुँह से निकल आते हैं। प्रिय के मुख से निकले हुए सहानुभूति शब्द-सा प्रिय संसार में और कोई शब्द नहीं हो सकता। 'बेचारा बहुत अच्छा था', प्रिय के मुँह से इस प्रकार के कुछ शब्दों की संभावना पर ही आशिक लोग अपने मर जाने की कल्पना बड़े आनंद से किया करते हैं। जब कि सहानुभूति के एक शब्द का इतना मोल है तब अश्रु का तो कोई मोल ही नहीं हो सकता, प्राण के बदले में भी वह सस्ता ही जँचेगा। यदि प्रेमी को यह निश्चय हो जाय कि मर जाने पर प्रिय की आँखों में आई हुई आँसू की एक बूँद वह देख सकेगा तो वह अपना शरीर छोड़ने के लिए तैयार हो सकता है।

यह कहा जा चुका है कि तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा हो जाने पर ही प्रेम को पूर्ण तुष्टि और सफलता प्राप्त होती है। हमारे साहित्य के पुराने आचार्यों ने एक पक्ष की प्रीति को रसाभास के अंतर्गत लिया है। जब तक तुल्यानुराग की संभावना रहती है या प्रिय-पक्ष की विरक्ति और उदासीनता का प्रमाण सामने नहीं रहता तब तक रस में त्रुटि नहीं मानी जाती। प्रेमी का तिरस्कार करता हुआ प्रिय जब अन्य में अनुरक्त पाया जाता है तब उसकी विरक्ति का पक्का प्रमाण सामने आ जाता है। ऐसी दशा में भी बने रहने वाले प्रेम की चर्चा काव्यों में मिलती है। फारसी और उर्दू की शायरी में तो आशिकों की अकसर यह शिकायत रहती है कि 'माशूक गैरों से मिला करता है और हमारी ओर ताकत तक नहीं'। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की शिकायत भी कुछ-कुछ इसी ढंग की हो गई थी।

रस और रसाभास की बात छोड़ हमें प्रेम के उस स्वरूप पर विचार करना है जिसमें प्रेमी तो प्रेम में विह्वल रहता है और प्रिय उसकी ओर कुछ ध्यान ही नहीं देता या बराबर उसका तिरस्कार ही करता जाता है। क्या ऐसा प्रेम कोई प्रेम ही नहीं है? यह नहीं कहा जा सकता। प्रेमी तो प्रेम कर चुका, उसका कोई प्रभाव प्रिय पर पड़े या न पड़े। उसके प्रेम में कोई कसर नहीं। प्रिय यदि उससे प्रेम करके उसकी आत्मा को तुष्ट नहीं करता तो उसमें उसका क्या दोष? तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता में कोई त्रुटि नहीं आ सकती। जहाँ तक ऐसे प्रेम के साथ तुष्टि की कामना या अतृप्ति का क्षोभ लगा दिखाई पड़ता है वहाँ तक तो उसका उत्कर्ष प्रकट नहीं होता। पर जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले ही से नहीं रहती, वहाँ प्रेम का अत्यंत निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा अत्यंत उच्च भूमि पर होती है जहाँ सामान्य हृदयों की पहुँच नहीं हो सकती। इस उच्च भूमि पर पहुँचा हुआ प्रेमी प्रिय से कुछ भी नहीं चाहता है, केवल यही चाहता है - प्रिय से नहीं, ईश्वर से - कि हमारा प्रिय बना रहे और हमें ऐसा ही प्रिय रहे। इसी उच्च दशा का अनुभव करती हुई सूर की गोपियाँ कहती हैं :

जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु 'न्हात खसै जनि बार॥'

ऐसे प्रेमी के लिए प्रिय की तुष्टि या सुख से अलग अपनी कोई तुष्टि या सुख रह ही नहीं जाता। प्रिय का सुख-संतोष ही उसका सुख-संतोष हो जाता है। बकिम बाबू की 'दुर्गेशनन्दिनी' आयशा का जगतसिंह पर अनुराग इसी उच्च भूमि पर लाकर छोड़ा गया है। जिस दिन से उसे जगतसिंह और तिलोत्तमा के प्रेम का पता चलता है उसी दिन से वह अपने प्रेम को भौतिक कामनाओं से मुक्त करने लगती है और अंत में तिलोत्तमा

हिंदी गद्य विविधा

के साथ जगतसिंह का विवाह कराकर पूर्ण शांति के साथ प्रेम के विशुद्ध मानस लोक में प्रवेश करती है।

प्रेमी यदि अपने प्रेम का कोई प्रभाव प्रिय पर न देखे तो उसके सामने प्रेम की यही उच्च भूमि दिखाई पड़ती है। सान्निध्य या सम्पर्क की कामना के त्याग द्वारा ही वह प्रेमरक्षा और शांति-लाभ कर सकता है। यदि उसमें यह क्षमता न होगी तो प्रतिवर्तन (Reaction) द्वारा घोर मानसिक विप्लव और पतन की आशंका रहेगी, ईर्ष्या आदि बुरे भावों के संचार के लिए रास्ता खुल जाएगा। यहाँ तक कि समय-समय पर क्रोध का दौरा होगा और प्रेम का स्थान वैर ले लेगा।

प्रेम-काव्यों में प्रायः रूप-लोभ ही प्रेम का प्रवर्तक दिखाया जाता है। किसी के उत्कृष्ट रूप-गुण पर कोई मुग्ध होता है और उसका प्रेमी बन जाता है। पर प्रेम का एक और कारण, जो रूप-गुण से सर्वथा स्वतंत्र और उनकी अपेक्षा अधिक निश्चित प्रभाव वाला होता है, साहचर्य है। देश-प्रेम के अंतर्गत इसका उल्लेख हो चुका है। किसी अरब को उसकी रेगिस्तानी जन्म-भूमि से ले जाकर काश्मीर के हरे-भरे मैदान में रख दें तो भी वह अपने देश के वियोग में रोया करेगा। इसी प्रकार जिन मनुष्यों के बीच कोई बचपन से या बहुत दिनों से रहता चला आता है, उनके प्रति उसके हृदय में एक स्थायी प्रेम होता है। इस साहचर्यगत प्रेम में विशेषता यह होती है कि इसका वेग साहचर्य काल में तो कुछ अवसरों पर ही रह-रहकर व्यक्त होता है, पर विच्छेद-काल में बराबर उमड़ा रहता है। भाई-बहिन, पिता-पुत्र, इष्ट-मित्र से लेकर चिर-परिचित पशु-पक्षी और वृक्ष तक का प्रेम इसी ढब का होता है। रूप-गुण की भावना से उत्पन्न प्रेम भी आगे चलकर कुछ दिनों में यह साहचर्य-जन्य स्वरूप प्राप्त करता है। अतः प्रेम के इस स्वरूप का महत्व बराबर ध्यान में रहना चाहिए।

लोभ या प्रेम की सबसे बड़ी विलक्षणता का उल्लेख करके अब हम यह निबंध समाप्त करते हैं। यही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यंजना हँसकर भी की जाती है और रोकर भी, जिसके व्यंजक दीर्घ निःश्वास और अश्रु भी होते हैं तथा हर्षपुलक और उछल-कूद भी। इसके विस्तृत शासन के भीतर आनंदात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार आ जाते हैं। साहित्य के आचार्यों ने इसी से श्रृंगार के दो पक्ष कर दिये हैं - संयोगपक्ष और वियोगपक्ष। कोई और भाव ऐसा नहीं है जो आलम्बन के रहने पर तो एक प्रकार की मनोवृत्तियाँ और चेष्टाएँ उत्पन्न करे और न रहने पर बिल्कुल दूसरे प्रकार की। कुछ और भाव भी लोभ या प्रेम का-सा स्थायित्व प्राप्त करते हैं - जैसे क्रोध बहुत दिनों तक टिका रह जाने पर द्वेष या वैर का रूप धारण करता है और जुगुप्सा घृणा या विरक्ति का - पर यह विशेषता और किसी में नहीं पाई जाती। मनुष्य की अंतर्वृत्तियों पर

लोभ और प्रीति

लोभ या प्रेम के शासन का यही दीर्घ विस्तार देखकर लोगों ने शृंगार को 'रसराज' कहा है।

13. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और 'कुटज'

जीवन परिचय

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एक साथ गंभीर्य से युक्त विद्वान और मस्तमौला रचनाकार थे। जीवन को उन्होंने बंधन की तरह स्वीकार नहीं किया, अपितु खुले भाव से जीया। जीवन की कठिनाइयों के बीच कभी हार नहीं मानी। जीवन भर निडर रहे। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में 'इस फक्कड़ मनीषा को न गुरु का डर है, न वेद का, न शास्त्र का और न ही लोक का ही। किन्तु लोक से न डरने का अर्थ लोक की उपेक्षा तो नहीं है। आचार्य द्विवेदी के फक्कड़पन की यही विशेषता है।' आचार्य द्विवेदी में ऐसी सहजता है जो अपने संबंधों को मनुष्यों से ही नहीं पशु-पक्षियों, वृक्षों, लताओं, खेतों, मैदानों से बिना किसी अलगाव के साथ जोड़ लेती है। अपनी शोधपरक और विवेकशील दृष्टि से वे वस्तुओं के साथ संबंधों को नए रूप में प्रस्तुत कर देते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म 1907 ई. में बलिया जिला के ओझबलिया नामक ग्राम में हुआ था। इनके प्रपितामह आरत दुबे बिहार प्रान्त के छपरा जिले से यहाँ आकर बसे थे। उनके पिता का नाम श्री अनमोल दुबे और माता का नाम श्रीमती ज्योतिष्मती देवी था। द्विवेदी जी के प्रपितामह आरत दुबे प्रसिद्ध ज्योतिष थे। द्विवेदीजी का परिवार सनातनी था। द्विवेदीजी का छात्र जीवन विषम आर्थिक परिस्थितियों के बीच बीता।

द्विवेदीजी की प्रारंभिक शिक्षा गाँव के स्कूलों में ही हुई। मिडिल स्कूल पास करने के बाद वे काशी आ गए। आर्थिक अभाव के कारण उन्होंने इण्टर की प्राइवेट परीक्षा के फार्म की फीस के लिए सात दिन कथा बाँच कर जो धन प्राप्त हुआ उससे भरी। उनके पिता उन्हें ज्योतिष और वकील बनाने के इच्छुक थे। संस्कृत पाठशाला काशी से उन्होंने प्रवेशिका की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। 1927 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय से साहित्याचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् 1930 में उन्होंने ज्योतिष की भी डिग्री हासिल की।

1927 में उनका विवाह हो गया था। घर गृहस्थी चलाने के लिए व्यवसाय जरूरी हो गया था। उन्होंने अध्यापन को अपनाया। इस काम को वे पसंद करते थे। 1930 में वे शान्ति निकेतन में शिक्षक नियुक्त हुए और 1950 तक वहीं शिक्षक रहे। बाद में बनारस हिंदू

विश्वविद्यालय, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ आदि में भी अध्यापन कार्य किया। 1955 में आचार्य द्विवेदी को राजभाषा आयोग का सदस्य बनाया गया। 1950-53 तक वे काशी नागरी प्रचारणी सभा के भी अध्यक्ष रहे। 1962 में बंग साहित्य अकादमी द्वारा उन्हें टैगोर पुरस्कार से सम्मानित किया गया। केन्द्रीय साहित्य अकादमी द्वारा भी उन्हें पुरस्कृत किया गया। सन् 1979 में लंबी बीमारी के बाद उनका निधन हुआ।

आचार्य का व्यक्तित्व उन्मुक्त था। उनमें आकाश का खुलापन था। उन्होंने शिष्यों की एक ऐसी परंपरा दी जिन्होंने बाद में हिन्दी साहित्य और आलोचना का विकास किया। इनमें नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, शिवप्रसाद सिंह आदि प्रमुख हैं। वे उदार मानवीयता में विश्वास करने वाले रचनाकार और आलोचक थे। दबे - कुचले लोगों और स्त्रियों के प्रति उनमें सहानुभूति थी। जीवन की भीषण परिस्थिति को झेलने की क्षमता उनमें थी। उनकी जड़ें लोक में काफी गहरी थीं और वहीं से रस खींचकर अपनी रचनात्मकता को पुष्ट करते रहे।

साहित्यिक योगदान

आलोचना कर्म और रचना कर्म को एक साथ निभाने की कला हिंदी में कुछ गिने चुने व्यक्तियों में ही दिखाई पड़ती है। द्विवेदी जी उनमें से एक थे। उन्होंने अपने आलोचना कर्म से हिंदी साहित्य को समझने की मानवतावादी दृष्टि प्रदान की, तो दूसरी ओर अपने उपन्यासों और ललित निबंधों के द्वारा उन्होंने रचनात्मक संवेदना को भी जाग्रत किया। सही अर्थों में उनमें विरुद्धों का सामंजस्य है। देखा तो यह गया है कि आलोचना के भार से रचनात्मक प्रतिभा दब जाती है। लेकिन द्विवेदी जी में आलोचना की धार रचना को अधिक पैना करती है। आलोचना और रचना उनके यहाँ एक - दूसरे के पर्याय हैं। वे एक दूसरे को उत्तेजित और पुष्ट करते हैं।

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (1940), 'हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास' (1952), 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' उनके साहित्य के इतिहास संबंधी ग्रंथ हैं। द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य के इतिहास को लोक चिंता के संदर्भ में देखने का प्रस्ताव किया और भारतीय चिंतनधारा के स्वाभाविक विकास पर बल दिया। उनका इतिहास बोध मिथक और लोक विश्वास के आत्मीय संसार से जुड़कर जीवंत हो उठा है।

उनके निबंध ललित निबंध हैं। निबंध का विशाल भंडार उन्होंने हिंदी साहित्य को दिया। उनके प्रमुख निबंध संग्रह हैं: 'विचार और वितर्क' (1945), 'अशोक के फूल' (1978), 'कुटज' (1960), 'आलोक पर्व' (1972) आदि। उनके निबंध में जहाँ विचारों की उन्मुक्तता और स्वच्छंदता है और उनके अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन है, वहीं वे सांस्कृतिक इतिहास की भी रचना करते हैं। निबंधों के रचना प्रवाह में बहुत से विषय

हिंदी गद्य विविधा

अनायास ही आ जाते हैं। इतिहास, दर्शन, नृविज्ञान, विज्ञान आदि न जाने कितने विषयों को स्पर्श करते हुए उनके निबंध विचार और संवेदना का लालित्य प्रस्तुत करते हैं।

द्विवेदीजी के आलोचनात्मक साहित्य को निम्नलिखित क्रम में रखा जा सकता है। 'सूर साहित्य' नाम से आलोचना पुस्तक 1934 ई. में प्रकाशित हुई। 'कबीर' का प्रकाशन काल 1942 ई. है। 'साहित्य सहचर' 1949 में पुस्तक के रूप में सामने आई। 'कालीदास की लालित्य योजना' को 1960 में रचा गया। द्विवेदी जी के आलोचना लेखन की महत्वपूर्ण विशेषता उनकी दृष्टि की समग्रता है। साहित्य को वे मानवतावादी दृष्टि से देखते परखते हैं। उनकी सौन्दर्य दृष्टि का भवन विविध ललित कलाओं से परिपक्व होता है। साहित्य विश्लेषण में उनका संदर्भ भी यही है। सर्जनात्मक दृष्टि की संपूर्णता ही उनकी आलोचनात्मक दृष्टि की पूर्णता का आधार है।

नाथों और सिद्धों के साहित्य का भी उन्होंने गहन विवेचन किया था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य के उनके विस्तृत अध्ययन ने हिंदी साहित्य की परंपरा को समझने का ठोस आधार दिया। इसीलिए हिंदी साहित्य के मूल उत्स को वे शोधपरक नजर से देख पाते हैं। हिंदी साहित्य के आरंभ में नाथपंथी, योगी, जैन मुनियों के साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान है। मध्यकाल पर उनकी प्रमुख पुस्तकें निम्नलिखित हैं : 'मध्यकालीन धर्म साधना' (1952), 'सहज साधना' (1954), और 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' (1960)।

रवींद्रनाथ ठाकुर की जीवन दृष्टि और साहित्य का आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पर गहरा प्रभाव था। उन्होंने साहित्य में प्राचीन ग्रंथों का संपादन भी किया। नामवर सिंह के साथ उन्होंने 'संक्षिप्त पृथ्वी- राजा रासो' का संपादन, 'नाथ सिद्धों की वाणियाँ' और विश्वनाथ त्रिपाठी के साथ 'संदेश रासक' का संपादन किया।

रचनात्मक साहित्य में उन्होंने निबंध के अतिरिक्त उपन्यासों की रचना की। उनके उपन्यास ऐतिहासिक और पौराणिक कथानकों पर आधारित हैं। उनका बल तत्कालीन समाजों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की पुनर्रचना करना रहा है। भारत आरंभ से ही विभिन्न संस्कृतियों की संगम स्थली रहा है। इनके सम्मिलन से जो मानव संस्कृति विकसित हुई है, उसे उन्होंने अपने उपन्यासों के द्वारा जीवंत रूप दिया है। उनके उपन्यास हैं : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1947), 'चारु चंद्रलेख' (1963), 'पुनर्नवा' (1973) और 'अनामदास का पोथा' (1976)। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का अध्ययन आपने पाठ्यक्रम तीन में किया होगा।

रचना के बारे में

'कुटज' का रचनाकाल 1960 ई. है। निबंध लेखन द्विवेदीजी के सृजन की बुनियादी विधा है। उन्होंने निबंध की परंपरा को रचनात्मक स्वरूप प्रदान किया। 'कुटज' में उन्होंने एक पहाड़ी पौधे के माध्यम से जीवन के बारे में अत्यंत सार्थक बातें सहज रूप से कही हैं।

'कुटज' द्विवेदीजी का व्यक्तिपरक निबंध है। इस निबंध में एक पौधे के बहाने द्विवेदीजी ने कई कालों की सांस्कृतिक यात्रा की है। कुटज का मूल संदेश है, अपराजित रहो। 'कुटज' जिस काल की रचना है। उस काल में द्विवेदी जी को काशी विश्वविद्यालय की राजनीति का शिकार होना पड़ा था। उन्हें चंडीगढ़ जाना पड़ा था। वे इस पौधे के बहाने उन समझौतावादी और स्वार्थप्रेरित राजनीति करने वाले लोगों पर व्यंग्य करने से नहीं चूकते। 'कुटज' व्यक्तित्व की अबाध स्वतंत्रता का कायल है। उसमें मस्ती और आत्मविश्वास है जो जीवन के सहज प्रवाह में उसे मिला है।

द्विवेदीजी के रचनात्मक व्यक्तित्व का प्रकाशन उनके निबंधों में हुआ है। वे निबंध में विषय को उठाते हैं और सैकड़ों विषय मूर्तिमान हो उठते हैं। उनका यह निबंध मनुष्य के अनुभव को छूता है, उसको सांस्कृतिक परंपरा से परिचित कराता है। कुटज का महत्व आज के समाज में विशिष्ट है। मनुष्य को व्यवस्था ने इस तरह से लपेट लिया है कि आत्मविश्वास के साथ जीना मुश्किल होता जा रहा है। 'कुटज' हमें बताता है कि जड़ समाज में जड़ हो गई मान्यताओं के बीच कुल, गोत्र और नाम के महत्व को स्वीकारा जाता है। दुनिया के मतलबीपन को कुटज तुकराता है। आज के समाज को इससे सीख लेनी चाहिए। भारत की संस्कृति मिलीजुली संस्कृति है। यहाँ जाति और धर्म के आधार पर जो राजनीति होती है उसमें कितना खोखलापन है। यह इस निबंध को पढ़ने से साफ हो जाता है। 'कुटज' की प्राण शक्ति है उसकी जिजीविषा जो चट्टानों को फाड़कार रस निचोड़ लेता है। आधुनिक मनुष्य में परिस्थिति से लड़ने वाली इसी क्षमता का ह्रास हुआ है। जीने का मतलब स्वार्थ नहीं लोक कल्याण होना चाहिए। जीवन से हार नहीं मानना यही कुटज की शक्ति है।

'कुटज' हिमालय की तराई में मिलने वाला पौधा है। उसका अध्ययन द्विवेदी जी साहित्य, संस्कृति, नृतत्व और इतिहास के संदर्भ में करते हैं। फिर उसे मानवीय जिजीविषा का प्रतीक बनाकर पेश करते हैं। कुटज को मानवी रूप देते हुए वे उसके साथ आत्मीय संबंध स्थापित करते हैं। कुटज उनके सोच और उनकी भावना से अलग नहीं रह जाता है, अपितु उनका प्रतिरूप ही दिखाई पड़ने लगता है। कुटज को माध्यम बनाकर वे साहित्य और संस्कृति की जीवंत परंपरा में पाठकों को ले जाते हैं। समकालीन जीवन में व्याप्त विसंगतियों के बीच 'कुटज' के माध्यम से मानवीय दृढ़ता के महत्व को भी प्रतिपादित करते हैं। भारतीय संस्कृति की विविधता और विशुद्धतावादी दृष्टिकोण के अंतर्विरोध को

हिंदी गद्य विविधा

उजागर करते हैं। सुख-दुख, राग-द्वेष से भिन्न अविचल भाव से जीवन को जीना यही कुटज का संदेश है। अपराजित मानवीय मनोवृत्ति के शाश्वत और कठोर सत्य को बड़े सहज रूप में स्वीकारा गया है।

'कुटज' ललित निबंध का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस निबंध में विचार और भाव को व्यक्त करने पर ही नहीं उसकी प्रस्तुति के सौंदर्य पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। द्विवेदीजी की निबंध शैली में गद्य भाषा का कलात्मक उत्कर्ष देखने को मिलता है। पांडित्यपूर्ण बातों के बावजूद उनकी बातें न तो जटिल होती हैं और न ही बोझिल। भाषा और शैली का सौंदर्य निबंध को उत्कृष्ट बनाता है।

शब्दावली

शोभा निकेतन : शोभा का घर

महोदधि : समुद्र

रत्नाकर : रत्न का भंडार - समुद्र

पाद-देश : देश के निचले हिस्से

लटियायी : बड़े-बड़े बाल, बालों का गुच्छ

अन्तर्निरुद्ध : भीतर से रुका हुआ, आंतरिक रूप से कठोर

रक्ताभ रेती : लाल बालू के कण

गहवर : गहराई

कचारा : निचोड़ (फीचा हुआ और निचोड़ा हुआ अर्थात् जिस पर कई बार विचार-विमर्श हो चुका है।)

सुस्मिता : सुंदर मुस्कान वाली

वन प्रभा : वन की शोभा

गिरिकांता : पर्वत की पत्नी

शुभ्रकिरीटनी : उज्ज्वल मुकुट धारण करने वाली

मदोद्धता : मद में पागल

अलकावतंसा : घुंघराले बालों के समान

अकुतोभय : जिसे किसी से भय न हो

विरुद : प्रशंसा सूचक

कूटोल्लास : पर्वत का उल्लास

स्नात : नहाया हुआ या सराबोर

कुसुम स्तबकों : फूलों का गुच्छ

शापेनास्तंगमितमहिमा : शाप में ही जिसकी महिमा निहित हो कलिदास के 'मेघदूत' का संदर्भ छुपा है। विरही यक्ष ने विरहिणी को मेघ के द्वारा अपना संवाद रामगिरि तक पहुँचाया था।

अर्घ्य : पूजनीय या पूजा में देने योग्य वस्तु

उपहत : घायल

बकुल : मौलसिरी

अनत्युच्च : जो बहुत ऊँचा न हो

नीलोत्पल : नीलकमल

गिरि कांतार : पर्वत का दुर्गम पथ

दुरन्त : कठिन या प्रबल

दलित द्राक्षा : कुचला हुआ अंगूर

शान्ति पर्व : महाभारत की लड़ाई के उपरांत का अंश जहाँ पितामह भीष्म का उपदेश संकलित है।

बड़भागी : बड़े भाग्यवाला

चारुस्मित : सुंदर मुस्कान

मनस्वी - बुद्धिमान

सिलवाँ लेवी : प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. कहीं-कहीं अज्ञात-नाम-गोत्र, झाड़-झंखाड़ और बेहया-से पेड़ खड़े अवश्य दिख जाते हैं, पर और कोई हरियाली नहीं। दूब तक सूख गयी है। काली-काली चट्टानें और बीच-बीच में शुष्कता की अंतर्निरुद्ध सत्ता का इजहार करने वाली रक्ताभ रेती! रस कहाँ है? ये जो ठिगने-से लेकिन शानदार दरख्त गर्मी की भयंकर मार खा-खाकर और भूख-प्यास की निरंतर चोट सह-सहकर भी जी रहे हैं, इन्हें क्या कहें? सिर्फ जी ही नहीं रहे हैं, हँस भी रहे हैं। बेहया हैं क्या? या मस्तमौला हैं? कभी-कभी जो लोग ऊपर से बेहया दिखते हैं, उनकी जड़ें काफी गहरी पैठी रहती हैं। ये भी पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतल गह्वर से अपना भोग्य खींच लाते हैं।
2. नाम इसलिए बड़ा नहीं है कि वह नाम है। वह इसलिए बड़ा होता है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिली होती है। रूप व्यक्ति-सत्य है, नाम समाज-सत्य। नाम उस पद को कहते हैं जिस पर समाज की मुहर लगी होती है। आधुनिक शिक्षित लोग जिसे 'सोशल सैक्सन' कहा करते हैं। मेरा मन नाम के लिए व्याकुल है,

हिंदी गद्य विविधा

समाज द्वारा स्वीकृत, इतिहास द्वारा प्रमाणित, समष्टि-मानव की चित्त-गंगा में स्नात!

3. यह जो मेरे सामने कुटज का लहराता पौधा खड़ा है वह नाम और रूप दोनों में अपनी अपराजेय जीवनी-शक्ति की घोषणा कर रहा है। इसीलिए यह इतना आकर्षक है। नाम है कि हजारों वर्ष से जीता चला आ रहा है। कितने नाम आये और गए। दुनिया उनको भूल गयी, वे दुनिया को भूल गए। मगर कुटज है कि संस्कृत की निरंतर स्फीयमान शब्दराशि में जो जमके बैठा सो बैठा ही है। और रूप की तो बात ही क्या है! बलिहारी है इस मादक शोभा की। चारों ओर कुपित यमराज के दारुण निःश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रुद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है।
4. याज्ञवल्क्य ने जो बात धक्कामार ढंग से कह दी थी वह अंतिम नहीं थी। वे 'आत्मनः' का अर्थ कुछ और बड़ा करना चाहते थे। व्यक्ति की 'आत्मा' केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं है, वह व्यापक है। अपने में संब और सबमें आप - इस प्रकार की एक समष्टि-बुद्धि जब तक नहीं आती तब तक पूर्ण सुख का आनंद भी नहीं मिलता। अपने-आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर जब तक 'सर्व' के लिए निष्ठावर नहीं कर दिया जाता तब तक 'स्वार्थ' खण्ड-सत्य है, वह मोह को बढ़ावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है और मनुष्य को दयनीय-कृपण-बना देता है। कार्पण्य दोष से जिसका स्वभाव उपहत हो गया है, उसकी दृष्टि म्लान हो जाती है। वह स्पष्ट नहीं देख पाता। वह स्वार्थ भी नहीं समझ पाता, परमार्थ तो दूर की बात है।
5. कुटज क्या केवल जी रहा है। वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता। आत्मोन्नति हेतु नीलम नहीं धारण करता, अँगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है - काहे वास्ते, किस उद्देश्य से? कोई नहीं जानता। मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है।

व्याख्या का उदाहरण

दुरंत जीवन-शक्ति है। कठिन उपदेश है। जीना भी एक कला है। लेकिन कला ही नहीं, तपस्या है। जियो तो प्राण ढाल दो जिन्दगी में, मन ढाल दो जीवनरस के उपकरणों में। ठीक है। लेकिन क्यों? क्या जीने के लिए जीना ही बड़ी बात है? सारा संसार अपने मतलब के लिए ही तो जी रहा है। याज्ञवल्क्य बहुत बड़े ब्रह्मवादी ऋषि थे। उन्होंने अपनी पत्नी को विचित्र भाव से समझाने की कोशिश की कि सब कुछ स्वार्थ के लिए है। पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, पत्नी के लिए पत्नी प्रिया नहीं होती - सब अपने मतलब के लिए प्रिय होते हैं - 'आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति!' विचित्र नहीं है यह तर्क? संसार में जहाँ कहीं प्रेम है, सब मतलब के लिए।

व्याख्या-संकेत

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी शुक्लोत्तर आलोचना के प्रमुख लेखक हैं। आलोचक और रचनाकार दोनों की संश्लिष्ट अनुभूति से उनका साहित्यिक व्यक्तित्व निर्मित हुआ है। उनकी साहित्यिक अभिरुचि क्लासिकीय है जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर की स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का भी प्रभाव है। उनका मानना है कि ज्ञान सिर्फ शास्त्र में नहीं होता, जो कुछ और जैसा कुछ हम जीते हैं उसका सही ज्ञान भी जरूरी है। उनके निबंधों में मानव संस्कृति के विविध रूपों का उन्मुक्त सौंदर्य उजागर हुआ है। 'कुटज' सहित द्विवेदीजी के निबंधों पर विचार करते हुए इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

'कुटज' निबंध में एक कुटज नाम के पहाड़ी पौधे के बहाने कई युगों की सांस्कृतिक यात्रा लेखक करता है। भारतीय संस्कृति की उन मूलभूत विशेषताओं से वह हमें परिचित कराता है जिसे कि आज भुलाया जा रहा है। मानवीय जिजीविषा और मनुष्य की जययात्रा का सूक्ष्म विवेचन इस निबंध में किया गया है।

कुटज पत्थर को फोड़कर धरती में छिपे रस को ग्रहण कर अपना जीवन सुरक्षित रखता है। उसके लिए जीवन जीना आसान नहीं है। यही स्थिति मनुष्य की है। मनुष्य का जीवन भी आसान नहीं है। उसमें घुमाव, मोड़ और चौराहे हैं। उसकी गति और दुनियादारी के बीच निजी स्वच्छंदता को बचाना आसान नहीं होता है। जीवन कला है कला का प्रयोजन और विज्ञान के प्रयोजन में अंतर है। विज्ञान एक निश्चित विधि और पद्धति द्वारा निष्कर्ष पर पहुँचता है। कला में निष्कर्ष होता ही नहीं है। आज का व्यक्ति जीवन को भी वैज्ञानिक प्रविधि से, कृत्रिमता से जीना चाहता है। स्वार्थों का समीकरण बनाकर जीना चाहता है। ऐसा जीवन चाहे सफल हो परंतु मानव का ध्येय नहीं हो सकता है। खुलेपन और स्वतंत्रता से जीना ही जीना है। उसी में जीवन अपना नाम सार्थक करता है। मस्ती और स्वच्छंदता से रस प्राप्त कर लोक कल्याण के लिए जीना ही मानव का उद्देश्य है।

हिंदी गद्य विविधा

मतलबी संसार अपने स्वार्थ से अलग कुछ नहीं सोचता। स्वार्थी व्यक्ति संकीर्ण दुनिया के बीच रहने और अपने मतलब को साधने में लगा रहता है।

द्विवेदीजी एक दृष्टांत के माध्यम से अपनी बात स्पष्ट करते हैं। याज्ञवल्क्य का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि स्वार्थ से वशीभूत होकर मानव प्रेम करता है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है 'सुर नर मुनि सबके यह रीति। सवारथ लागि करहिं सब परिति।' तात्पर्य यह है कि मनुष्य की प्रवृत्ति अपने स्वार्थ के लिए जीने की होती है। अपने लिए ही वह दूसरों से भी प्रेम करता है। लेकिन द्विवेदीजी इस मत से सहमत नहीं हो पाते। वे प्रश्न करते हैं कि क्या मतलब के लिए ही लोग एक दूसरे से प्रेम करते हैं? यह ज़रूर है कि स्वार्थ इतना अधिक हो गया है कि मनुष्य ने लोक कल्याण की बात सोचना ही छोड़ दिया है। त्याग जिससे मानव दिव्यता पाता है और जो मानवीय स्वार्थ पर एक अंकुश है उसकी चिंता लोगों ने छोड़ दी है। प्रेम के महत्व को भी वह भूल रहा है। ये कुछ ऐसे भाव हैं जो संसार में मनुष्य को मनुष्य बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं। जिसमें कुछ भी खोने की शक्ति नहीं वह अपने आत्म स्वरूप को नहीं पहचान सकता। दुनिया की हर चीज उपभोग और आनंद के लिए है तो समाज की न तो भौतिक उन्नति संभव है और न ही आत्मिक उन्नति। उपभोक्तावादी समाज में दर्शन, साहित्य और संस्कृति की उन्नति भी अवरुद्ध हो जाती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उक्त गद्यांश में मुख्य रूप से इसी बात पर बल दिया है। आप उक्त अंश की व्याख्या करते हुए इनको ध्यान में रखें।

उक्त कथन में द्विवेदीजी ने वर्तमान समाजों की उस नैतिक दुविधा को वाणी दी है, जिसको सुलझाए बिना मानव की प्रगति असंभव है। इसके लिए वे अपनी बात अत्यंत सुलझे हुए रूप में, सहज ढंग से, लेकिन विद्वतापूर्ण और कथन को सौंदर्यपरक बनाते हुए प्रस्तुत करते हैं। यहाँ आप भाषा और शैली की विशेषताओं को भी पहचानने का प्रयत्न करें।

सहायक पुस्तकें

डॉ. शिव प्रसाद सिंह : शांतिनिकेतन से शिवालिक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

डॉ. नामवर सिंह : दूसरी परंपरा की खोज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूल पाठ : निबंध

कुटज

कहते हैं, पर्वत शोभा-निकेतन होते हैं। फिर हिमालय का तो कहना ही क्या! पूर्व ओर अपर समुद्र-महोदधि और रत्नाकार-दोनों को दोनों भुजाओं से थाहता हुआ हिमालय 'पृथ्वी का मानदण्ड' कहा जाए तो गलत क्या है? कालिदास ने ऐसा ही कहा था। इसी के पाद-देश में यह श्रृंखला दूर तक लोटी हुई है, लोग इसे शिवालिक श्रृंखला कहते हैं। 'शिवालिक' का क्या अर्थ है? 'शिवालिक' या शिव के जटाजूट का निचला हिस्सा तो नहीं है। लगता तो ऐसा ही है। शिव की लटियायी जटा ही इतनी सूखी, नीरस और कठोर हो सकती है। वैसे, अलकनंदा का स्रोत यहाँ से काफी दूरी पर है, लेकिन शिव का अलक तो दूर-दूर तक छितराया ही रहता होगा। सम्पूर्ण हिमालय को देखकर ही किसी के मन में समाधिस्थ महादेव की मूर्ति स्पष्ट हुई होगी। उसी समाधिस्थ महादेव के अलक-जाल के निचले हिस्से का प्रतिनिधित्व यह गिरि-श्रृंखला कर रही होगी। कहीं-कहीं अज्ञात-नाम-गोत्र, झाड़-झंखाड़ और बेहया-से पेड़ खड़े अवश्य दिख जाते हैं, पर और कोई हरियाली नहीं। दूब तक सूख गयी है। काली-काली चट्टानें और बीच-बीच में शुष्कता की अंतर्निरुद्ध सत्ता का इजहार करने वाली रक्ताभ रेती! रस कहाँ है? ये जो टिंगने-से लेकिन शानदार दरख्त गर्मी की भयंकर मार खा-खाकर और भूख-प्यास की निरंतर चोट सह-सहकर भी जी रहे हैं, इन्हें क्या कहूँ? सिर्फ जी ही नहीं रहे हैं, हँस भी रहे हैं। बेहया हैं क्या? या मस्तमौला हैं? कभी-कभी जो लोग ऊपर से बेहया दिखते हैं, उनकी जड़ें काफी गहरी पैठी रहती हैं। ये भी पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतल गह्वर से अपना भोग्य खींच लाते हैं।

शिवालिक की सूखी नीरस पहाड़ियों पर मुस्कराते हुए ये वृक्ष द्वन्द्वातीत हैं, अलमस्त हैं। मैं किसी का नाम नहीं जानता, कुल नहीं जानता, शील नहीं जानता, पर लगता है, ये जैसे मुझे अनादि काल से जानते हैं। इन्हीं में एक छोटा-सा बहुत ही टिंगना - पेड़ है, पत्ते चौड़े भी हैं, बड़े भी हैं। फूलों से तो ऐसा लदा है कि कुछ पूछिए नहीं। अजीब-सी अदा है, मुस्कराता जान पड़ता है। लगता है, पूछ रहा है कि क्या तुम मुझे भी नहीं पहचानते? पहचानता तो हूँ, अवश्य पहचानता हूँ। लगता है, बहुत बार देख चुका हूँ। पहचानता हूँ उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ। नाम भूल रहा हूँ। प्रायः भूल जाता हूँ। रूप देखकर प्रायः पहचान जाता हूँ, नाम नहीं याद आता। पर नाम ऐसा है कि जब तक रूप के पहले ही हाजिर न हो जाय तब तक रूप की पहचान अधूरी रह जाती है। भारतीय पण्डितों का सैकड़ों बार का कचार-निचोड़ा प्रश्न सामने आ गया - रूप मुख्य है या नाम? नाम बड़ा है या रूप? पद पहले है या पदार्थ? पदार्थ सामने है, पद नहीं सूझ

हिंदी गद्य विविधा

रहा है। मन व्याकुल हो गया। स्मृतियों के पंख फैलाकर सुदूर अतीत के कोनों में झाँकता रहा। सोचता हूँ इसमें व्याकुल होने की क्या बात है? नाम में क्या रखा है - ह्वाट्स देअर इन ए नेम! नाम की ज़रूरत ही हो तो सौ दिये जा सकते हैं। सुस्मिता, गिरिकान्ता, वनप्रभा, शुभ्रकिरीटिनी, मदोद्धता, विजितातपा, अलकावतंसा, बहुत-से नाम हैं! या फिर पौरुष-व्यंजक नाम भी दिये जा सकते हैं - अकुतोभय, गिरिगौरव, कूटोल्लास, अपराजित, धरतीधकेल, पहाड़फोड़, पातालभेद! पर मन नहीं मानता। नाम इसलिए बड़ा नहीं है कि वह नाम है। वह इसलिए बड़ा होता है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिली होती है। रूप व्यक्ति-सत्य है, नाम समाज-सत्य। नाम उस पद को कहते हैं जिस पर समाज की मुहर लगी होती है। आधुनिक शिक्षित लोग जिसे 'सोशल सैंक्सन' कहा करते हैं। मेरा मन नाम के लिए व्याकुल है, समाज द्वारा स्वीकृत इतिहास द्वारा प्रमाणित, समष्टि-मानव की चित्त-गंगा में स्नात!

इस गिरिकूट-बिहारी का नाम क्या है? मन दूर-दूर तक उड़ रहा है - देश में और काल में - मनोरथानामगतिर्नविद्यते! अचानक याद आया - अरे, यह तो कूटज है! संस्कृत साहित्य का बहुत परिचित, किंतु कवियों द्वारा अवमानित, यह छोटा-सा शानदार वृक्ष 'कूटज' है। 'कूटज' कहा गया होता तो कदाचित् ज्यादा अच्छा होता। पर नाम इसका चाहे कूटज ही हो, विरुद तो निस्संदेह 'कूटज' होगा। गिरिकूट पर उत्पन्न होने वाले इस वृक्ष को 'कूटज' कहने में विशेष आनंद मिलता है। बहरहाल, यह कूटज-कूटज है, मनोहर कुसुम-स्तबकों से झबराया, उल्लास-लोल चारुस्मित कूटज! जी भर आया। कालिदास ने 'आषाढस्य प्रथम-दिवसे' रामगिरि पर यक्ष को जब मेघ की अभ्यर्थना के लिए नियोजित किया तो कम्बख्त को ताजे कूटज पुष्पों की अंजलि देकर ही संतोष करना पड़ा - चम्पक नहीं, बकुल नहीं, नीलोत्पल नहीं, मल्लिका नहीं, अरविन्द नहीं - फकत कूटज के फूल! यह और बात है कि आज आषाढ का नहीं, जुलाई का पहला दिन है। मगर फर्क भी कितना है। बार-बार मन विश्वास करने को उतारू हो जाता है कि यक्ष बहाना मात्र है, कालिदास ही कभी 'शापेनास्तंगमितमहिमा' होकर रामगिरि पहुँचे थे, अपने ही हाथों इस कूटज पुष्प का अर्घ्य देकर उन्होंने मेघ की अभ्यर्थना की थी। शिवालिक की इस अनत्युच्च पर्वत-श्रृंखला की भाँति रामगिरि पर भी उस समय और कोई फूल नहीं मिला होगा। कूटज ने उनके सन्तप्त चित्त को सहारा दिया था - बड़भागी फूल है यह! धन्य हो कूटज, तुम 'गाढ़े के साथी' हो। उत्तर की ओर सिर उठाकर देखता हूँ, सुदूर तक ऊँची काली पर्वत-श्रृंखला छायी हुई है और एकाध सफेद बादल के बच्चे उससे लिपटे खेल रहे हैं। मैं भी इन पुष्पों का अर्घ्य उन्हें चढ़ा दूँ। पर काहे वास्ते? लेकिन बुरा भी क्या है?

कुटज

कुटज के ये सुंदर फूल बहुत बुरे तो नहीं है। जो कालिदास के काम आया हो उसे ज्यादा इज्जत मिलनी चाहिए। मिली कम है। पर इज्जत तो नसीब की बात है। रहीम को मैं बड़े आदर के साथ स्मरण करता हूँ। दरियादिल आदमी थे पाया सो लुटाया। लेकिन दुनिया है कि मतलब से मतलब है, रस चूस लेती है, छिलका और गुठली फेंक देती है। सुना है, रस चूस लेने के बाद रहीम को भी फेंक दिया गया था। एक बादशाह ने आदर के साथ बुलाया, दूसरे ने फेंक दिया! हुआ ही करता है। इससे रहीम का मोल घट नहीं जाता। उनकी फक्कड़ाना मस्ती कहीं गयी नहीं। अच्छे-भले कद्रदान थे। लेकिन बड़े लोगों पर भी कभी-कभी ऐसी वितृष्णा सवार होती है कि गलती कर बैठते हैं। मन खराब रहा होगा, लोगों की बेरुखी और बेकद्रदानी से मुरझा गए होंगे - ऐसी ही मनःस्थिति में उन्होंने बिचारे कुटज को भी एक चपत लगा दी। झुँझलाए थे, कह दिया :

वे रहीम अब बिरछ कहँ, जिनकर छाँह गँभीर;
बागन बिच-बिच देखियत, सेंहुड़ कुटज करीर।

गोया कुटज अदना-सा 'बिरछ' हो। 'छाँह' ही क्या बड़ी बात है, फूल क्या कुछ भी नहीं? छाया के लिए न सही, फूल के लिए तो कुछ सम्मान होना चाहिए। मगर कभी-कभी कवियों का भी 'मूड' खराब हो जाया करता है। वे भी गलत-बयानी के शिकार हो जाया करते हैं। फिर बागों से गिरिकूट-बिहारी कुटज का क्या तुक है?

कुटज अर्थात् जो कुट से पैदा हुआ हो। 'कुट' घड़े को भी कहते हैं, घर को भी कहते हैं। कुट अर्थात् घड़े से उत्पन्न होने के कारण प्रतापी अगस्त्य मुनि भी 'कुटज' कहे जाते हैं। घड़े से तो क्या उत्पन्न हुए होंगे। कोई और बात होगी। संस्कृत में 'कुटहारिका' और 'कुटकारिका' दासी को कहते हैं। क्यों कहते हैं? 'कुटिया' या 'कुटीर' शब्द भी कदाचित् इसी शब्द से संबद्ध हैं। क्या इस शब्द का अर्थ घर ही है। घर में काम-काज करने वाली दासी कुटकारिका और कुटहारिका कही ही जा सकती है। एक जरा गलत ढंग की दासी 'कुटनी' भी कही जा सकती है। संस्कृत में उसकी गलतियों को थोड़ा अधिक मुखर बनाने के लिए उसे 'कुट्टनी' कह दिया गया है। अगस्त्य मुनि भी नारदजी की तरह दासी के पुत्र थे क्या? घड़े में पैदा होने का तो कोई तुक नहीं है, न मुनि कुटज के सिलसिले में, न फूल कुटज के। फूल गमले में होते अवश्य हैं, पर कुटज तो जंगल का सैलानी है। उसे घड़े या गमले से क्या लेना-देना? शब्द विचारोत्तेजक अवश्य हैं। कहाँ से आया? मुझे तो इसी में संदेह है कि यह आर्यभाषाओं का शब्द है भी या नहीं। एक भाषाशास्त्री किसी संस्कृत शब्द को एक से अधिक रूप में प्रचलित पाते थे तो तुरंत उसकी कुलीनता पर शक कर बैठते थे। संस्कृत में 'कुटज' रूप भी मिलता है और 'कुटच' भी। मिलने को तो 'कूटज' भी मिल जाता है। तो यह शब्द किस जाति का है? आर्य जाति का तो नहीं जान पड़ता। सिलवाँ लेवी कह गए हैं

हिंदी गद्य विविधा

कि संस्कृत भाषा में फूलों, वृक्षों और खेत-बागबानी के अधिकांश शब्द आग्नेय भाषा-परिवार के हैं। यह भी वहीं का तो नहीं है। एक जमाना था जब आस्ट्रेलिया और एशिया के महाद्वीप मिले हुए थे, फिर कोई भयंकर प्राकृतिक विस्फोट हुआ और ये दोनों अलग हो गए। उन्नीसवीं शताब्दी के भाषा-विज्ञानी पण्डितों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आस्ट्रेलिया के सुदूर जंगलों में बसी जातियों की भाषा एशिया में बसी हुई कुछ जातियों की भाषा से सम्बद्ध है। भारत की अनेक जातियाँ वह भाषा बोलती हैं, जिनमें सन्थाल, मुण्डा आदि भी शामिल हैं। शुरू-शुरू में इस भाषा का नाम आस्ट्रो-एशियाटिक दिया गया था। दक्षिण-पूर्व या अग्निकोण की भाषा होने के कारण इसे आग्नेय-परिवार भी कहा जाने लगा है। अब हम लोग भारतीय जनता के वर्ग-विशेष को ध्यान में रखकर और पुराने साहित्य का स्मरण करके इसे कोल-परिवार की भाषा कहने लगे हैं। पण्डितों ने बताया है कि संस्कृत भाषा के अनेक शब्द, जो अब भारतीय संस्कृति के अविच्छेद्य अंग बन गए हैं, इसी श्रेणी की भाषा के हैं। कमल, कुड्मल, कम्बु, कम्बल, ताम्बूल आदि शब्द ऐसे ही बताए जाते हैं। पेड़-पौधों, खेती के उपकरणों और औजारों के नाम भी ऐसे हैं। 'कुटज' भी हो तो क्या आश्चर्य? संस्कृत भाषा ने शब्दों के संग्रह में कभी छूत नहीं मानी। न जाने किस-किस नस्ल के कितने शब्द उसमें आकर अपने बन गए हैं। पण्डित लोग उसकी छान-बीन करके हैरान होते हैं। संस्कृत सर्वग्रासी भाषा है।

यह जो मेरे सामने कुटज का लहराता पौधा खड़ा है वह नाम और रूप दोनों में अपनी अपराजेय जीवनी-शक्ति की घोषणा कर रहा है। इसीलिए यह इतना आकर्षक है। नाम है कि हजारों वर्ष से जीता चला आ रहा है। कितने नाम आये और गये। दुनिया उनको भूल गयी, वे दुनिया को भूल गए। मगर कुटज है कि संस्कृत की निरंतर स्फीयमान शब्दराशि में जो जमके बैठा सो बैठा ही है। और रूप की तो बात ही क्या है! बलिहारी है इस मादक शोभा की। चारों ओर कुपित यमराज के दारुण निःश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रुद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है। और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूने गिरि कान्तार में भी ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है। कितनी कठिन जीवनी-शक्ति है। प्राण ही प्राण को पुलकित करता है, जीवनी-शक्ति ही जीवनी-शक्ति को प्रेरणा देती है। दूर पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित चोटियाँ हैं, वहीं कहीं भगवा महादेव समाधि लगाकर बैठे होंगे, नीचे सपाट पथरीली ज़मीन का मैदान है, कहीं-कहीं पर्वतनन्दिनी सरिताएँ आगे बढ़ने का रास्ता खोज रही होंगी - बीच में यह चट्टानों की उबड़-खाबड़ जटाभूमि है - सूखी, नीरस, कठोर! यहीं ओसन मारकर बैठे हैं मेरे चिरपरिचित दोस्त कुटज। एक बार अपने झबरीले मूर्धा को हिलाकर समाधिनिष्ठ महादेव को पुष्पस्तबक का उपहार चढ़ा देते हैं और एक बार नीचे की ओर अपनी पाताल-भेदी जड़ों को दबाकर गिरिनन्दिनी सरिताओं को संकेत से बता देते हैं कि रस का

स्रोत कहाँ हैं। जीना चाहते हो? कठोर पाषाण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो; वायुमण्डल को चूसकर, झंझा-तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो; आकाश को चूमकर अवकाश की लहरी में झूमकर उल्लास खींच लो। कुटज का यही उपदेश है :

भित्वा पाषाणपिठरं छित्वा प्राभञ्जनी व्यथाम्
पीत्वा पातालपानीयं कुटजश्चुम्बते नभः।

दुरन्त जीवन-शक्ति है। कठिन उपदेश है। जीना भी एक कला है। लेकिन कला ही नहीं, तपस्या है। जियो तो प्राण ढाल दो जिदगी में, मन ढाल दो जीवनरस के उपकरणों में! ठीक है। लेकिन क्यों? क्या जीने के लिए जीना ही बड़ी बात है? सारा संसार अपने मतलब के लिए ही तो जी रहा है। याज्ञवल्क्य बहुत बड़े ब्रह्मवादी ऋषि थे। उन्होंने अपनी पत्नी को विचित्र भाव से समझाने की कोशिश की कि सब कुछ स्वार्थ के लिए है। पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, पत्नी के लिए पत्नी प्रिया नहीं होती - सब अपने मतलब के लिए प्रिय होते हैं - 'आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति।' विचित्र नहीं है यह तर्क? संसार में जहाँ कहीं प्रेम है, सब मतलब के लिए। सुना है, पश्चिम के हॉब्स और हेल्वेशियस जैसे विचारकों ने भी ऐसी ही बात कही है। सुन के हैरानी होती है। दुनिया में त्याग नहीं है, प्रेम नहीं है, परार्थ नहीं है, परमार्थ नहीं है - है केवल प्रचण्ड स्वार्थ। भीतर की जिजीविषा - जीते रहने की प्रचण्ड इच्छा - ही अगर बड़ी बात हो तो फिर यह सारी बड़ी-बड़ी बोलियाँ, जिनके बल पर दल बनाये जाते हैं, शत्रुमर्दन का अभिनय किया जाता है, देशोद्धार का नारा लगाया जाता है, साहित्य और कला की महिमा गायी जाती है, झूठ है। इसके द्वारा कोई-न-कोई अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध करता है। लेकिन अंतरतर से कोई कह रहा है, ऐसा सोचना गलत ढंग से सोचना है। स्वार्थ से भी बड़ी कोई-न-कोई बात अवश्य है, जिजीविषा से भी प्रचण्ड कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है। क्या है?

याज्ञवल्क्य ने जो बात धक्कामार ढंग से कह दी थी वह अंतिम नहीं थी। वे 'आत्मनः' का अर्थ कुछ और बड़ा करना चाहते थे। व्यक्ति की 'आत्मा' केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं है, वह व्यापक है। अपने में सब और सबमें आप - इस प्रकार की एक समष्टि-बुद्धि जब तक नहीं आती तब तक पूर्ण सुख का आनंद भी नहीं मिलता। अपने-आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर जब तक 'सर्व' के लिए निष्ठावर नहीं कर दिया जाता तब तक 'स्वार्थ' खण्ड-सत्य है, वह मोह को बढ़ावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है और मनुष्य को दयनीय-कृपण-बना देता है। कार्पण्य दोष से जिसका स्वभाव उपहत हो गया है, उसकी दृष्टि म्लान हो जाती है! वह स्पष्ट नहीं देख पाता। वह स्वार्थ भी नहीं समझ पाता, परमार्थ तो दूर की बात है।

हिंदी गद्य विविधा

कुटज क्या केवल जी रहा है। वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता। आत्मोन्नति हेतु नीलम नहीं धारण करता, अँगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है - काहे वास्ते, किस उद्देश्य से? कोई नहीं जानता। मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है। भीष्म पितामह की भाँति अवधूत की भाषा में कह रहा है : 'चाहे सुख हो या दुख, प्रिय हो या अप्रिय, जो मिल जाय उसे शान के साथ, हृदय से बिल्कुल अपराजित होकर, सोल्लास ग्रहण करो। हार मत मानो!'

सुखं वा यदि वा दुःखं वा यदि वाऽप्रियम्

प्राप्तं प्राप्तमुपासीतं हृदयेनपराजितः ।

- शान्तिपर्व, 25/26

हृदयेनापराजितः! कितना विशाल वह हृदय होगा जो सुख से, दुःख से, प्रिय से, अप्रिय से विचलित न होता होगा। कुटज को देखकर रोमांच हो आता है। कहाँ से मिली है यह अकुतोभया वृत्ति, अपराजित स्वभाव, अविचल जीवन-दृष्टि!

जो समझता है कि वह दूसरों का उपकार कर रहा है वह अबोध है, जो समझता है कि दूसरे उसका अपकार कर रहे हैं वह भी बुद्धिहीन है। कौन किसका उपकार करता है, कौन किसका अपकार कर रहा है? मनुष्य जी रहा है, केवल जी रहा है; अपनी इच्छा से नहीं, इतिहास-विधाता की योजना के अनुसार। किसी को उससे सुख मिल जाए, बहुत अच्छी बात है नहीं मिल सका, कोई बात नहीं; परंतु उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। सुख पहुँचाने का अभिमान यदि गलत है, तो दुःख पहुँचाने का अभिमान तो नितरां गलत है।

दुख और सुख तो मन के विकल्प हैं। सुखी वह है जिसका मन वश में है, दुःखी वह है जिसका मन परवश है। परवश होने का अर्थ है खुशामद करना, दाँत निपोरना, चाटुकारिता, हाँ-हजूरी। जिसका मन अपने वश में नहीं है वही दूसरे के मन का छन्दावर्तन करता है, अपने को छिपाने के लिए मिथ्या आडम्बर रचता है, दूसरों को फँसाने के लिए जाल बिछाता है। कुटज इन सब मिथ्याचारों से मुक्त है। वह वशी है। वह वैरागी है। राजा जनक की तरह संसार में रहकर, सम्पूर्ण भोगों को भोगकर भी उनसे मुक्त है। जनक की ही भाँति वह घोषणा करता है : 'मैं स्वार्थ के लिए अपने मन को सदा दूसरे के मन में घुसाता नहीं फिरता,- इसलिए मैं मन को जीत सका हूँ, उसे वश में कर सका हूँ' :

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनोनित्यं मनोन्तरे।

मनो मे निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा।

कुटज

कुटज अपने मन पर सवारी करता है, मन को अपने पर सवार नहीं होने देता।
मनस्वी मित्र, तुम धन्य हो!

14 . डॉ. राम विलास शर्मा और 'संस्कृति और जातीयता'

जीवन परिचय

डॉ. रामविलास शर्मा का जन्म 10 अक्टूबर 1912 को उन्नाव जिले के एक छोटे से ग्राम ऊँचगाँव सानी में हुआ था। उनका बचपन गाँव में बीता। गाँव और अंचल के प्रति उनके मन में बेहद श्रद्धा और प्रेम का भाव था। बचपन की शुरुआती शिक्षा इन्हें अपने बाबा से मिली। उन्हीं के साथ रहकर पढ़ाई और अक्षर ज्ञान हुआ। जब उनकी अवस्था छह-सात साल की थी तो वे अपने पिता के पास झाँसी आ गए। यहीं से उन्होंने विधिवत स्कूली शिक्षा प्राप्त की। झाँसी की सरस्वती पाठशाला में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत छठे से दसवें दर्जे तक की उनकी पढ़ाई मैकडानल हाईस्कूल में हुई। जब वे आठवें दर्जे में पढ़ते थे, तभी उनका विवाह हो गया। उच्च शिक्षा के लिए वे लखनऊ आ गए। 1932 में उन्होंने अंग्रेजी साहित्य में बी.ए की परीक्षा उत्तीर्ण की। अंग्रेजी में ही एम.ए. करने के पश्चात् उन्होंने शोध कार्य किया। 1938 में उन्होंने अपना शोध कार्य पूरा किया।

लखनऊ विश्वविद्यालय में ही अंग्रेजी विभाग में उन्होंने पाँच वर्ष तक अध्यापन का कार्य किया। 1943 में आगरा आ गए। 1943 से 1971 तक आगरा के बलवन्त राजपूत कॉलेज में अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष रहे। वहीं से 1971 में उन्होंने अवकाश ग्रहण किया। आगरा विश्वविद्यालय के कुलपति के अनुरोध पर के.एम.मुंशी संस्थान, आगरा के निदेशक का कार्यभार स्वीकार किया। 1974 में वहाँ से सेवा मुक्त होकर दिल्ली आ गए। 1983 में उनकी पत्नी का निधन हो गया। 30 मई 2000 में उनका निधन हुआ। रामविलासजी लगातार साहित्य कर्म से जुड़े रहे।

लखनऊ में रहते हुए उन्होंने साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में जो लेखन कार्य आरंभ किया, वह मृत्युपर्यंत चलता रहा। साहित्यिक सेवाओं के लिए उन्हें साहित्य अकादमी सहित कई पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। उन पुरस्कारों से मिलने वाली राशि उन्होंने साक्षरता के प्रसार के लिए दान कर दी।

विद्यार्थी जीवन में ही उनका मार्क्सवाद की ओर झुकाव हो गया था। मार्क्सवादी आलोचना को विकसित करने में उनका योगदान अतुलनीय है। हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना के वे प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। प्रगतिवादी विचारधारा के प्रति अपनी गहरी

संस्कृति और जातीयता

प्रतिबद्धता ने ही उन्हें प्रगतिशील लेखक संघ के साथ जोड़ा। 1949 में वे प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव बनाए गए। यह वह दौर था, जब प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन अपने उत्कर्ष पर था। 1953 में जब उन्होंने महासचिव पद छोड़ा, उसके बाद प्रगतिशील लेखक संघ का प्रभाव भी काफी सीमित हो गया।

प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव पद पर रहते हुए उन्होंने देश का व्यापक भ्रमण किया। उन्हें भारत के सांस्कृतिक वैविध्य को नजदीक से देखने और जानने का अवसर मिला। आगरा के मुंशी विद्यापीठ में रहते हुए उन्हें भारत की विभिन्न भाषाओं के अध्ययन का मौका मिला। इन सबने उनके लेखन को दूर तक प्रभावित किया। रामविलासजी के साहित्य को समझने के लिए इन तथ्यों को दृष्टि में रखना आवश्यक है।

जैसा कि कहा जा चुका है, उन्हें साहित्यिक सेवाओं के लिए कई बार सम्मानित किया गया। केंद्रीय साहित्य अकादमी ने उन्हें "निराला की साहित्य साधना" पुस्तक के लिए पुरस्कृत किया। 1988 में उन्हें "शलाका सम्मान" प्राप्त हुआ। 1990 में "भारत-भारती पुरस्कार" और 1991 में "व्यास सम्मान" प्रदान किया। मृत्यु से कुछ दिनों पहले उन्हें दिल्ली सरकार ने "सहस्राब्दी का हिंदी लेखक" के रूप में सम्मानित किया।

साहित्यिक योगदान

डॉ. रामविलास शर्मा पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव था। उन्होंने प्रगतिशील समीक्षा के लिए आधार भूमि तैयार की। उन्होंने प्रगतिशील समीक्षा को हिंदी की जातीय साहित्यिक परंपरा से जोड़ा। उन्होंने साहित्य में यथार्थवाद के महत्व को प्रतिपादित किया और उसी के अनुसार साहित्य परंपरा का पुनर्मूल्यांकन प्रस्तुत किया। रामविलासजी ने आलोचना को साहित्य की सीमा से बाहर ले जाकर राजनीति, समाज और संस्कृति के व्यापक सवाल से जोड़कर देखा है।

वे गहन से गहन बौद्धिक रूप से जटिल बातों को बड़े स्पष्ट एवं सरल रूप में पाठक के सामने रखते हैं। निराला के संदर्भ में उनकी समीक्षा का वही महत्व है जो शेक्सपीयर के संदर्भ में ए सी ब्रेडले का है। प्रो. निर्मला जैन का मानना है कि "इस दृष्टि से 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना', 'प्रेमचंद्र' और 'निराला की साहित्य साधना' स्वयं लेखक की ही नहीं बल्कि हिंदी आलोचना की उपलब्धियाँ हैं।"

डॉ. शर्मा का व्यक्तित्व कई क्षेत्रों में फैला हुआ है। वे एक ओर मार्क्सवादी चिंतक हैं, तो, दूसरी ओर साहित्य के आलोचक। लेकिन उन्होंने साहित्य ही नहीं भाषा, राजनीति, इतिहास, कला, संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों में भी साधिकार लेखन किया है। रामविलासजी के आलोचना और चिंतन संबंधी इस विपुल साहित्य की चर्चा बहुत हुई है। लेकिन इस बात को भी नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता कि प्रगतिशील धारा के

हिंदी गद्य विविधा

कवियों में उनका अत्यंत उच्च स्थान है। अज्ञेय द्वारा संपादित 'तार सप्तक' के एक कवि वे भी थे। बाद में उनके दो काव्य संग्रह भी प्रकाशित हुए। अपने लेखन के आरंभिक दिनों में उन्होंने उपन्यास और जीवनीपरक साहित्य भी लिखा। लेखन के अंतिम दशक में उन्होंने आत्मकथा, संस्मरण आदि लिखकर हिंदी के गद्य साहित्य को समृद्ध किया। निराला की जीवनी जो 'निराला की साहित्य साधना, भाग-1' के रूप में प्रकाशित हुई थी, जीवनी साहित्य की उत्कृष्ट उपलब्धि है।

डॉ. रामविलास शर्मा का लेखन लगभग छह दशकों में फैला है। आलोचना के क्षेत्र में यद्यपि उन्होंने मुख्य रूप से आधुनिक साहित्य पर ही अपने को केंद्रित रखा है, लेकिन हिंदी साहित्य ही नहीं बल्कि भारतीय और विश्व साहित्य पर भी अपने विवेचन को उन्होंने प्रस्तुत किया है। मार्क्सवादी चिंतक होते हुए भी उनका दृष्टिकोण विचारधारा के संकीर्ण घेरे में बंद नहीं है। उन्होंने इतिहास, राजनीति, समाज और संस्कृति पर अपने गहन अध्ययन द्वारा हिंदी समाज के विचार-संसार को समृद्ध किया। वे हिंदी को एक भाषा के रूप में ही नहीं देखते बल्कि एक जाति के रूप में देखते हैं। इसीलिए वे हिंदी जाति की संकल्पना को प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार वे साहित्य को साहित्यिकता के दायरे में न देखकर संस्कृति के वैश्विक अध्ययन की ओर उन्मुख होते हैं। रामविलासजी के इस विराट रचना संसार को दृष्टि में रखकर ही हम जातीयता और संस्कृति की उनकी संकल्पना को भी समझ सकते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा के प्रमुख ग्रंथ

आलोचना ग्रंथ

'प्रेमचंद', 'प्रेमचंद और उनका युग', 'भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा', 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ', 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना', 'निराला की साहित्य साधना' (तीन भागों में), 'नई कविता और अस्तित्ववाद', 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण', 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य', 'हिंदी जाति का साहित्य', 'भारतीय साहित्य की भूमिका', 'परंपरा का मूल्यांकन'।

भाषा संबंधी ग्रंथ

'भाषा और समाज', 'भारत की भाषा समस्या', 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी' (तीन भागों में)।

राजनीति, इतिहास, संस्कृति आदि विषयों पर ग्रंथ

'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' (दो खंड), 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज', 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' (दो खंड), 'इतिहास-दर्शन', 'भारतीय नवजागरण और यूरोप', 'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद'।

काव्य संग्रह

'रूप तरंग', 'सदियों के सोए जाग उठे'

उपन्यास

चार दिन

आत्मकथात्मक साहित्य

'अपनी धरती अपने लोग', 'घर की बात'

निबंध साहित्य

'आस्था और सौंदर्य', 'विराम चिह्न'

रचना के बारे में

49-53 का दौर भारतीय समाज और साहित्य में उथल-पुथल का दौर रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दौर में राष्ट्र निर्माण की जो प्रक्रिया आरंभ हुई, वह सिर्फ राजनीतिक प्रक्रिया ही नहीं थी, वरन् सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया भी थी। इसलिए इस प्रक्रिया से जुड़े सवाल भी अहम् हो गए थे। 'संस्कृति और साहित्य' (1949) और 'संस्कृति और जातीयता' (1952) नामक लेख उसी दौर में लिखे गए थे।

भारत विभिन्न जातियों और भाषाई समूहों वाला देश है। इसलिए राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में इन जातियों और भाषाई समूहों के बीच एकता और उनकी स्वतंत्र पहचान का प्रश्न उभरकर सामने आया। भाषाई आधार पर राज्यों के गठन की प्रक्रिया में कई विवाद उठे। इसी संदर्भ में हिंदी प्रदेशों में जातीयता का सवाल भी प्रमुख था। भाषाई आधार पर जातीयता का समर्थन करने वाले भी हिंदी जातीयता के सवाल पर साफ नहीं थे। डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने उपर्युक्त निबंध में संस्कृति और जातीयता के व्यापक प्रश्नों को हिंदी समाज के संदर्भ में रखकर देखा। संस्कृति का जातीयता से क्या संबंध है। जातीयता का गठन कैसे होता है। विभिन्न जातीयताओं और एक ही जाति के विभिन्न समुदायों के बीच एकता कैसे कायम रखी जा सकती है। जातीयताओं के आधार पर निहित स्वार्थों के द्वारा जनता को गुमराह करने की कोशिशों को कैसे रोका जा सकता है, ऐसे कई मुद्दे इस संदर्भ में सामने आते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने औपनिवेशिक शासन, सामंतवाद, भाषा और बोली, धर्म और संस्कृति जैसे कई पहलुओं पर भी गंभीरता से विचार किया है। जातीयता और संस्कृति के बारे में उनके इस आरंभिक चिंतन का ऐतिहासिक महत्व है, क्योंकि बाद में अस्सी-नब्बे के दशक में उन्होंने जातीयता के सवाल को और अधिक मुखर रूप में उठाया। उनके इस हस्तक्षेप का ही परिणाम है कि आज हिंदी जगत में हिंदी जातीयता एक अहम् मुद्दा बन गया है।

हिंदी गद्य विविधा

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने निबंध के आरंभ में संस्कृति पर विचार किया है। वे संस्कृति को व्यापक शब्द मानते हैं जिसमें 'मनुष्य का आचरण, उसका भावजगत, विचारधारा, साहित्य, कला, विज्ञान' सभी कुछ आ जाता है। उन्होंने संस्कृति को मानवीय निधि बतलाया है। उनका यह भी मानना है कि प्रत्येक देश, जाति और वर्ग की अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ होती हैं। रामविलासजी का यह भी मानना है कि 'मनुष्य ने अपना मानवत्व सामाजिक जीवन द्वारा ही प्राप्त किया है।' वर्ण व्यवस्था का उदाहरण देते हुए उसे सामंती समाज की विशेषता मानते हैं और कमोबेश हर तरह के सामंती समाजों में यह व्यवस्था पाई जाती है। जिस तरह वर्ण व्यवस्था पुरानी है उसी तरह उसका विरोध भी पुराना है। भक्ति काव्य को वह वर्णव्यवस्था के विरोध से जोड़कर देखते हैं।

इसके बाद उन्होंने आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास पर विचार किया है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास को वे सामंती व्यवस्था के पतन के साथ जोड़ते हैं। इसी संदर्भ में वे खड़ी बोली के विकास का उल्लेख करते हुए उसे हिंदी जातीयता के साथ जोड़ते हैं। हिंदी जातीयता की चर्चा करते हुए वे हिंदी क्षेत्र की विभिन्न बोलियों और उर्दू-हिंदी संबंधों पर भी विचार करते हैं। वे भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का समर्थन करते हुए हिंदी को विभिन्न राज्यों में बांटे जाने के विचार का विरोध करते हैं। वे इस बात का भी समर्थन नहीं करते कि शासन की सुविधा के लिए छोटे राज्य बनाए जाने चाहिए। जातीयता के विकास के बाद वे भारत में विभिन्न जातीयताओं के बीच सांस्कृतिक एकता पर अपना मत प्रस्तुत करते हैं। इस संदर्भ में उनका यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है : 'इस देश में अनेक भाषाएँ हैं, अनेक जातियाँ हैं, इन जातियों की अपनी-अपनी संस्कृति है। इन सभी जातियों की संस्कृतियों के सामान्य तत्वों का, उनके समुच्चय का नाम भारतीय संस्कृति है।' डॉ. रामविलास शर्मा के हिंदी जाति संबंधी विचारों को इसी परिभाषा के संदर्भ में समझना चाहिए। जब वे हिंदी जाति के विकास और गठन के कार्य को पूरा करने की बात करते हैं तो उनका मकसद प्रकारांतर में भारत की विभिन्न जातीयताओं के बीच एकता और इस तरह भारतीय राष्ट्र-राज्य की सामूहिक मिलीजुली संस्कृति के विकास की बात कर रहे होते हैं।

अपने इसी प्रगतिशील दृष्टिकोण के अनुसार ही वे गद्य की भाषा भी वैसी ही लिखते हैं। उनकी भाषा में हिन्दी जातीयता का स्वरूप है। भाषा की प्रवृत्ति तथ्य निरूपिणी है। विचारों को गद्य में सुलझाकर रखते हैं। कहीं-कहीं उनकी भाषा के तेवर में व्यंग्य या कटाक्ष भी मिलता है। अपनी बातों को स्पष्टता प्रदान करने के लिए इतिहास, समाजशास्त्र और साहित्य सभी के दृष्टांत की सहायता लेते हैं। समाज की निर्माण प्रक्रिया की पूरी तस्वीर उनके सामने होती है इसलिए भाषा सीधी और सहज होती है। उनकी शैली भी यथार्थवादी है। अपनी प्रत्येक बात को ठोस प्रमाण देकर प्रस्तुत करते हैं। उनके कथन में

संस्कृति और जातीयता

आत्मविश्वास और वस्तुपरकता दोनों दिखाई देते हैं। ऐतिहासिक चेतना के संदर्भ से वे अपने विचार को प्रमाणित करते हैं।

शब्दावली

त्यागराज : भारत में संगीत के दो स्कूल हैं। उत्तर भारत का हिन्दुस्तानी संगीत और दक्षिण भारत का कर्नाटक संगीत। त्यागराज दक्षिण भारत के कर्नाटक संगीत के श्रेष्ठ संगीतकार माने गए हैं।

कबीलाई समाज : समाजशास्त्र के अनुसार प्रारंभिक समाज का वह रूप जिसमें समाज विभिन्न समुदायों में बंटा होता है और उनकी अपनी स्वतंत्र सांस्कृतिक पहचान होती है। कबीले का प्रत्येक सदस्य अपनी परंपरा और पहचान के प्रति सजग और संवेदनशील होता है।

लिंग्विस्टिक सर्वे : भाषाई सर्वेक्षण। जार्ज ग्रियर्सन ने उत्तर भारत की बोलियों और भाषाओं का सर्वेक्षण किया था। यहाँ उसी सर्वेक्षण का हवाला दिया गया है।

जारशाही : क्रांति पूर्व रूस के शासक। लेनिन के नेतृत्व में हुई प्रसिद्ध बोलशेविक क्रांति ने रूस में इस शासन व्यवस्था को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया था।

भारती : सुब्रह्मण्यम भारती। तमिल भाषा के प्रख्यात तामिल कवि।

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. भारत में वर्ण-व्यवस्था का विरोध और उस व्यवस्था के टूटने पर आपत्ति - ये दानों बातें बहुत पुरानी हैं। कबीर के समय से ही ये दोनों बातें साहित्य में खूब उभर कर आयी हैं। हिंदी, बंगला, मराठी, पंजाबी, काश्मीरी आदि भाषाओं में भक्ति-आंदोलन मनुष्य-मात्र की समानता घोषित करने वाला एक व्यापक और शक्तिशाली आंदोलन था। यह आंदोलन वर्णों और मतमतांतरों में बँटे हुए सामंती समाज की व्यवस्था के विरुद्ध था, और इस व्यवस्था के कमज़ोर होने से वह उत्पन्न हुआ था। गरीब किसानों, कारीगरों, सौदागरों आदि की सक्रिय सहानुभूति से उसका प्रसार हुआ था। प्राचीन रूढ़िवाद जहाँ धार्मिक कर्मकांड को महत्व देता था, वहाँ यह आंदोलन प्रेम को भक्ति और मुक्ति का आधार मानता था।
2. जातियों की राजसत्ता की प्रतिष्ठा, उनकी भाषा में उनके राज्यगत जीवन का विकास, समाजवाद का उद्देश्य है। इसके विपरीत राज्यसत्ता के जीवाणुओं का नाश, जातियों का विभाजन और उनकी भाषाओं का दमन साम्राज्यवादियों, पूँजीपतियों और सामंतों की नीति है। भारत की अन्य बड़ी जातियों के समान

हिंदी गद्य विविधा

देश की बसे बड़ी जाति, हिंदी-भाषी जाति, का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह एक राज्य के अंतर्गत संगठित होकर अपना औद्योगिक और सांस्कृतिक विकास कर सकें।

3. इस देश में अनेक भाषाएँ हैं, अनेक जातियाँ हैं, इन जातियों की अपनी-अपनी संस्कृति है। इन सभी जातियों की संस्कृतियों के सामान्य तत्वों का, उनके समुच्चय का नाम भारतीय संस्कृति है। भारत की जातियों से भिन्न भारतीय संस्कृति की सत्ता कहीं नहीं है।

व्याख्या का उदाहरण

जो लोग इस जातीय विकास और जातीय गठन का कार्य पूरा नहीं होने देना चाहते, उनसे निवेदन है कि वे इस तथ्य पर विचार करें कि हर संस्कृति की जातीय विशेषताएँ होती हैं, जातीय रूप होता है, हर भाषा की पूर्ण समृद्धि के लिए उसे बोलने वाली जाति का गठन आवश्यक होता है। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, भाषा और संस्कृति के विकास और समृद्धि को रोकना। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, किसी जाति के अंदर विद्यमान राज्यसत्ता के जीवाणुओं को कुचलना। भारत का विकास उसकी विभिन्न जातियों के विकास से ही संभव है।

व्याख्या-संकेत

डॉ. रामविलास शर्मा प्रगतिशील आलोचक, कवि और गद्यकार के रूप में सुपरिचित हैं। वे बहुआयामी प्रतिभा के धनी हैं। उन्होंने अपने लेखन का क्षेत्र साहित्य तक ही नहीं सीमित रखा है। अपितु संस्कृति भाषा, राजनीति तक फैला हुआ है। 'संस्कृति और जातीयता' निबंध उस काल की रचना है जब देश आजाद होने के बाद उसको संघात्मक रूप देने के लिए भाषाओं के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया जा रहा था। डॉ. रामविलास शर्मा भाषा को जातीयता का आधार मानते हैं और उसके आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का समर्थन करते हैं। जातीय संस्कृति के विकास का संबंध जातीयता के विकास से है।

उपर्युक्त अंश 'संस्कृति और जातीयता' निबंध से उद्धृत है। इन पंक्तियों में लेखक ने जातीय गठन के महत्व पर बल दिया है। प्रत्येक संस्कृति की जातीय विशेषताएँ होती हैं। यानी जातीयता के आधार पर ही हम सांस्कृतिक भिन्नता को पहचान सकते हैं। जातीयता भाषा पर आधारित होती है इसलिए भाषा और संस्कृति के विकास का संबंध जातीय गठन से जुड़ा है। यदि किसी जातीयता को गठित होने से रोका जाता है तो उसका प्रभाव उससे संबद्ध भाषा और संस्कृति के विकास पर भी पड़ना स्वाभाविक है। इसके साथ ही वे इस बात पर भी बल देते हैं कि जातीय गठन का संबंध उस जाति की राज्यसत्ता पर अधिकार से भी है। जातीय आधार पर राज्यों के गठन से उस विशिष्ट

संस्कृति और जातीयता

जातीय समूह के लोगों को अपने जातीय विकास के लिए राज्यसत्ता का उपयोग करने की स्वतंत्रता और अधिकार दोनों प्राप्त होते हैं। इस प्रकार राज्य संचालन में वे अपनी भागीदारी को सुनिश्चित करते हैं।

यदि किसी जातीय समूह को जातीय आधार पर गठित होने से रोका जाता है तो इसका सीधा-सा अर्थ है कि उसे राज्यसत्ता के संचालन की प्रक्रिया से वंचित करना। यह उस जातीय समूह के लोकतांत्रिक अधिकारों का हरण है। भारत जैसे देश में जहाँ कई जातियाँ एक राष्ट्र-राज्य में शामिल हैं, वहाँ उनके बीच एकता तभी कायम की जा सकती है जब प्रत्येक जाति को अपने स्वतंत्र विकास का पूरा अवसर मिले। यदि ऐसा नहीं होता है और जातीय विकास की स्वाभाविक आकांक्षा को कुचला जाता है तो उस जातीय समूह में अलगाववाद के बीज पनप सकते हैं। ऐसी स्थिति में विभिन्न जातियों के बीच संघर्ष का बीजारोपण होगा और उसका असर राष्ट्रीय एकता पर विनाशकारी होगा। इस अंश में कही गई बातों को इस परिप्रेक्ष्य में समझकर अपने शब्दों में लिखें।

रामविलासजी के इस कथन को भारत की मौजूदा स्थिति के संदर्भ में भी देख-परख सकते हैं और उस पर भी अपना मत संक्षेप में रख सकते हैं।

उपर्युक्त कथन में लेखक के विचार अत्यंत सुलझे हुए रूप में प्रस्तुत हैं। रामविलासजी के सामने अपना मत इतना स्पष्ट होता है कि उन्हें अपनी बात कहने में कोई कठिनाई नहीं आती। लेकिन उनकी लेखनी में विचारों पर बल रहता है और संवेदना पक्ष पर वे अपेक्षित ध्यान नहीं देते। यही कारण है कि उनका यह निबंध वैचारिक दृष्टि से जितना सशक्त है, साहित्यिक दृष्टि से नहीं है। इस पक्ष पर भी आप अपना मत प्रस्तुत कर सकते हैं।

सहायक पुस्तकें

विश्वनाथ त्रिपाठी : हिंदी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

निर्मला जैन : हिंदी आलोचना : बीसवीं सदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

प्रभाकर श्रोत्रिय : रामविलास शर्मा : व्यक्ति और कवि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

डॉ. गीता शर्मा : रामविलास शर्मा और परंपरा का मूल्यांकन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूल पाठ : निबंध

संस्कृति और जातीयता

संस्कृति एक व्यापक शब्द है। उसके अंतर्गत मनुष्य का आचरण, उसका भावजगत, विचारधारा, साहित्य, कला, विज्ञान - ये सभी आ जाते हैं। ब्रह्म की तरह संस्कृति व्यक्त और अव्यक्त दोनों हैं। वाल्मीकि और व्यास के महाकाव्य, अजन्ता और एल्लोरा का शिल्प, स्थापत्य और चित्रकारी, त्यागराज और तानसेन का संगीत, ये सब संस्कृति के अंग हैं और वह उल्लास जो दीपावली के प्रकाश में फूट पड़ता है, वह शूरता जो 1857 और 1946 के विद्रोहों में प्रकट हुई थी, शांति और न्याय का वह प्रेम जो आज कोटि-कोटि भारतीय जनता को सोवियत और चीन के साथ विश्व-शांति की रक्षा के लिए आगे बढ़ा रहा है, वह सब भी संस्कृति का अंग है।

अपने सुदीर्घ जीवन में मनुष्य ने ऐसी सांस्कृतिक निधि अर्जित की है जो मानव-मात्र की संपत्ति है। बच्चों से प्यार, नारी जाति का सम्मान, मनुष्य-मात्र की समानता का भाव आदि आज सम्पूर्ण मानव-संस्कृति की धाती हैं। इसके साथ पच्छिम और पूर्व की, यूरोप और एशिया की, भारत और ब्रिटेन की अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ हैं। अपनी प्राचीनता पर गर्व, पूर्व और एशिया की एक सांस्कृतिक विशेषता है। साहित्य में यथार्थवाद का विकास ब्रिटेन की एक सांस्कृतिक विशेषता है। अनेक विभिन्नताओं में एकता की अनुभूति - यह भारत की सांस्कृतिक विशेषता प्रसिद्ध है। देशों और महाद्वीपों के साथ वर्गों की अपनी संस्कृति भी होती है। विलासप्रियता, निष्क्रियता, अलंकार प्रेम, साहित्य में चमत्कारवाद - हर देश में सामंतवर्ग की अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ रही हैं।

मनुष्य का सांस्कृतिक विकास उसके सामाजिक जीवन से ही संभव हुआ है। मानव-संस्कृति मानव-जीवन से भिन्न नहीं है। मनुष्य ने अपना मानवत्व सामाजिक जीवन द्वारा ही प्राप्त किया है। यह सामाजिक जीवन सदा एक रूप में संगठित नहीं हुआ। भारत में जिस व्यवस्था से लोग बहुत दिनों से परिचित हैं, वह वर्ण-व्यवस्था है। इसे धार्मिक ग्रंथों में ईश्वरकृत भी माना गया है। लेकिन आज भी देश में ऐसे अनेक जन रहते हैं जो पहाड़ों और जंगलों में कबीलों का संगठन बना कर जीवन बिताते हैं और जिनमें वर्ण-व्यवस्था नहीं है। समाज शास्त्र के अनुसार कबीलों का यह संगठन, विकास क्रम में वर्ण-व्यवस्था से पहले आता है। हम लोग समझते हैं कि वर्ण-व्यवस्था हमारे देश की विशेषता है। वास्तव में हर देश का सामंती समाज मोटे तौर से चार वर्णों जैसे चार वर्गों में बँटा हुआ मिलता है। मिसाल के लिए चौसर के समय और उसके पहले का इंग्लैंड पुरोहितों (क्लर्जी) भूमि के स्वामियों (नाइट), सौदागरों (मर्चेंट) और ज़मीन जोतने वाले किसानों (सर्फ) में बँटा हुआ था। व्यापार और उद्योग-धंधों की बढ़ती के साथ यह व्यवस्था हर

संस्कृति और जातीयता

जगह टूटी है। जो लोग इस व्यवस्था से पीड़ित थे, उन्होंने इसके टूटने में सहायता की, जो प्राचीनता-प्रेमी और रूढ़िवादी थे, उन्होंने इस विनाश को कलियुग का अनाचार कहा। आज भी अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो भारत की विपत्तियों का मूल कारण यह मानते हैं कि वर्ण-व्यवस्था से जनता की आस्था उठ गयी है। वे बड़ा प्रयत्न करते हैं कि पुरानी व्यवस्था फिर लौट आये, जितनी बची है, उतनी ही कायम रहे लेकिन जैसे-जैसे ज़मीन से सामंती प्रभुत्व उठता जाता है, वैसे-वैसे भूपाल और उसके साथ पुरोहित पर से वह पुरानी श्रद्धा भी उठती जाती है और उसकी जगह नये वर्ण-संबंध कायम होते जाते हैं। यह क्रम भारत में जातियों (नैशनैलिटी) के संगठन और उनके दृढ़ होने का क्रम भी है।

भारत में वर्ण-व्यवस्था का विरोध और उस व्यवस्था के टूटने पर आपत्ति - ये दोनों बातें बहुत पुरानी हैं। कबीर के समय से ही ये दोनों बातें साहित्य में खूब उभर कर आयी हैं। हिंदी, बंगला, मराठी, पंजाबी, काश्मीरी आदि भाषाओं में भक्ति-आंदोलन मनुष्य-मात्र की समानता घोषित करने वाला एक व्यापक और शक्तिशाली आंदोलन था। यह आंदोलन वर्णों और मतमतांतरों में बँटे हुए सामंती समाज की व्यवस्था के विरुद्ध था, और इस व्यवस्था के कमज़ोर होने से वह उत्पन्न हुआ था। गरीब किसानों, कारीगरों, सौदागरों आदि की सक्रिय सहानुभूति से उसका प्रसार हुआ था। प्राचीन रूढ़िवाद जहाँ धार्मिक कर्मकांड को महत्व देता था, वहाँ यह आंदोलन प्रेम को भक्ति और मुक्ति का आधार मानता था। कबीर, तुलसी, सूर और जायसी में सामान्य भाव-धारा इस प्रेम की ही है। प्राचीन रूढ़िवाद जहाँ म्लेच्छ और काफ़िर, द्विज और शूद्र के भेद को महत्व देता था, वहाँ भक्ति-आंदोलन का मूल स्वर था - 'जाति-पाँति पूछे नहीं कोई, हरि का भजै सो हरि का होई।' भक्ति-आंदोलन श्रद्धा के मानदंड बदल रहा था, भूमि के स्वामी होने से तुम श्रद्धास्पद नहीं हो, श्रद्धा की कसौटी है प्रेम! उस कसौटी पर साधारण किसान बड़े-बड़े भूपतियों से श्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है।

झूमत द्वार अनेक मतंग जंजीर जरे मद-अंबु चुचाते।
तीखे तुरंग मनो गति चंचल पौन के गौनहुतै बढि जाते॥
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति बाहर भूप खड़े न समाते।
ऐसे भये तो कहा तुलसी जु पै जानकीनाथ के रंग न राते॥

इसी तरह ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से या पुरोहिताई करने से तुम श्रद्धास्पद नहीं हो। असली कसौटी है प्रेम की, जहाँ शबरी, निषाद और 'जायो कुलमंगल' तुमसे श्रेष्ठ सिद्ध हो सकते हैं।

जप, जोग, विराग, महा मखसाधन, दाव, दया, हम कोटि करै।
मुनि सिद्ध, सुरेस, गनेस, महेस से सेवत जन्म अनेक मरै।
निगमागम ज्ञान पुरान पढ़ै, तपसानल में जुग पुंज जरै।

हिंदी गद्य विविधा

मन सों पन रोपि कहैं तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरे?

इस तरह श्रद्धा की कसौटी बदल कर भक्ति-आंदोलन ने सामंतों और पुरोहितों के प्रभुत्व को भारी धक्का लगाया।

सामंती व्यवस्था में जहाँ नारी को विलास और केलि का साधन बना दिया गया- जिसका प्रतिबिंब दरबारी कवियों का नायिका-भेद है - और रूढ़िवाद ने नारी को बहुपत्नी प्रेमी नर की दासी बना दिया था, वहाँ सूर, जायसी, मीरा और तुलसी ने उसके नारीत्व की फिर प्रतिष्ठा की, उसकी मानव सुलभ समानता और व्यक्तित्व की घोषणा की। रामराज्य में - 'एक नारि व्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी।' पतिव्रत पत्नीव्रत के साथ ही चलता है।

सामंत व्यवस्था ने मनुष्य की सौंदर्य-वृत्तियों को, उसके अनेक मानव-मूल्यों को जहाँ दबा रखा था, भक्ति-आंदोलन ने इन सबको निखारा और विकसित किया।

सामंती व्यवस्था ने जहाँ मनुष्य को निष्क्रियता और भाग्यवाद का पाठ पढ़ाया था, भक्ति-आंदोलन ने राम और कृष्ण के चरित्रों द्वारा जनता को अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करना सिखाया।

भक्ति-आंदोलन से पहले जहाँ साहित्य रचने का काम मुख्यतः ब्राह्मणों ने किया था, वहाँ भक्ति-साहित्य में जुलाहे, अछूत, मुसलमान, ब्राह्मण-अब्राह्मण, नर-नारी सभी ने भाग लिया और वह वास्तव में एक लोकप्रिय जन-साहित्य बन गया। संस्कृति की ठेकेदारी किसी वर्ण-विशेष या धर्म-विशेष के हाथ में न रह गयी।

इन कारणों से भक्ति-आंदोलन को मूलतः सामंत विरोधी आंदोलन कहना उचित है। वह सामंती व्यवस्था के विरोध में उठ खड़ा हुआ था, उस व्यवस्था के कमज़ोर होने से पैदा हुआ था। यह आंदोलन हमारी जातीयता के अभ्युदयकाल का प्रगतिशील आंदोलन था।

आज अपनी जातीय संस्कृति का विकास करने के लिए उसके महत्व को समझना आवश्यक है। वह इस बात का प्रमाण है कि उत्तर भारत में सामंती व्यवस्था नष्ट हो रही थी और साहित्य इस कार्य में सहायक था।

सामंती व्यवस्था के ह्रास के साथ भारत की आधुनिक भाषाओं का उत्थान जुड़ा हुआ है। ये भाषाएँ सामंती व्यवस्था के ह्रास के कारण पैदा नहीं हुईं, भाषाएँ पहले से थीं, उन्हें अब अपने प्रसार और विकास का अवसर मिला। संस्कृत जहाँ धर्म और साहित्य की भाषा थी, फ़ारसी जहाँ राज-भाषा थी, वहाँ उत्तर भारत के संत कवि बोलचाल की भाषाओं को माध्यम बनाकर आगे बढ़े। संस्कृत या फ़ारसी की जगह अनेक भाषाओं के

संस्कृति और जातीयता

विकास से भारत की एकता टूटी नहीं, वह और दृढ़ हुई, क्योंकि जनता की शिक्षा और उसका सांस्कृतिक विकास उसकी भाषा द्वारा ही संभव है। सुशिक्षित और सुसंस्कृत जनता ही एकता का सबसे दृढ़ आधार है। इसीलिए जो लोग अंग्रेज़ी द्वारा भारत की एकता बनाये रखना चाहते हैं, वे एकता के दृढ़ आधार को नहीं समझते, वे जनता की शक्ति नहीं पहचानते। जो लोग बंगाल या महाराष्ट्र में बंगला या मराठी के बदले हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं, वे भारत की आधुनिक भाषाओं के विकास का महत्व नहीं समझते, वे इन भाषाओं द्वारा जनता के शिक्षण और सांस्कृतिक विकास का मूल्य नहीं पहचानते। जिस समय संस्कृत द्वारा एकता की रक्षा करने वाले पराजित हो चुके थे, उस समय बोलचाल की भाषाओं द्वारा ही भक्त कवियों ने जनता के जातीय आत्म-सम्मान को जगाया था और उसकी रक्षा की थी। इस ऐतिहासिक श्रम-विकास को रोकना आज किसी की सामर्थ्य में नहीं है।

भाषा और साहित्य का इतिहास यह बतलाता है कि 16वीं-17वीं सदी में ब्रज, खड़ीबोली, अवधी आदि के क्षेत्र अपना अलगाव दूर करके एक दूसरे के निकट आ रहे थे। यही कारण है कि सूर के पद केवल ब्रज की संपत्ति न थे, वे ब्रज के बाहर भी गाये जाते थे। संगीत और कविता के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग सर्वमान्य-सा हो गया था। इससे पहले विभिन्न जनपदों के लेखक संस्कृत में लिखते थे, तब से अब में अंतर यह था कि संस्कृत के छंद गाँवों के किसान वैसे न गाते थे जैसे अब वे सूर के पद गाते थे। ब्रजभाषा का साहित्य जन साधारण में प्रचलित हो रहा था और इस तरह विभिन्न जनपदों के लोगों को एक दूसरे के निकट ला रहा था। इसी तरह अवधी की रचनाएँ अवध तक सीमित न रहीं, विशेषरूप से रामचरितमानस का प्रचार अवध के बाहर दूर-दूर तक हुआ। इस तरह यह महान् ग्रंथ जनपदों का अलगाव दूर करने और उन्हें एक दूसरे के निकट लाने का बहुत बड़ा साधन बना। तुलसीदास ने ब्रज और अवधी दोनों में रचनाएँ कीं और यह बात अपने आप इस ऐतिहासिक सत्य की ओर संकेत करती है कि ब्रज और अवध जैसे जनपदों की जनता एक दूसरे के निकट आ रही थी। इस समय की काव्य-भाषा में एक से अधिक बोलियों के शब्द आना, यहाँ तक कि अनेक बोलियों के व्याकरण-रूपों का आना भी असाधारण बात नहीं है। इसका कारण यही है कि जनपदीय बोलियों का दुराव खत्म हो रहा था और वे एक दूसरे को प्रभावित कर रही थीं। आगे चल कर इन जनपदों की एक सामान्य जातीय भाषा न तो ब्रज हुई, न अवधी, जातीय भाषा के रूप में विकसित हुई खड़ी बोली। सूर और तुलसी जैसे समर्थ कवियों की सहायता पा कर भी ब्रज या अवधी यहाँ की जातीय भाषा क्यों न बनी और खड़ी बोली क्यों बनी, इसके ऐतिहासिक कारण हैं। ब्रज के बाहर ब्रजभाषा का प्रसार केवल साहित्यिक भाषा के रूप में हुआ, बोलचाल की भाषा के रूप में नहीं। यही बात अवधी के साथ भी हुई। बोलचाल की भाषा के रूप में केवल खड़ी बोली अपने क्षेत्र से बाहर फैली। तभी तो 19वीं सदी में

हिंदी गद्य विविधा

गद्य, शिक्षा और मासिक पत्रों आदि की भाषा खड़ी बोली स्वीकृत हो गयी और ब्रज, अवधी आदि को लेकर कोई संघर्ष न हुआ। काव्य में ब्रजभाषा को बनाये रखने के लिए संघर्ष किया गया, वह असफल रहा। कारण यह कि खड़ी बोली हमारी जातीय भाषा के रूप में विकसित हो रही थी और काव्य में उसका उपयोग आगे-पीछे होना ही था।

भारतेंदु हरिश्चंद्र और रामचंद्र शुक्ल ने खड़ी बोली के प्रसार का संबंध पच्छिम से पूर्व की ओर आने वाली व्यापारी जातियों से जोड़ा था। यह स्थापना सही है। आगरा, प्रयाग, काशी आदि में न जोने कितने व्यापारी पछाँह से आकर बसे थे। स्वयं दिल्ली और आगरा व्यापार के बहुत बड़े केंद्र थे। ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे' से पता चलता है कि यूरोप के व्यापारी अपनी सुविधा के लिए खड़ी बोली सीखते थे। व्यापार के प्रसार के साथ भारत के भीतर खड़ी बोली का महत्व बढ़ा। सरदेसाई के अनुसार इटालियन यात्री मनुच्ची और शिवाजी की बातचीत खड़ी बोली में हुई थी। शेरशाह के समय से ही हिंदी भाषी क्षेत्र में व्यापार का प्रसार आरंभ हो गया था। अकबर ने एक तरह के सिक्के चला कर, यातायात के साधनों को सुरक्षित करके व्यापार की उन्नति में सहायता की। 16वीं सदी में व्यापार और औद्योगिक उन्नति का सबसे बड़ा प्रमाण बड़े-बड़े शहरों का निर्माण और विकास था। दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, पटना आदि व्यापार के बड़े-बड़े केंद्र थे, इन्हीं केंद्रों से खड़ी बोली का प्रसार भी हुआ। उद्योग-धंधों का मुख्य आधार दस्तकारी थी, लेकिन इस दस्तकारी का उद्योग राजाओं और नवाबों की विलासिता की चीज़ें तैयार करना ही न था, न यह दस्तकारी हर गाँव में सीमित रह कर उसी की ज़रूरतें पूरा करने के लिए थी। बनारस, लखनऊ और आगरा दस्तकारों के केंद्र थे और यहाँ की बनी हुई चीज़ें विदेश में इतनी बिकती थीं कि वहाँ के अपने उत्पादन के लिए खतरा पैदा हो गया था। उद्योग-धंधों का बढ़ाना, व्यापार की मंडियों के रूप में बड़े-बड़े शहरों का पनपना सामंती अलगाव कम करता था और जनता को एक सूत्र में बाँधता था। यह हिंदी-भाषी जाति के निर्माण का सिलसिला था। यह सिलसिला सामंती ढाँचे के अंदर चल रहा था। यह ढाँचा कमज़ोर था और दिन-पर-दिन अपने भीतर उभरती ताकतों से कमज़ोर होता जा रहा था लेकिन वह चरमरा कर बैठ न गया था, उसका नाश न हुआ था कि उसकी जगह नया पूँजीवादी ढाँचा आकर जम जाता। व्यापार की मंडियाँ मुख्यतः गंगा-यमुना के किनारे कायम हुईं, इसलिए पूर्वी भोजपुरी और मैथिल प्रदेश व्यापारी संबंधों की लपेट से प्रायः बचे रहे। यातायात के साधन हर जगह एक से विकसित न हुए थे, इसलिए मध्यभारत इस विकास से बहुत कुछ अलग रहा। बीसवीं सदी में नये उद्योग-धंधों के कायम होने के साथ विकास का यह सिलसिला और बढ़ा और मध्यभारत तथा मिथिला, भोजपुर आदि एक सामान्य जातीय जीवन की धारा के और निकट आए। यह विकास औपनिवेशिक भारत में हो रहा था, जहाँ अंग्रेज़ शासक वर्ग की नीति यह थी कि औद्योगिक उन्नति रोक कर भारत को अंग्रेज़ी माल की खपत के लिए बाज़ार बनाया

संस्कृति और जातीयता

जाय और यहाँ के सामंती अवशेषों को अपना सहायक बना कर उनकी रक्षा की जाय। इसलिए यह औद्योगिक विकास बहुत ही सीमित था और उसके साथ हमारे जातीय निर्माण और गठन का काम भी अधूरा रहा।

हमारे जातीय निर्माण की एक विशेषता यह थी कि यहाँ सैकड़ों साल तक फ़ारसी राज-भाषा रह चुकी थी। इसका फल यह हुआ कि उच्च वर्गों में फ़ारसी पढ़ी-पढ़ाई जाती थी और सुसंस्कृत शब्दावली वह समझी जाती थी जिसमें फ़ारसी के शब्द अधिक हों। इसलिए एक ओर नज़ीर और मीर जैसे सरल उर्दू लिखने वाले कवि हुए, दूसरी ओर फ़ारसी गर्भित उर्दू लिखने वालों की कमी न थी। अंग्रेज़ी ने इस भाषा-भेद को - जिसमें लिपि-भेद भी शामिल था - और आगे बढ़ाया और विशेष रूप से जब सन् 1857 में उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों को अपने विरुद्ध मिल कर लड़ते देखा, तब उन्होंने यह भेद-भाव बढ़ाने में अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। कचहरी और पुलिस के द्वारा उन्होंने वह अरबी प्रधान-भाषा चलायी जो उनके जातीय उत्पीड़न की नीति का अंग बन गयी। इधर अनेक जनपदों में कुछ लोगों ने अलगाव का नारा दिया। जातीय विकास की धारा न समझ कर इन्होंने बोलियों को भाषा का दर्जा दिया, इन बोलियों के क्षेत्रों को जातीय प्रदेश माना, यहाँ तक कि हिंदी-भाषी प्रदेश को तेरह क्षेत्रों में बाँटने की योजना भी सामने रखी। हिंदी-भाषी क्षेत्र में वर्ण-व्यवस्था का अब भी जोर है। यहाँ के शिक्षा केंद्रों में कौन ब्राह्मण है, कौन कायस्थ है, यह प्रश्न बड़े महत्व का है। यही नहीं बहुतों में अहीर, जाट, गूजर, राजपूत आदि के प्रति वफ़ादारी पहले है, समूची हिंदी-भाषी जाति के लिए बाद को। इन्हीं कारणों से हिंदी भाषी क्षेत्र में जिस जातीय चेतना का विकास होना चाहिए था, वह नहीं हुआ।

जातियों का विकास और निर्माण सामंती व्यवस्था के ह्रास और पतन से ही संभव होता है। इसलिए जातीय चेतना का विकास भी सामंती विचार धारा का खंडन करता है, अपना प्रगतिशील मूल्य रखता है। अंग्रेज़ शासकों ने यहाँ का औद्योगिक विकास रोका, यहाँ के सामंती अवशेषों की रक्षा की, नवाबों, राजाओं और ताल्लुकदारों की रियासतें बनाये रखकर जातीय एकता कायम होने में बाधा डाली। उदाहरण के लिए निज़ाम की रियासत के कारण तेलुगु-भाषी जाति एक न हो पायी। कन्नड़ और मराठी-भाषी जातियाँ भी इसी तरह एक न हो पायीं। एक ही जाति को उन्होंने कई प्रांतों में बांट दिया, जिसकी सबसे बड़ी मिसाल हिंदी-भाषी प्रदेश है। बोलियों का ध्यान भी रखा जाय तो भोजपुरी का आधा क्षेत्र बिहार में है, आधा उत्तर प्रदेश में। बिहार को उन्होंने कभी बंगाल के साथ रखा, कभी बंगाल का थोड़ा-सा हिस्सा बिहार में मिला दिया। बंगाल का विभाजन करने की कन्वेंशन की, जो पहले असफल रही और सन् 47 में सफल हुई। कांग्रेस ने अपनी सूबा-कमेटियाँ मुख्य भाषाओं को ध्यान में रखकर बनायीं, अपवाद केवल

हिंदी गद्य विविधा

हिंदी-भाषी प्रदेश था। मुख्य भाषाओं के हिसाब से प्रांतों का नया संगठन करने की माँग उचित थी, इस माँग के पूरा होने से भारत की प्रमुख जातियों का ऐतिहासिक विकास क्रम आगे बढ़ता था। इस विकास क्रम में सामंती अवशेषों के सिवा दूसरी बाधा थी - साम्राज्यवाद, जो अपनी कूटनीति से जातियों को संगठित न होने देता था। इसलिए जातीय गठन और जातीय चेतना के विकास का एक साम्राज्य विरोधी मूल्य भी है। जातीय विकास क्रम को पूरा करना देश-भक्ति का ही कार्य माना जाएगा।

जातीय चेतना का सही मूल्यांकन करके ही भारतीय एकता दृढ़ की जा सकती है। भारतीय एकता जनता की एकता के सिवा, विभिन्न वर्गों की एकता के सिवा, विभिन्न भाषाएँ बोलने वाली जातियों की एकता भी है। विभिन्न जातियों की परस्पर एकता उनके उचित अधिकार मान कर ही की जा सकती है। तेलुगू-भाषी जनता ने जातीय गठन का सवाल बहुत तीखे ढंग से देश के सामने रखा है। आन्ध्र राज्य के निर्माण के लिए पोत्ती श्री शमुलु जैसा अहिंसावादी शहीद हो गया। इससे अनुमान किया जा सकता है कि जातीय भावना कितनी दृढ़ है। कांग्रेसी नेताओं को बाध्य होकर राज्य पुनर्गठन समिति बनानी पड़ी। इस समिति ने केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक आदि राज्य बनाने का अनुमोदन किया। महाराष्ट्र और आन्ध्र के निर्माण में जो बाधाएँ थीं, उनसे फिर असंतोष बढ़ा और कांग्रेसी नेतृत्व ने विशाल आन्ध्र के तुरंत बनने की माँग स्वीकार की।

यहाँ भाषा और बोली के संबंध पर दो शब्द कह देना आवश्यक है। किसी भी देश में जातीय भाषा के विकास के साथ बोलियाँ खत्म नहीं हो जातीं। ब्रिटेन, फ्रांस जैसे उद्योग प्रधान देशों तक में वेल्श, प्रोवाँसाल आदि बोलियाँ कायम हैं जो व्याकरण, की दृष्टि से भी जातीय भाषा-अंग्रेज़ी या फ्राँसीसी - से भिन्न हैं। हमारे देश में ही तेलंगाना की तैलगू और विजयवाड़ा की तैलगू, पूर्वी बंगला और कलकत्ते की बंगला में अंतर है। इसका अर्थ यह नहीं कि पूर्वी बंगाल या तेलंगाना के लोगों की जातीय भाषा बंगला या तैलगू नहीं है। इसी तरह हिंदी की अनेक बोलियों का अस्तित्व यह साबित नहीं करता कि हिंदी हमारी जातीय भाषा नहीं है। जिन लोगों की जातीय भाषा हिंदी है, वे लोग चीनी जनता के बाद संसार की सबसे बड़ी जाति है। भारत की एक तिहाई जनता की भाषा हिंदी है। इसलिए हिंदी-भाषी जनता का अलगाव भारत की एक तिहाई जनता का अलगाव है। उसकी संगठित शक्ति एक तिहाई भारत की संगठित शक्ति होगी। हिंदी-भाषी जनता का संगठन और उसकी जातीय एकता सारे देश की जनता के संगठन और एकता के लिए आवश्यक है।

फिर भी लोग इस एकता से डरते हैं। तमाम हिंदी-भाषी जनता को एक राज्य में लाने के बदले वे उत्तर प्रदेश को भी दो हिस्सों में बाँटने की बात करते हैं। विभाजन के द्वारा संतुलन कायम रखना साम्राज्यवादियों की नीति रही है, देशभक्तों की नहीं। उत्तर

संस्कृति और जातीयता

प्रदेश का विभाजन किसी भी सैद्धांतिक कसौटी पर सही नहीं उतरता। उसका आधार केवल भय या ईर्ष्या हो सकती है। इस भय के कारण हैं। भारत के संविधान में जातियों की समानता और उनके अधिकारों की रक्षा का विधान नहीं है। जनतंत्र का अर्थ हर व्यक्ति को समान अधिकार देना ही नहीं है, उसका अर्थ प्रत्येक जाति को समान अधिकार देना भी है। जब तक भारत में लोकसभा के साथ एक जातीय परिषद् नहीं कायम होता, जिसमें हर जाति का समान प्रतिनिधित्व हो और जो लोक सभा के देशव्यापी कार्यों पर नियंत्रण रख सके, तब तक छोटी-बड़ी जातियों में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष बना ही रहेगा। यह ईर्ष्या द्वेष - भाषावार राज्य कायम हो जाने पर भी - भारतीय एकता में बाधक होगा। ईर्ष्या-द्वेष को दूर करने का उपाय जातियों की समानता और उनके अधिकारों की रक्षा है, न कि बड़ी जातियों को तोड़ कर छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट देना।

शासन की सुविधा के लिए छोटे राज्य बनाना कोई अर्थ नहीं रखता। हिंदी-भाषियों का एक राज्य बहुत बड़ा हो जायगा - या उत्तर प्रदेश ही बहुत बड़ा है - तर्कसंगत बात नहीं है। भारत की केंद्रीय सरकार ने सारे भारत पर शासन करने के लिए न जाने कितने अधिकार ले रखे हैं, उनमें कुछ कमी हो जाय तो जातियों का भला ही होगा। शासन तंत्र ऐसा होना चाहिए जिससे जातीय विकास में सहायता मिले, न कि उसमें बाधा पड़े। जनता का हित बड़े-बड़े राज्य कायम करने में है जहाँ वह सुविधापूर्वक सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति कर सके। इसीलिए यह आवश्यक नहीं है कि हर भाषा के लिए एक राज्य का निर्माण कर ही दिया जाय। सोवियत संघ में 60 से ऊपर भाषाएँ हैं, लेकिन वहाँ 16 राज्य ही स्थापित किये गए हैं। जिन भाषाओं के बोलने वाले बहुत बड़ी संख्या में नहीं हैं, उनके जातीय विकास के लिए मुख्य राज्यों के अंतर्गत स्वायत्त प्रदेश कायम किए गए हैं।

'जातियों के आत्मनिर्णय का अधिकार' नाम की पुस्तक में लेनिन ने बड़े राज्यों का लाभ बतलाते हुए लिखा है, 'जनता अपने दैनिक अनुभव से जानती है कि भौगोलिक और आर्थिक संबंधों का मूल्य क्या है और एक बड़े बाज़ार और एक बड़े राज्य के लाभ क्या हैं। इसलिए लोग अलग होना तभी पसंद करेंगे, जब जातीय उत्पीड़न और जातीय संघर्ष से सम्मिलित जीवन एकदम असंभव हो गया हो और सभी तरह के आर्थिक आदान-प्रदान में अड़चन पड़ती हो।' लेनिन ने यह बात उन बड़े राज्यों के लिए कही थी, जिनमें विभिन्न जातियों के लोग रहते थे। हिंदी-भाषी जनता का एक बड़ा राज्य कायम करने में तो विभिन्न जातियों का नहीं, एक ही जाति का सवाल है। वर्तमान काल में आर्थिक विकास की योजनाएँ बनाने और उन्हें अमल में लाने को लिए हिंदी-भाषी प्रदेश की एकता और भी आवश्यक है। बिहार का लोहा और कोयला, उत्तर-प्रदेश की मिलें,

हिंदी गद्य विविधा

मध्यभारत के पठार में रुई का उत्पादन और इन सबका योजना-बद्ध उपयोग हिंद-प्रदेश को उन्नत और समृद्ध बना सकता है।

जातियों की राजसत्ता की प्रतिष्ठा, उनकी भाषा में उनके राज्यगत जीवन का विकास, समाजवाद का उद्देश्य है। इसके विपरीत राज्यसत्ता के जीवाणुओं का नाश, जातियों का विभाजन और उनकी भाषाओं का दमन साम्राज्यवादियों, पूँजीपतियों और सामंतों की नीति है। भारत की अन्य बड़ी जातियों के समान देश की सबसे बड़ी जाति, हिंदी-भाषी जाति, का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह एक राज्य के अंतर्गत संगठित होकर अपना औद्योगिक और सांस्कृतिक विकास कर सके।

इस देश में अनेक भाषाएँ हैं, अनेक जातियाँ हैं, इन जातियों की अपनी-अपनी संस्कृति है। इन सभी जातियों की संस्कृतियों के सामान्य तत्वों का, उनके समुच्चय का नाम भारतीय संस्कृति है। भारत की जातियों से भिन्न भारतीय संस्कृति की सत्ता कहीं नहीं है। वर्गों की, जनसाधारण की संस्कृति की कुछ जातीय विशेषताएँ होती हैं। सामंत वर्ग इंग्लैंड में भी था, यहाँ भी रहा है लेकिन नायिका भेद का प्रसार यहाँ की सामंती संस्कृति की जातीय विशेषता है। सामंतकाल में जनसाहित्य यहाँ भी रचा गया है, यूरोप में भी, लेकिन संत साहित्य की कुछ अपनी जातीय विशेषताएँ हैं। आधुनिक युग में साहित्य शरच्चन्द्र ने भी रचा है, वल्लथोल और भारती ने भी लेकिन बहुत सी बातों में इनके समान होते हुए भी प्रेमचन्द की अपनी जातीय विशेषताएँ हैं। इसलिए संस्कृति की जातीय विशेषताओं के विकास के लिए जातीय गठन ज़रूरी है।

सामाजिक संगठन के बाहर न संस्कृति का अस्तित्व है, न भाषा का। जब हिंदी-भाषी जाति न थी, तब जातीय भाषा के रूप में हिंदी भी न थी। वह खड़ी बोली के रूप में एक जनपद तक सीमित थी और वहाँ भी उसका एक टकसाली रूप न था, वरन् मिलते-जुलते अनेक रूप थे। खड़ी बोली का प्रसार और निखार का काम अभी पूरा नहीं हुआ और तब तक पूरा न होगा, जब तक हमारे जातीय विकास और जातीय गठन का काम पूरा न होगा। इसके लिए जहाँ औद्योगिक विकास आवश्यक है, खेती की उन्नति आवश्यक है, शिक्षा का प्रसार आवश्यक है, वहाँ इन कार्यों का संगठन करने के लिए और समस्त जातीय जीवन का संचालन करने के लिए जातीय राज्यसत्ता भी आवश्यक है। जातीय-भाषा हिंदी की पूर्ण समृद्धि के लिए जातीय गठन आवश्यक है।

जातीय आंदोलनों में हर तरह के लोग शामिल होते हैं। इसलिए इन आंदोलनों का दिग्भ्रान्त होना अचरज की बात नहीं। हम सबसे बड़े हैं, हमारे साहित्य के आगे सब कुछ तुच्छ है, इस तरह के भाव अक्सर देखने-सुनने को मिलते हैं। इसी तरह सीमाओं को लेकर झगड़े खड़े करना, एकता और मेलजोल के बदले ईर्ष्या-द्वेष का प्रचार आदि भी है।

संस्कृति और जातीयता

इस तरह की दुर्भावनाओं से हम तभी बच सकते हैं जब यह याद रखें कि इस देश में हर जाति दूसरी को प्रभावित करती है, हर जाति का विकास दूसरी जातियों की सहायता और विकास पर निर्भर है। जातीय गठन के साथ अंतर्जातीय मैत्री पर ज़ोर देना भी आवश्यक है।

हिंदी-भाषी प्रदेश में जातीय आंदोलन पिछड़ा हुआ है। उत्तर प्रदेश के विभाजन की समस्या, हिंदी बनाम भोजपुरी-मैथिली आदि की समस्या, हिंदी-उर्दू की समस्या आदि हमारे जातीय जीवन के असंगठित होने के चिन्ह हैं। जितना ही प्रगतिशील विचारक इस जातीय आंदोलन को अपने आप बढ़ने के लिए छोड़ देंगे, उतना ही इस तरह की समस्याएँ और भी उलझती जायेंगी और नयी समस्याएँ खड़ी होती जायेंगी। इस तथ्य पर ज़ोर देना आवश्यक है कि हिंदी-भाषी जनता एक विशाल जाति है, उसके ऐतिहासिक विकास का सिलसिला कई सदियों से चल रहा है, हमारी भाषा और संस्कृति की उन्नति के लिए इस जाति का एक राज्य में संगठित होना आवश्यक है, इसका विशाल आकार शासन के लिए असुविधाजनक होने के बदले योजनाबद्ध सामाजिक विकास के लिए हितकर है, यह जातीय गठन न केवल हिंदी-भाषियों के लिए वरन् सारे देश के लिए हितकर है। आशा है, हिंदी लेखक और हिंदी प्रेमी पाठक इस समस्या की ओर उदासीन न रहेंगे।

जो लोग यह मानते हैं कि 19वीं सदी के आरंभ से पहले उत्तर भारत के समाज में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ, उनसे निवेदन है कि वे 16वीं-17वीं सदी में नये शहरों के उत्थान पर ध्यान दें, इस उत्थान का करण बतायें, भारत के आर्थिक जीवन में इन शहरों की भूमिका पर प्रकाश डालें, उस समय के ब्रिटेन के शहरों से इनकी तुलना करें और यह देखें कि इस समय यहाँ जो व्यापार बढ़ा, वह वैसा ही था जैसा पहले के सामंती समाज में था या उसका कुछ और महत्व था। जो लोग यह नहीं मानते कि हमारा जातीय निर्माण 16वीं सदी में आरंभ हुआ था, वे इस बात की व्याख्या करें कि ब्रजभाषा की कविता अपने क्षेत्र से बाहर जनसाधारण में क्यों लोकप्रिय हो रही थी, रामचरित मानस अवध के बाहर क्यों लोकप्रिय हो रहा था, तुलसीदास ब्रज और अवधी दोनों में क्यों लिख रहे थे, इस समय के कवियों की रचनाओं में अनेक बोलियों के शब्द और व्याकरण-रूप क्यों मिलते हैं? ऐसे सज्जन साहित्य की भी साखी लें और देखें कि संत साहित्य के सामंत विरोधी मूल्यों का सामाजिक आधार क्या है, वह साहित्य अनेक जनपदों की जनता का साहित्य बना था या नहीं और उसकी सामंत विरोधी जातीय चेतना को प्रकट करता है या नहीं। इस तरह आर्थिक जीवन, साहित्य-निर्माण और भाषा-विज्ञान तीनों की दृष्टि से 16वीं-17वीं सदी का समय हमारे जातीय उत्थान और जातीय गठन का युग ठहरता है।

हिंदी गद्य विविधा

जो लोग इस जातीय विकास और जातीय गठन का कार्य पूरा नहीं होने देना चाहते, उनसे निवेदन है कि वे इस तथ्य पर विचार करें कि हर संस्कृति की जातीय विशेषताएँ होती हैं, जातीय रूप होता है, हर भाषा की पूर्ण समृद्धि के लिए उसे बोलने वाली जाति का गठन आवश्यक होता है। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, भाषा और संस्कृति के विकास और समृद्धि को रोकना। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, किसी जाति के अंदर विद्यमान राज्यसत्ता के जीवाणुओं को कुचलना। भारत का विकास उसकी विभिन्न जातियों के विकास से ही संभव है। इसके लिए बड़ी संख्या वाली जातियों के राज्य बनाना, छोटी संख्या वाली जातियों के स्वायत्त प्रदेश कायम करना, प्रत्येक जाति को अपनी ही भाषा में शिक्षा पाने और अपना सांस्कृतिक जीवन संगठित करने का अधिकार देना आवश्यक है। एक जातीय प्रदेश के अंदर दूसरी भाषा और जाति के अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा भी आवश्यक है। इस तरह भारत सशक्त जातियों का संघ बन कर अजेय होगा। यदि जातियाँ असंतुष्ट होकर लड़ती रहेंगी तो देश कमजोर होगा। बड़ी जातियों से छोटी जातियों को भय न हो, इसके लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि सभी जातियों को समान प्रतिनिधित्व देने वाला ऐसा परिषद् कायम किया जाय जो लोकसभा के भारत व्यापी कार्यों पर नियंत्रण रख सके।

आज के भारत की एक अमिट सच्चाई है - विशाल हिंदी-भाषी जाति। इससे आँख चुरा कर कोई समस्या हल नहीं की जा सकती। अब समय आ गया है कि अपनी जातीय एकता कायम करने के लिए हिंदी-भाषी आगे बढ़ें।

15 .हरिशंकर परसाई और 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय'

जीवन परिचय

हरिशंकर परसाई का जन्म 22 अगस्त 1924 को मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के जमानी गाँव में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा उनकी स्थानीय पाठशालाओं और स्कूलों में हुई। उच्च शिक्षा के लिए वे नागपुर गए। वहीं से उन्होंने एम.ए. किया। फिर 'डिप्लोमा इन टीचिंग' की उपाधि हासिल की। कुछ सालों तक उन्होंने पढ़ाया भी। लेकिन बाद में नौकरी करने की बजाए मसिजीवी लेखक बनकर जीवनयापन करना ही उन्होंने श्रेयस्कर समझा। हिंदी में लेखन के आधार पर आजीविका चलाना आसान काम नहीं है। लेकिन परसाईजी जीवनपर्यंत अपने निश्चय पर अडिग रहे। जबलपुर से 'वसुधा' नाम की साहित्यिक मासिक पत्रिका का भी प्रकाशन उन्होंने किया। घाटे के बावजूद कई वर्षों तक उसका सफलतापूर्वक प्रकाशन होता रहा 'वसुधा' के साहित्यिक अवदान और लेखन के लिए जबलपुर विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट् की मानद उपाधि देकर सम्मानित किया। अनेक पत्र पत्रिकाओं में वर्षों तक उन्होंने स्तंभ लेखन किया। उन्हें कई अन्य पुरस्कारों से भी सम्मानित किया गया जिसमें 1982 में केन्द्रीय साहित्य अकादमी सम्मान भी शामिल है। उनकी रचनाओं को उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में भी साहित्य सम्मान मिला। उन्होंने विश्व शांति सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि मंडल के सदस्य के नाते सोवियत संघ की यात्रा भी की।

परसाईजी कई क्षेत्रों में लगातार सक्रिय रहे। वे मध्य प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के समय से ही अध्यक्ष मंडल के अध्यक्ष रहे। वे मजदूर आंदोलन से जुड़े हुए थे। अध्यापन के दौरान जीवन के विविधतापूर्ण अनुभवों ने उनके लेखन को ठोस सामाजिक आधार दिया। शिक्षक संघ की गतिविधियों से भी वे जुड़े रहे। परसाईजी का अगस्त 1995 में निधन हो गया।

साहित्यिक योगदान

श्री हरिशंकर परसाई चार दशकों से अधिक समय तक साहित्य लेखन में सक्रिय रहे। परसाईजी के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने कहानी और निबंध की विधा को निरंतर तोड़ा है। उनकी रचनाओं में कहानी, रिपोर्ताज, संस्मरण, रेखाचित्र, पत्र

हिंदी गद्य विविधा

लेखन, साक्षात्कार, आत्मकथा, निबंध, आदि विधाओं की विशेषताओं का समुच्चय मिलता है। लेकिन उनके लेखन का केंद्रीय तत्व है - व्यंग्य। व्यंग्य को आमतौर पर लेखन की शैली माना जाता रहा है, लेकिन परसाईजी ने उसे स्वतंत्र विधा का रूप दे दिया।

परसाईजी की रचनाओं में ताजगी और मौलिकता है। वे रोजमर्रा जीवन के भीतर से समस्याओं और सामाजिक आचारण से जुड़े प्रश्नों को उठाते हैं। इनमें हमारे संपर्क में आने वाले कई तरह के लोग भी शामिल हैं। उनके तरह-तरह के आचरण हैं और अपनी आकांक्षाएँ हैं, कुंठाएँ हैं, नैतिक संकट हैं और तरह-तरह के बद्धमूल संस्कार हैं। विभिन्न विधाओं के पारस्परिक अन्तरावलंबन के जरिए व्यंग्य उभारना उनकी लेखन क्षमता की सबसे बड़ी विशेषता है।

हरिशंकर परसाई के संदर्भ में परंपरागत बनावट को तोड़ना जरूरी हो जाता है। परसाईजी ने व्यंग्य के माध्यम से इन सभी क्षेत्रों में जारी प्रतिगामिता और रूढ़िवाद को तोड़ा है। उनकी प्रत्येक रचना अपने समय और उससे जुड़े संदर्भों का उत्पादन होती है। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि रचना में निहित लेखकीय संदेश को समझने के लिए उस समय और संदर्भ को ध्यान में रखें।

परसाईजी जिस तरह के जीवनानुभवों से प्रेरित होकर व्यंग्य लेखन की ओर उन्मुख हुए, वे जनपक्षीय, प्रगतिशील और मानवीय करुणा से ओतप्रोत लेखन के आधार होते हैं। यहाँ यह भी समझना जरूरी है कि निजी अनुभवों से उत्पन्न तल्खी किसी लेखक को महान् रचनाकार नहीं बनाती, जब तक कि वह अपने उन अनुभवों को सामाजिक वास्तविकताओं के परिप्रेक्ष्य में रखकर नहीं जांचता-परखता। रचना में व्यंग्य का जन्म यथार्थ में निहित असंगति और अंतर्विरोध की पहचान तथा उनकी अभिव्यक्ति के माध्यम से होता है। यथार्थ में अंतर्विरोध की पहचान सरल नहीं होती क्योंकि यथार्थ जितना अधिक जटिल है, उसके अंतर्विरोधी पहलू भी उतने ही अंतर्ग्रथित होते हैं। जब रचनाकार के सम्मुख यथार्थ की जटिलता उद्घाटित होने लगती है तो वह उस जटिलता के कारणों को पहचानने की प्रक्रिया में, उसमें निहित असंगतियों, अंतर्विरोधों और विषमताओं को पहचानने लगता है। वह उन प्रयासों को भी देखता है जिनके द्वारा समाज का शक्तिशाली वर्ग इन पर आवरण डालने की कोशिश करता है। वह इन स्थितियों में निहित विडंबना को पहचान जाता है और उसके अंदर गहरा आक्रोश जन्म लेता है। यही आक्रोश रचना में व्यंग्य बनकर फूटता है।

परसाईजी अपनी रचनाओं में प्रायः मध्यवर्गीय चरित्र लेते हैं। इस व्यंग्य निबंध में भी मध्यवर्गीय चरित्र ही केंद्र में है। उनमें जो द्वैतता और छद्म है उसको वे व्यंग्य का निशाना बनाते हैं। इसके साथ ही वे समाज के प्रभुवर्ग पर भी तीखा व्यंग्य करते हैं,

तीसरे दर्जे के श्रद्धेय

लेकिन इस वर्ग पर उनके व्यंग्य में आक्रोश और गुस्सा भी अभिव्यक्त होता है। व्यंग्य के लिए वे कथ्य, चरित्र, भाषा और शैली सभी का प्रयोग करते हैं। इसीलिए उनकी रचनाओं में व्यंग्य उसके आंतरिक गठन में निहित होता है, ऊपर से आरोपित नहीं लगता।

परसाईजी का व्यंग्य हास्य के लिए नहीं है बल्कि अपने पाठकों को सामाजिक विषमताओं के प्रति सावधान और जागरूक बनाने के लिए है। उनका लेखन उनके विचारों का वाहक है जिसे उनके संपूर्ण लेखन में अभिव्यक्त होता हुआ पाते हैं। परसाईजी की रचनाओं पर विचार करते हुए इस पक्ष को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

परसाईजी का संपूर्ण लेखन छह खंडों में विभाजित 'परसाई रचनावली' में संकलित है। वैसे उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

कहानी संग्रह : 'हँसते हैं रोते हैं', 'जैसे उनके दिन फिरे'।

उपन्यास : 'रानी नागफनी की कहानी', 'तट की खोज'।

निबंध संग्रह : 'तब की बात और थी', 'भूत के पाँव पीछे', 'बेईमानी की परत', 'पगडंडियों का जमाना', 'सदाचार का ताबीज', 'शिकायत मुझे भी है', 'वैष्णव की फिसलन', 'विकलांग श्रद्धा का दौर'।

अन्य विधाएँ : 'निठल्ले की डायरी', 'तिरछी रेखाएँ', 'एक लड़की पाँच दीवाने', 'बोलती रेखाएँ', 'माटी कहे कुम्हार से', 'पाखंड का अध्यात्म तथा 'सुनो भाई साधो'।

रचना के बारे में

'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' हरिशंकर परसाई की प्रतिनिधि निबंध रचना है। यह निबंध उनके संग्रह 'वैष्णव की फिसलन' में संकलित है। परसाई ने व्यंग्यपरक निबंधों को उत्कर्षता प्रदान की। इस क्षेत्र के वे श्रेष्ठ हिंदी रचनाकार हैं। उनके निबंध का विषय राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक होता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत की सामाजिक और राजनीतिक विषमता को उन्होंने अपने निबंधों का विषय बनाया है। 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' का रचनाकाल स्वतंत्रता की पच्चीसवीं वर्षगांठ के समय यानी 1972 ई. के आसपास का है।

'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' में निबंधकार ने मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग की सुविधाभोगी मानसिकता पर तीखा प्रहार किया है। सत्य, न्याय और क्रांति पर प्रवचन देने वाले बुद्धिजीवी पर लेखक का सीधा-सीधा कटाक्ष है जिसकी कथनी और करनी में बहुत बड़ा अंतर दिखाई देता है। बुद्धिजीवी की दोहरी नैतिकता को प्रकाश में लाने के लिए इस निबंध की रचना हुई है।

हिंदी गद्य विविधा

लेखक द्वारा अपने समय की समस्याओं पर विचार करना उसका सामाजिक और रचनात्मक दायित्व है। परसाईजी ऐसे ही लेखक हैं जो अपनी समकालीन समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में साहित्य रचते रहे हैं। 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' में स्वतंत्रता की पच्चीसवीं वर्षगांठ पर देश के राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक स्थितियों का आकलन किया गया है। बड़े-बड़े दावे करने वाला बुद्धिजीवी किस तरह मामूली स्वार्थों के लिए समझौता करता है। सामाजिक परिवर्तन और नैतिकता की बात करने वाला बुद्धिजीवी चंद रुपये बचाने के लिए तीसरी श्रेणी में यात्रा करता है और प्रथम श्रेणी का किराया वसूलता है। कथनी और करनी का यह अंतराल उसकी बौद्धिक जड़ता और पाखंड का प्रमाण है। ऐसे लोग समाज को क्या दिशा दे सकते हैं। वे आम आदमी को अपने कथन और कर्म से कैसे प्रभावित कर सकते हैं। यही वह केंद्रीय प्रश्न है जो लेखक को कचोटता है और इसी से इस व्यंग्य निबंध का जन्म हुआ है। हरिशंकर परसाई ने जब यह निबंध लिखा था, तब से स्थितियाँ और बदतर हुई हैं। बुद्धिजीवी वर्ग का पाखंड और दोहरी नैतिकता का आडंबर और बढ़ा है। यही कारण है कि इस निबंध की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

हरिशंकर परसाई निबंध में अपनी तरह से एक नयी राह को चुनते हैं। उनके निबंध में कई तरह के संश्लिष्ट अनुभव हमें प्राप्त होते हैं। उन्होंने व्यंग्य से निबंध को इतना अधिक वास्तविक बना दिया है कि निबंध के पुराने प्रतिमान उनके सामने बौने नजर आते हैं। 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' में वे अपनी बात जीवन के वास्तविक अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। वे अपनी बात की शुरुआत अपने एक यात्रा-अनुभव से करते हैं। आत्मालोचना अपने वर्ग में व्याप्त पाखंड पर व्यंग्य करने का प्रभावशाली तरीका है। लेखक से वे पूरे बुद्धिजीवी वर्ग पर आते हैं और उसकी आत्महीनता को रखते हैं। बुद्धिजीवी के बहाने विश्वविद्यालयों और उनके पाठ्यक्रमों को अपना निशाना बनाते हैं। बुद्धिजीवी के दोहरे मानदण्ड को सामने रखते हैं। स्वतंत्रता के पच्चीस वर्ष बाद भी समाज के प्रतिमान नहीं बदले। उसके नजरिए में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इस पर वे गहरी चिंता व्यक्त करते हैं। राजनीति के खोखले नारे और इस नारे के भीतर दम तोड़ता हुआ कथित समाजवाद उस समय की सच्चाई है। भ्रष्टाचार, अनिश्चय और अविश्वास यही हमारी पीढ़ी की अर्जित संपत्ति है। यह चिंता परसाईजी के निबंध में बराबर व्यक्त हुई है।

परसाईजी के निबंधों की अपनी निजी शैली है। निबंध की समूची बनावट में उनकी मौलिकता और नवीनता झलकती है। वे व्यंग्य के माध्यम से कहानी और निबंध दोनों की परंपरागत बनावट को तोड़ते हैं। 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' में भी हमें कहानी, निबंध, आत्मकथा और यात्रा संस्मरण आदि विधाओं के तत्वों को जोड़कर वे इस निबंध को नये प्रकार से रचते हैं। लेकिन इन विधाओं की विशेषताओं का उपयोग वे व्यंग्य को उभारने और प्रभावशाली बनाने के लिए करते हैं। परसाईजी के निबंध में जिस समाज का चित्र है

तीसरे दर्जे के श्रद्धेय

भाषा भी उसी की बोल-चाल में ढली हुई है। भाषा में खालिस देशी बोली के तेवर हैं। हरिशंकर परसाई के लेखन का महत्व व्यंग्य की ऊर्जा के विस्फोट में है। व्यंग्य की उनकी भाषा संप्रेषणीय भी है और सर्जनात्मक भी।

शब्दावली

मेजबान : किसी आयोजन को आयोजित करने वाला

ज्यार्ज लुकाच - प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक और चिंतक।

निर्देशक सिद्धांत - भारतीय संविधान के अन्तर्गत नीति निर्देशक तत्व जिससे कार्यपालिका को मार्ग निर्देशन प्राप्त होते हैं।

जचकी : वह अवधि जब स्त्री के बच्चा होने वाला होता है और बच्चा होने के बाद जितने दिन तक वह घर के कामों से अलग रहती है। इस अवधि में माँ को खाने-पीने के लिए पौष्टिक आहार दिया जाता है।

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. 'श्रद्धेय के भी दर्जे होते हैं। तीसरे दर्जे का श्रद्धेय प्रेरणा नहीं देता। वह शर्म देता है। गांधीजी की बात अलग थी। वे तीसरे को भी पहले दर्जे की महिमा दे देते थे। हम तो पहले दर्जे में बैठकर भी तीसरे की हीनता अनुभव करते हैं। संत और बुद्धिजीवी में यही फर्क है। मुझे विशेष सावधान रहना पड़ता है।
2. लौटते में मैं तीसरे दर्जे में यह कहकर बैठ जाता हूँ कि पहला दर्जा रात को असुरक्षित रहता है। यही बुद्धिजीवी की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था है, जो देश की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप ही है। देश के प्रति बुद्धिजीवी बहुत जागरूक है। वह पहले दर्जे से उतरता और तीसरे में चढ़ता है।
3. सोचता हूँ - मुझे हो क्या गया है? इतना अनिश्चय, इतना अविश्वास! क्या आज़ादी के पच्चीस वर्षों ने यही अनिश्चय और अविश्वास की मानसिकता दी है हमारी पीढ़ी को? और यही हम आगामी पीढ़ी को विरासत में दे रहे हैं?
4. जिस रास्ते पर चल रहे हैं, वह 'समाजवाद मार्ग' है, पर ले कहीं और जा रहा है। महात्मा गांधी मार्ग पर सारे ठग रहते हैं। रवीन्द्र मार्ग पर बूचड़खाना खुला है। परीक्षा में कोई बैठता है, और पास दूसरा हो जाता है। सारे देश में शक्कर के दाम दो रुपये किलो निश्चित किये गए हैं, पर इस घोषणा के बाद ही उसका दाम चार रुपये से बढ़कर सवा चार रुपये हो जाता है। सहकारी दूकान के सामने कतार लगी है और पीछे के दरवाज़ों से चीज़ें कालाबाजार में चली जा रही हैं। क्षेत्र में काम कोई करता है और टिकिट दूसरे को मिल जाती है। हम

हिंदी गद्य विविधा

किसी को महान् भ्रष्टाचारी घोषित करते हैं और वह सदाचार-अधिकारी बना दिया जाता है।

व्याख्या का उदाहरण

पच्चीस सालों से क्या-क्या नहीं चिपका है इस देश में! संविधान के निर्देशक सिद्धांत चिपके हैं। पर अमल नहीं। चिपका है गांधीजी का वाक्य - 'स्वराज्य में हर आँख का आँसू पोंछा जायगा'। मगर यही तय नहीं हो पा रहा कि रुला कौन रहे हैं। पचपन करोड़ के हाथों में एक-एक रुमाल दे दिया गया है कि लो, एक दूसरे के स्वराज्य के आँसू पोंछो। चिपके कागज़ का क्या भरोसा। समाजवादी ढंग का नारा चिपका था। पर काम सब बेढंग हो रहा था। फिर 'जनतांत्रिक समाजवाद' चिपक गया। फिर 'समाजवाद' चिपका। अब 'गरीबी हटाओ' चिपका है। मगर कीमतें बढ़ रही हैं। चिपके कागज़ का कोई भरोसा नहीं रह गया।

व्याख्या-संकेत

यदि आपने निबंध पढ़ लिया है तो आपने जान लिया है कि यह अंश हरिशंकर परसाई के व्यंग्य निबंध 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' में से लिया गया है। परसाईजी का यह व्यंग्य निबंध उस कथित बुद्धिजीवी पर तीक्ष्ण प्रहार करता है जो बातें तो क्रांति की करता है, लेकिन जिसका आचरण उसके विपरीत होता है।

उपर्युक्त अंश में निबंधकार अपने से संबंधित एक घटना का उल्लेख करते हुए अपने मन में पैदा हुए भ्रम को तत्कालीन हालात से जोड़ देता है। वह गाड़ी पकड़ने के लिए स्टेशन पर इंतजार कर रहा है। अधिकारियों से वह गाड़ी के आने का समय पूछता है, वहाँ नोटिस बोर्ड पर लगे टाइम-टैबिल में भी देखता है, फिर भी उसे विश्वास नहीं होता। नोटिस बोर्ड पर चिपके हुए टाइम-टेबिल पर भरोसा करे या नहीं इसी पर विचार करता हुआ लेखक आजादी के पच्चीस साल बाद की स्थितियों पर विचार करता है। इस अंश का यही संदर्भ है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश का संविधान बना। उसमें नीति-निर्देशक सिद्धांत लिखे हुए हैं जिनके अनुसार कार्यपालिका (सरकार) को काम करना चाहिए। लेकिन सरकारें उन नीति-निर्देशक सिद्धांतों पर अमल तो दूर उनकी परवाह भी नहीं करती। लेखक गांधीजी के एक कथन कि आजादी प्राप्त होने के बाद 'हर आँख का आँसू पोंछा जायगा' उसे भी भूल दिया गया। अपने व्यंग्यात्मक अंदाज़ में वे यह प्रश्न करते हैं कि अभी तो यही तय नहीं है कि 'रुला कौन रहे हैं' जाहिर है कि लोगों के दुख-दर्द दूर होने की बजाए उन्हें दूसरी-दूसरी बातों से गुमराह किया जा रहा है। एक तरफ स्वराज्य की बात है तो दूसरी तरफ समाजवाद की। लेकिन न तो आम आदमी को स्वराज्य मिला और न ही समाजवाद

तीसरे दर्जे के श्रद्धेय

आया। सभी काम उससे उलट ही होते रहे। लेखक अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहता है कि अब जब गरीबी हटाओं का नारा दिया जा रहा है तो वास्तव में कीमतें बढ़ रही हैं। एक लोकतांत्रिक देश में यदि कथनी और करनी में इतना अंतर हो तो इससे जनता की परेशानियाँ कितनी बढ़ जाएगी, इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

भारत के आजाद होने के बाद जो सरकारें बनी उन्होंने लोकतंत्र, समाजवाद और गरीबी हटाने के जो वादे किए वे कभी पूरे नहीं हुए। यहाँ इसी बात को लेखक ने व्यंग्य द्वारा कहा है। स्टेशन पर टाइम टेबल का चिपका होना और गाड़ी का उसके अनुसार न पहुँचना यहाँ ऐसा रूपक बन जाता है जो उस समय की राजनीतिक स्थितियों पर व्यंग्य का माध्यम बन जाता है। चिपकना क्रिया के द्वारा वे उन सिद्धांतों के चिपकने से जोड़ देते हैं जो दुकान पर साइनबोर्ड की तरह लगा तो है लेकिन जिस पर लिखी बातों का कोई अर्थ नहीं रह गया है। राजनीतिक अंतर्विरोध को उभारते हुए देश की विडंबनापूर्ण स्थिति का चित्रण करते हुए वे व्यंग्य उभारते हैं। इन बातों के परिप्रेक्ष्य में आप उपर्युक्त अंश की भाषा और शैली संबंधी विशेषताओं को उजागर कर सकते हैं।

सहायक पुस्तकें

परसाई रचनावली (छह भाग), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूल पाठ : निबंध

तीसरे दर्जे के श्रद्धेय

बुद्धिजीवी बहुत थोड़े में संतुष्ट हो जाता है। उसे पहले दर्जे का किराया दे दो ताकि वह तीसरे में सफर करके पैसा बचा ले। एकाध माला पहना दो, कुछ श्रोता दे दो और भाषण के बाद थोड़ी तारीफ - वह मान जाता है, इतने में। मैं भी विश्वविद्यालय में भाषण देकर संतुष्ट था। उस शहर से बीस मील इधर के स्टेशन से मैं तीसरे से पहले दर्जे में आ गया था, जिससे मेज़बानों को बुद्धिजीवी को तीसरे दर्जे से उतारने की शर्म न झेलनी पड़े। मैं दरवाज़े पर हेण्डिल पकड़े तब तक खड़ा रहा, जब तक उन्होंने मुझे देख नहीं लिया। ऐसा हो चुका है कि स्वागतकर्ता मुझे पहले दर्जे में तलाश कर रहे हैं और मैं चुपचाप तीसरे दर्जे से उतरकर उनका इंतज़ार कर रहा हूँ। जब वे मिलते हैं, तो दोनों पार्टियों को शर्म महसूस होती है। वे सोचते हैं कि थर्ड क्लासिये को बुला लिया। और मैं सोचता हूँ - इन्होंने मुझे पकड़ लिया। कभी मौका मिला तो नज़र बचाकर प्लेटफार्म पर तीसरे दर्जे के सामने से सरककर पहले के सामने आ जाता हूँ और फिर बाबू को टिकिट इस तरह देता हूँ कि मेज़बान जान न सके कि वह तीसरे दर्जे का है।

'श्रद्धेय के भी दर्जे होते हैं। तीसरे दर्जे का श्रद्धेय प्रेरणा नहीं देता। वह शर्म देता है। गांधीजी की बात अलग थी। वे तीसरे को भी पहले दर्जे की महिमा दे देते थे। हम तो पहल दर्जे में बैठकर भी तीसरे की हीनता अनुभव करते हैं। संत और बुद्धिजीवी में यही फर्क है। मुझे विशेष सावधान रहना पड़ता है। पाठ्यक्रम में आ गया हूँ। कोर्स का लेखक हो गया हूँ। कोर्स का लेखक वह पक्षी है, जिसके पाँवों में घुंघरू बाँध दिये गए हैं। उसे तुमककर चलना पड़ता है। ये आभूषण भी हैं और बेड़ियाँ भी। रायल्टी मिलने लगती है तो जी होता है कि 'सत्साहित्य' ही लिखो, जिससे लड़के-लड़कियों का चरित्र बने। उसे आचार्यगण तुरंत गले लगा लेंगे। परेशानी यही है कि 'सत्साहित्य' कुल आठ-दस वाक्यों में आ जाता है, जैसे - सत्य बोलो, किसी को कष्ट मत दो, ब्रह्मचर्य से रहो, परायी स्त्री को माता समझो, आदि।'

एक तो बुद्धिजीवी, फिर कोर्स का बुद्धिजीवी - मुझे विशेष सावधान रहना पड़ता है। कितना ही प्रखर बुद्धिजीवी हो, अगर तीसरे दर्जे से उतरता हुआ देख लिया जाता है, तो उसका मनोबल घट जाता है। तीसरे दर्जे से उतरा और बुद्ध (नहीं अबुद्ध) शाकाहारी होटल में ठहरा बुद्धिजीवी आधा बुझ जाता है। मैं मनोबल बनाये रखने के लिए पन्द्रह-बीस मील पहले तीसरे से पहले दर्जे में आ जाता हूँ और पेट चाहे पचा न सके, अच्छे मांसाहारी होटल में ठहरता हूँ। पहला दर्जा और गोश्त बुद्धिजीवी को प्रखर बनाते हैं।

तीसरे दर्जे के श्रद्धेय

लौटते में मैं तीसरे दर्जे में यह कहकर बैठ जाता हूँ कि पहला दर्जा रात को असुरक्षित रहता है। यही बुद्धिजीवी की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था है, जो देश की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप ही है। देश के प्रति बुद्धिजीवी बहुत जागरूक है। वह पहले दर्जे से उतरता और तीसरे में चढ़ता है।

मेरे भाषण का विषय था - 'आजादी के पच्चीस वर्ष' सामने लड़कियाँ बैठी थीं, जिनकी शादी बिना दहेज के नहीं होने वाली थी। बैल की तरह मार्केट में उनके लिए पति खरीदना ही होगा। वर का बाप जचकी तक का खर्च जोड़कर ले लेगा। स्त्री के लिए अभी भी पत्नी के पद पर नौकरी सबसे सुरक्षित जीविका है। और लड़के बैठे थे, जिन्हें डिग्री लेने के बाद सिर्फ सिनेमा-घर पर पत्थर फेंकने का काम मिलने वाला है। आजादी के पच्चीस वर्षों का यही हिसाब है। पर पिछले दो वर्षों से कहा जा रहा है कि देश में क्रांति हो रही है। बुद्धिजीवी इसे समझे और इस प्रक्रिया में सहयोगी बने। बुद्धिजीवी को क्रांति की बात करने में क्या लगता है। वह सारा गुस्सा सरकार पर उतार देता है। इससे वाहवाही मिलती है, वह साहसी कहलाता है, लोकप्रिय होता है- मगर यह छद्म क्रांतिकारिता है। ऐसा लेखक सरकार पर नाटकीय हमले करके सारी क्रांतिविरोधी बुर्जुआ ताकतों को बचा लेता है। इस तरह वह बुर्जुआसमर्थक हो जाता है। लुकाच का तो यही निष्कर्ष है। माँग है तो मैंने क्रांतिकारिता की बात की। तीन पहले दर्जे का किराया और पेट में मुर्गा बुद्धिजीवी को क्रांतिकारी बना देता है। मुर्गा दिन में सबसे पहले क्रांति का आह्वान करता है। क्रांति की बाँग देता है और फिर घूड़े पर दाने बीनने लगता है। भारतीय बुद्धिजीवी का भी यही हाल है। क्रांति की बाँग, घूड़े पर दाने चुगना और हलाल होने का इंतज़ार करना। यों दूध और कलाकंद खानेवाले (नहीं सेवन करनेवाले) भी अपने को क्रांतिकारी बुद्धिजीवी कहते हैं, पर मैं नहीं मानता।

लौटने के लिए स्टेशन पहुंचा तो टहलते हुए सोचने लगा - इन पच्चीस वर्षों ने क्या दिया? इस समय मेरी क्या चिंता है। क्या मैं क्रांति की बात सोच रहा हूँ? नहीं, मुझमें यात्रा की घबराहट है। बर्थ की घबराहट है। मैं बार-बार टिकिट निकालकर देखता हूँ। आज का ही है? कहीं जाली तो नहीं है? रिजर्वेशन सही है कि नहीं? कोई भरोसा नहीं।

मुझे गाड़ी के समय की चिंता है। मैं चिपका हुआ टाइम-टेबिल देखता हूँ। कहीं ऐसा तो नहीं है कि गाड़ी निकल गयी हो। टाइम-टेबिल देखता हूँ। पर मुझे इस पर भरोसा नहीं। यह पुराना भी हो सकता है। मैं वहीं खड़े बाबू से पूछता हूँ। वह कहता है, 'आपने अभी तो वह चिपका हुआ टाइम-टेबिल देखा है।' मैं कहता हूँ, 'चिपके का क्या भरोसा! पच्चीस सालों से क्या-क्या नहीं चिपका है इस देश में! संविधान के निर्देशक सिद्धांत चिपके हैं। पर अमल नहीं। चिपका है गांधीजी का वाक्य - 'स्वराज्य में हर आँख

हिंदी गद्य विविधा

का आँसू पोंछा जायगा'। मगर यही तय नहीं हो पा रहा कि रुला कौन रहे हैं। पचपन करोड़ के हाथों में एक-एक रुमाल दे दिया गया है कि लो, एक दूसरे के स्वराज्य के आँसू पोंछो। चिपके कागज़ का क्या भरोसा। समाजवादी ढंग का नारा चिपका था। पर काम सब बेढंगा हो रहा था। फिर 'जनतांत्रिक समाजवाद' चिपक गया। फिर 'समाजवाद' चिपका। अब 'गरीबी हटाओ' चिपका है। मगर कीमतें बढ़ रही हैं। चिपके कागज़ का कोई भरोसा नहीं रह गया।

बाबू मुझे गाड़ी का समय बताता है। पर मैं एक बाबू पर भरोसा नहीं करता। एक पर भरोसा करके नागपुर में भुगत चुका हूँ। उसने कहा था कि यह गाड़ी बैतूल रुकती है। पर बाद में मालूम हुआ कि नहीं रुकती। मैं दूसरे बाबू से पूछता हूँ। थोड़ा आश्वस्त होता हूँ।

मैं अब काले तख्ते पर देखता हूँ। लिखा है - 'राइट टाइम'। मुझे भरोसा नहीं होता। कल का लिखा हो और मिटाया न गया हो। या कोई और गाड़ी 'राइट टाइम' हो लेकिन लिख इसके सामने दिया गया हो। मैं फिर दो बाबुओं से पूछता हूँ जो कहते हैं कि गाड़ी 'राइट टाइम' है। फिर भी मुझे विश्वास नहीं होता। गाड़ी समय से पहले भी आ सकती है और लेट भी।

अब मुझे समय की चिंता लग गयी है। रेलवे की घड़ी का भरोसा नहीं। महीनों बन्द पड़ी रहती हैं ये घड़ियाँ। अपनी घड़ी देखता हूँ, पर उस पर भी मुझे भरोसा नहीं। पता नहीं, कब चाबी दी। फिर इन घड़ियों का कोई ठिकाना है। मैं एक-दो लोगों से समय और पूछ लेता हूँ।

अब मैं प्लेटफार्म पर खड़ा गाड़ी का इंतज़ार कर रहा हूँ। मैं जानता हूँ, गाड़ी पूर्व से आती है, पर मैं पश्चिम की तरफ भी देखता हूँ। दोनों तरफ से गाड़ी का इंतज़ार करता हूँ। कोई ठिकाना नहीं है। पूर्व से आने वाली गाड़ी पश्चिम से भी आ सकती है।

सोचता हूँ - मुझे हो क्या गया है? इतना अनिश्चय, इतना अविश्वास! क्या आज़ादी के पच्चीस वर्षों ने यही अनिश्चय और अविश्वास की मानसिकता दी है हमारी पीढ़ी को? और यही हम आगामी पीढ़ी को विरासत में दे रहे हैं?

जिस रास्ते पर चल रहे हैं, वह 'समाजवाद मार्ग' है, पर ले कहीं और जा रहा है। महात्मा गांधी मार्ग पर सारे ठग रहते हैं। रवीन्द्र मार्ग पर बूचड़खाना खुला है। परीक्षा में कोई बैठता है, और पास दूसरा हो जाता है। सारे देश में शक्कर के दाम दो रुपये किलो निश्चित किये गए हैं, पर इस घोषणा के बाद ही उसका दाम चार रुपये से बढ़कर सवा चार रुपये हो जाता है। सहकारी दूकान के सामने कतार लगी है और पीछे के दरवाज़ों से

तीसरे दर्जे के श्रद्धेय

चीज़ें कालाबाजार में चली जा रही हैं। क्षेत्र में काम कोई करता है और टिकिट दूसरे को मिल जाती है। हम किसी को महान् भ्रष्टाचारी घोषित करते हैं और वह सदाचार-अधिकारी बना दिया जाता है।

अनिश्चय और अविश्वास!

दवा की शीशी पर नाम सही है, पर पता नहीं क्या खा रहे हैं। 'हनुमानभक्त' मेरा एक मित्र कहता है, 'अब आदमी पर भरोसा नहीं रहा। कुछ निश्चित नहीं है। अब तो हनुमानजी से प्रार्थना करते हैं कि अब के जब राम के काम से गन्ध-मादन जाओ तो हमारे लिए भी पेचिश की दवा लेते आना।'

गाड़ी आती है। तीसरे दर्जे के श्रद्धेय जब अपनी सुरक्षित बर्थ पर जाते हैं, तो देखते हैं कि वहाँ कोई दूसरा बिस्तर फैला रहा है।

16 . महादेवी वर्मा और 'ठकुरी बाबा'

जीवन परिचय

छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा का जन्म 24 मार्च सन् 1907 ई. को फर्रुखाबाद जिले में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री गोविन्द प्रसाद वर्मा और माता का श्रीमती हेमरानी देवी था। पिता इंदौर के 'डेली' कॉलेज में प्राध्यापक थे। सन् 1912 में इंदौर के एक मिशन स्कूल में महादेवी की शिक्षा आरंभ हुई। इसके साथ-साथ एक पंडित, एक मौलवी, एक चित्रकला शिक्षक और एक संगीत शिक्षक के माध्यम से इन्हें विभिन्न भाषाओं एवं कलाओं में शिक्षा दी जाने लगी। 1916 में मात्र नौ वर्ष की आयु में इनका विवाह स्वल्पनासयण वर्मा के साथ संपन्न हुआ। महादेवी के जीवन में कुछ समय तक शिक्षा में व्यवधान उपस्थित हो गया।

महादेवी ने 1921 में मिडिल की परीक्षा पास की। 1925 में हाई स्कूल और 1929 में बी.ए. की परीक्षा पास की। इसी बीच अस्वस्थ हो जाने के कारण एक वर्ष तक इनका अध्ययन क्रम स्थगित रहा। इन्होंने अपना समय भ्रमण में बिताया। 1932 ई. में महादेवी वर्मा ने प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. किया। एम.ए. करने के बाद प्रयाग महिला विद्यापीठ में प्रधानाचार्य पद पर नियुक्त हुईं। बाद में, 1960 ई. में वे महिला विद्यापीठ की कुलपति नियुक्त हुईं।

बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद महादेवी वर्मा ने गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने से इंकार कर दिया। पहले उनका विचार बौद्ध भिक्षुणी बनने का था, लेकिन बाद में यह विचार त्याग दिया। जीवन पर्यन्त अकेले रहते हुए वे साहित्य और समाज की सेवा में तल्लीन रहीं। अपनी साहित्यिक सेवाओं के लिए उन्हें समय-समय पर पुरस्कृत और सम्मानित भी किया गया। 1952 में उत्तर-प्रदेश की विधान परिषद की सदस्या मनोनीत की गई थीं। 1954 में स्थापित साहित्य अकादमी की संस्थापक सदस्या चुनी गईं। 1955 में साहित्यकार संसद के मुख पत्र 'साहित्यकार' का प्रकाशन श्री इलाचंद्र जोशी के साथ किया। नाटक संस्थान 'रंगवाणी' की स्थापना की। 1956 में पद्मभूषण से सम्मानित किया गया। 1963 में लेखिका संघ, दिल्ली की ओर से राष्ट्रपति डॉ. राजाकृष्णन द्वारा सम्मान प्राप्त किया। 1969 में विक्रम विश्वविद्यालय द्वारा डी.लिट् की उपाधि से विभूषित

हुई। 1976 में उत्तर-प्रदेश सरकार से 'विशिष्ट साहित्य' पुरस्कार प्राप्त किया। 1981 में साहित्य अकादमी की सम्मानित सदस्या (फेलोशिप) बनाई गई। 1982 में उत्तर-प्रदेश हिंदी संस्थान से प्रथम भारत-भारती पुरस्कार प्राप्त किया। 1983 में 'यामा' के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। 1984 में बनारस विश्वविद्यालय से डी लिट् की उपाधि प्राप्त की। 11 सितम्बर 1987 को महादेवी वर्मा का निधन हुआ।

साहित्यिक योगदान

आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास में छायावाद का स्थान सर्वोपरि है। छायावादी काव्यधारा के चार प्रमुख कवियों प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा का हिंदी कविता में विशिष्ट स्थान है। इनमें भी महादेवीजी की अपनी अलग पहचान है। उन्हें आधुनिक मीरा के रूप में याद किया जाता है। लेकिन महादेवीजी सिर्फ कवयित्री नहीं थीं। वे उतनी ही उच्च कोटि की गद्यकार भी थीं। कई आलोचकों और विद्वानों के अनुसार उनका गद्यकार उनके कवि से कहीं ज्यादा ऊपर है। गद्य के क्षेत्र में उनके लिखे रेखाचित्र, संस्मरण और निबंध हिंदी साहित्य की अमूल्य धाती हैं। 'ठकुरी बरुा' ऐसा ही एक रेखाचित्र है जिसके माध्यम से महादेवी ने सामान्य जन की शक्ति और मानवीय उत्कर्षता को शब्दबद्ध किया है।

महादेवी नारी स्वातंत्र्य की पक्षधर थीं। साहित्य के क्षेत्र में नारी मुक्ति का स्वर सुनाई पड़ने लगा था, लेकिन ऐसी लेखिकाएँ बहुत कम थीं जिन्होंने इसको अपने लेखन का वैचारिक आधार बनाया हो। हिंदी ही नहीं भारतीय साहित्य में भी महादेवी वर्मा संभवतः पहली लेखिका हैं, जिन्होंने नारी जीवन के यथार्थ को इतनी गहरी संवेदना और संतुलित दृष्टि के साथ प्रस्तुत किया है। महादेवी ने नारी स्वातंत्र्य आंदोलन को भारतीय राष्ट्रीय विचारधारा के संदर्भ में परिपोषित किया। नारी लेखन के प्रति भी वे बड़ी सतर्क थीं। नारी को राष्ट्र की मुख्यधारा में लाने में उन्होंने अपना रचनात्मक सहयोग दिया। सदियों से पीड़ित नारी जाति के प्रति उनमें करुणा का भाव भरा था। उनके साहित्यिक रचना के केन्द्र में नारी उत्थान का स्वप्न है।

महादेवी का काव्य नारी की वेदना और आत्मपीड़ा की अभिव्यक्ति है। वे इस वेदना को चूँकि आध्यात्मिक शब्दावली में पेश करती हैं इसलिए उनके काव्य को रहस्यवाद की संज्ञा दी गई है। महादेवी के गीतों का प्रमुख स्वर आंतरिक मधुर वेदना है। उनके गीत भाव और शिल्प के स्तर पर मर्मस्पर्शी हैं। उनमें प्रमुख रूप से नारी वेदना की तीव्रता का चित्रण है जो प्रायः विश्वव्यापी बन जाता है। व्यक्तिगत स्तर पर जन्मी वेदना विश्वजनीन हो जाती है। महादेवी के काव्य पर बुद्ध के दुःखवाद का भी असर है।

हिंदी गद्य विविधा

महादेवीजी यद्यपि छायावादी काव्यधारा में कुछ देर से प्रविष्ट हुईं लेकिन उनके काव्य के बिना छायावाद का अध्ययन अधूरा ही कहा जाएगा। महादेवी का प्रथम काव्य संकलन 'नीहार' (1930 ई.) प्रकाशित हुआ। उनके शेष काव्य संग्रह हैं - 'रश्मि' (1932 ई.), 'नीरजा' (1934 ई.) और 'सांध्यगीत' (1936 ई.)। बाद में ये चारों संग्रह 'यामा' नामक संकलन में संग्रहीत होकर एक साथ प्रकाशित हुए।

महादेवी के गद्य का संसार बिल्कुल दूसरे किस्म का है। पद्य की रहस्यात्मक अनुभूति का रूपांतरण यहाँ यथार्थ की अनुभूति में हो जाता है। कविता के अमूर्त भाव को यहाँ ठोस, वास्तविक और मूर्त धरातल मिल जाता है। महादेवी वर्मा ने गद्य की विविध विधाओं में अपना योगदान दिया है। महादेवी के गद्य लेखन में रेखाचित्र और संस्मरणों का प्रमुख स्थान है। लेकिन उन्होंने विभिन्न विषयों पर अत्यंत प्रभावशाली निबंध भी लिखे हैं। उनकी प्रमुख गद्य कृतियाँ हैं :

रेखाचित्र - 'अतीत के चलचित्र' (1943), 'स्मृति की रेखाएँ' (1945)।

संस्मरण - 'पथ के साथी' (1956) और 'मेरा परिवार' (1971)।

निबंध - 'क्षणदा' (1956), 'श्रृंखला की कड़ियाँ' (1942), 'चिंतन के क्षण' (1988)।

'श्रृंखला की कड़ियाँ' को महादेवी द्वारा रचित गद्य कृतियों में विशेष ख्याति प्राप्त हुई। इसमें उनकी नारी विषयक संवेदना के बौद्धिक एवं सामाजिक पक्षों का उद्घाटन हुआ है। देश को मुक्ति मिली पर नारी अभी तक सामाजिक बंधनों में ग्रस्त है। निम्नवर्ग की स्त्रियों के प्रति करुणा का भाव व्यापक सामाजिक विषमता के एहसास से उपजता है। 'अतीत के चलचित्र' के स्मरणीय सामान्य जीवन के पात्र अपनी विशिष्टता में संवेदनशील हैं। 'स्मृति की रेखाएँ' महादेवी द्वारा रचित शब्दचित्र हैं। शब्दों के विशिष्ट संयोजन से वे पात्र की चित्रात्मक उपस्थिति को सूचित करती हैं। 'पथ के साथी' में उनके समकालीन साहित्यकारों की यादें संजोई हैं जिनमें उनकी प्रकृति के साथ-साथ उनकी आकृति भी सामने आ जाती है। महादेवी ने संस्कृति, देश, भाषा, साहित्य समाज, नारी जीवन सब कुछ पर समान अधिकार के साथ लिखा है।

रचना के बारे में

'स्मृति की रेखाएँ' महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों का प्रतिनिधि संग्रह है। इसका प्रथम प्रकाशन 1945 ई. में हुआ था। 'ठकुरी बाबा' इसी पुस्तक में संकलित एक रेखाचित्र है। महादेवी अपने रेखाचित्रों में समाज में हाशिए पर जीवन जी रहे लोगों का गहरी संवेदना और करुणा के साथ शब्द चित्र प्रस्तुत करती हैं। महादेवीजी गहरी आत्मीयता के साथ ऐसे लोगों के जीवन के दुखों, कष्टों और संघर्षों का चित्रण करती हैं, जिनकी ओर प्रायः

किसी का ध्यान नहीं जाता। सामान्य मनुष्य में अंतर्निहित गहरी मनुष्यता को उकेरकर वे समाज को ये बताना चाहती प्रतीत होती है कि भले ही जीवन, समाज और प्रारब्ध ने इनके साथ नाइंसाफी की हो, लेकिन उन्हें किसी से कोई शिकायत नहीं। वे जीवन को सार्थक यात्रा समझ कर जीते हैं। कटुता और विद्वेष मन में लाए बिना वे अपनों और परायों दोनों के लिए अपनी शक्ति भर कुछ-न-कुछ करते रहने की चाह रखते हैं। ठकुरी बाबा एक ऐसा ही व्यक्तित्व है जिसे उन्होंने 'ठकुरी बाबा' में अंकित किया है।

भाट वंश में जनमें सजातीय गायक ठकुरी बाबा को उन्होंने इस रेखाचित्र के केंद्र में रखा है, जो गान विद्या में निपुण है। प्रयाग में संगम के किनारे कल्पवास के दौरान ठकुरी बाबा से उनकी मुलाकात होती है। यह अवसर उन्हें विभिन्न तरह के समाजों से आए लोगों से संबंध बनाने का होता है। आधुनिक समाज जहाँ व्यक्तिवाद में बढ़ोत्तरी के कारण लोगों का सामाजिक दायरा सिकुड़ता जा रहा है, महादेवी यह देखकर विस्मित रह जाती है कि अब भी ऐसे लोग मौजूद हैं, जो मानव संबंधों की उष्मा और गरिमा को बचाए हुए है। महादेवी ने 'ठकुरी बाबा' के माध्यम से लोकजीवन की माटी की महक से अपने पाठकों को परिचित कराया है। एक ओर कवि गोष्ठियों की औपचारिकता और प्रदर्शन प्रियता तथा दूसरी ओर लोक कलाकारों की सहजता और तन्मयता के फर्क को समझने पर जीवन भी समझ में आने लगता है। ठकुरी बाबा का जीवन अपनी धरती की मिट्टी से बना हुआ और उसमें समाया हुआ है।

'ठकुरी बाबा' रेखाचित्र की शुरुआत महादेवी के कल्पवास पर जाने से होती है। आरंभ में महादेवीजी ने अपने और भक्तिन (महादेवी वर्मा की सेवा सुश्रुआ में लंबे समय तक रही महिला जिसके बारे में भी उन्होंने रेखाचित्र लिखा है) के आपसी संबंधों का चित्रण किया है। जब पहली बार ठकुरी बाबा और उनके साथियों की महादेवी से मुलाकात होती है, उसका चित्रण है और फिर उनमें से एक-एक के बारे में बताते हुए ठकुरी बाबा की जीवनगाथा का मर्मस्पर्शी उल्लेख किया गया है।

विभिन्न जाति के लोग एक साथ महादेवी की कुटिया में रहते हैं। उन सबकी जातिगत और व्यक्तिगत विशेषताओं को लेखिका गहराई से महसूस करती है। उनके शब्दचित्र की विशेषता यह है कि वे पूरे परिवेश और संस्कृति के साथ उसे साकार कर देती हैं। 'ठकुरी बाबा' में जनजीवन की सांगीतिक चेतना है। उस चेतना को उन लोगों के व्यवहार द्वारा दिखाया गया है। आधुनिक जीवन की तुलना लोकजीवन से की गई है। स्वर्ग से भी बढ़कर लोकजीवन को मानने वाले इस कलाकार की अंतिम इच्छा यह है कि मरकर पुनः अपने गाँव देहात में जन्म लेना और घूम-घूम कर आल्हा-उदल सुनाना। यह धरती के प्रति उनके अनुराग का ही एक रूप है। जिसे अपनी धरती से इतना मोह और आकर्षण है उसे इस संसार और यहाँ के बाशिंदों से कितना प्रेम होगा, इसे समझा जा सकता है। पूरे

हिंदी गद्य विविधा

रेखाचित्र में महादेवी कई बिन्दुओं को स्पर्श करती हैं : यथा, लोकजीवन, लोकभाषा, शहरी समाज का यथार्थ, ग्राम्यता, देशप्रेम, आदि।

अपने पद्य की तरह गद्य में भी महादेवी तत्सम शब्दों और पदों का अधिक प्रयोग करती हैं। लेकिन उनकी भाषा की प्रकृति हिंदी की है। बीच-बीच में गाँव के ठेठ शब्द भी उनके साहित्य में उसी प्रकार से मिलते हैं, जिस प्रकार से ठेठ ग्रामीण पात्र उनकी रचनाओं में सहज आत्मीयता के साथ आ गए हैं। शब्द और चित्र दोनों के योग से महादेवी पात्र के अन्तर और बाह्य दोनों को पकड़ने में समर्थ रही हैं। उनकी गद्य शैली अत्यंत वेगवती, प्रवाहमयी, चित्रात्मक, बिंबात्मक और काव्यात्मक होती है। महादेवी रेखाचित्र में केंद्रीय घरेलू का सबसे पहले शारीरिक रूपरेखा प्रस्तुत करती हैं, उसके बाद उसका जीवन वृत्त और मनोवृत्ति का चित्रण करती हैं और फिर परिवेशगत स्थिति के अंकन के बाद किसी मार्मिक बिन्दु पर रेखाचित्र को समाप्त करती हैं।

शब्दावली

कल्पवास : माघ महीने में गंगा के तट पर रहकर स्नान किया जाता है। पूरे महीने भर संयम से आहार-विहार किया जाता है। इसका पौराणिक माहात्म्य है। लेकिन जैसा कि स्वयं महादेवी वर्मा ने रेखाचित्र में स्पष्ट किया है, वह किसी धार्मिक प्रेरणा से वहाँ नहीं जाती वरन् लोक जीवन से जुड़ाव ही उन्हें वहाँ ले जाता है।

अजस्र : समाप्त नहीं होने वाले

दीवट : चिरागदान, दीपक का आधार

मटकियाँ : छोटे घड़े

पर्णकुटी : घास फूस का बना घर

थूहर : सेहुँड़ा। एक पौधा जिसका दूध आँख में लग जाने से आदमी अंधा हो जाता है।

सीमातीत : सीमा से परे।

विरल बदलियाँ : छिटपुट बादल

लाघव : लघु होने का भाव

यूथप : सेनापति

शीतलपाठी : चटाई

सफेद आबेरवां : सफेद महीन मेलमल का कपड़ा

हिप्नोटाइज : सम्मोहित करना

बेदाइयाँ : पैर की एड़ी का फटना।

गुदड़ी : फटे-चिथड़े (कपड़े)

अंगीछे : कंधे पर रखे जाने वाला तौलिया

खल्वाट : गंजापन

सभीत : भय से युक्त
 शहराती : शहर में रहने वाले
 अकारथ : व्यर्थ, बिना काम का
 नवोदा : नई पत्नी
 चीनांशुक : रेशम वस्त्र
 वर्ज्य : जिसकी मनाही हो
 नाज : अनाज
 मुठिया : घंदन की लकड़ी जिसे पत्थर पर घिसा जाता है।
 कूल : तट
 शालिग्राम : पत्थर के भगवान
 प्रमविष्णु : प्रभावशाली
 पग - रास्ता
 बिसूरति : रोती हुई
 तलप्त : तड़पना
 कथायद : सैनिकों द्वारा किया जाने वाला अभ्यास
 दुर्मैद्य : जिससे पूरी तरह नहीं जाना जा सके।
 नियराय : निकट

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. किसी समय इस कल्पवास का कितना महत्व रहा होगा, इसका अनुमान लगाने के लिए इसका आज का समारोह भी पर्याप्त है। संभवतः उस समय देश के विभिन्न खण्डों में रहने वाले व्यक्तियों के मिलना, उनके पारस्परिक परिव्य, विचारों के आदान-प्रदान तथा सांस्कृतिक समन्वय का यह महत्वपूर्ण साधन रहा होगा। ये नदियाँ इस देश की रक्तवाहिनी शिराओं के समान जीवनदायक रही हैं, इसी से इनके तट पर इस प्रकार के सम्मेलनों की स्थिति स्वाभाविक और अनिवार्य हो गई हो, तो आश्चर्य नहीं। आज इस संबंध में क्या और क्यों तो हम भूल चुके हैं, पर बिना जाने लीक पीटना धर्म बन गया है।
2. दम्पति सुखी नहीं हो सके, यह कहना व्यर्थ है। दासों का एक से दो होना प्रभुओं के लिए अच्छा हो सकता है, दासों के लिए नहीं। एक ओर उससे प्रभुता का विस्तार होता है और दूसरी ओर पराधीनता का प्रसार। स्वामी तो साम-दाम-भेद द्वारा उन्हें परस्पर लड़ाकर दासता को और दृढ़ करते रहे हैं और दास अपनी विवश झुंझालाहट और हीन भावना के कारण एक दूसरे के अभिशापों को विविध बनाकर उससे बाहर आने का मार्ग अवरुद्ध करते रहते हैं।

हिंदी गद्य विविधा

3. ठकुरी बाबा को देने में एक विशेष प्रकार की आनन्दानुभूति होती है, इसी से वे स्वयं पूछ-पूछकर इस विनिमय व्यापार को शिथिल होने नहीं देते। वे भावुक और विश्वासी जीव हैं। चिकारा हाथ में लेते ही उनके लिए संसार का अर्थ बदल जाता है। उनकी उदारता, सहज सौहार्द, सरल भावुकता आदि गुण ग्रामीण-जीवन के लक्षण होने पर भी अब वहाँ सुलभ नहीं रहे। वास्तव में गांव का जीवन इतना उत्पीड़ित और दुर्वह होता जा रहा है कि उसमें मनुष्यता को विकास के लिए अवकाश मिलना ही कठिन है।
4. सजे हाल, ऊँचे मन्द, माला-विभूषित सभापति मेरी स्मृति में उदय हो आये। उनसे इधर-उधर देवदूतों के समान विराजमान कविगण रूप और मूल्य दोनों में अपूर्ण थे। कोई फर्स्ट क्लास का किराया लेकर थर्ड की शोभा बढ़ाता हुआ आया था। कोई अपने कार्यवश पहले ही से उस नगर में उपस्थित था, पर थोड़ा समय वहाँ बिताने के लिए इतनी फीस चाहता था, जिसमें आना-जाना और आवश्यक कार्य-सम्पन्न होने के उपरांत भी कुछ बच सके। किसी ने अपने काव्य की महार्घता बढ़ाने के लिए ही अपनी गलेबाजी का चौगुना मूल्य निश्चित किया था।
5. हमारे सम्यता-दर्पित शिष्ट समाज का काव्यानन्द छिछला और उसका लक्ष्य सस्ता मनोरंजन मात्र रहता है, इसी से उसमें सम्मिलित होने वालों की भेदबुद्धि एक दूसरे को नीचा दिखलाने के प्रयत्न और वैयक्तिक विषमताएँ और अधिक विस्तार पा लेती हैं। एक वह हिंडोला है, जिसमें ऊँचाई-नीचाई का स्पर्श भी एक आत्मविस्मृति में विभ्राम देता है। दूसरा वह दंगल का मैदान है जिसका सम धरातल भी हार-जीत के दाँव-पेघों के कारण सर्तकता की श्रान्ति उत्पन्न करता है।

व्याख्या का उदाहरण

उस कल्पवास की पुनरावृत्ति न हो सकी। संभव है, वे नया शरीर माँगने चले गए हों, पर धरती से उनका प्रेम इतना सच्चा, जीवन से उनका संबंध ऐसा अटूट है कि उनका कहीं और रहना संभव नहीं जान पड़ता। अथर्व के जो गायक अपने-आपको धरती का पुत्र कहते थे, ठकुरी बाबा उन्हीं के सजातीय कहे जा सकते हैं। इनके लिए जीवन धरती का वरदान, काव्य उसके सौंदर्य की अनुभूति, प्रेम उसके आकर्षण की गति और शक्ति उसकी प्रेरणा का नाम है। ऐसे व्यक्ति मुक्ति की ऊँची-ऊँची कल्पना का दूध में खिले नीचे-से-नीचे फूल पर न्योछावर कर दें तो आश्चर्य नहीं।

व्याख्या-संकेत

महादेवी वर्मा श्रेष्ठ छायावादी कवयित्री ही नहीं एक उच्चकोटि की गद्य लेखिका भी हैं। उनके काव्य पर अध्यात्म और रहस्यवाद का आवरण है, लेकिन उनका गद्य यथा-वादी और जनोन्मुखी है। रेखाचित्र में महादेवी हमें एक ऐसी अंतर्यात्रा का साक्षी बनाती है जहाँ अंधविश्वास, मजबूरी और विवशता है, लेकिन इन सबके बावजूद जिसमें रस रंग के साथ जीने की ललक है। 'ठकुरी बाबा' शब्द चित्र 'स्मृति की रेखाएँ' संग्रह से लिया गया है। महादेवी के निजी अनुभवों पर आधारित ठकुरी बाबा एक साधारण लोक गायक हैं, लेकिन उनकी गहरी मानवीय संवेदना ने उनको सभी का अंतरंग बना दिया है। ठकुरी बाबा रेखाचित्र में रंग और रस ही नहीं है अपने समय की कड़ुवाहट और विषमता भी है। उपर्युक्त अंश रेखाचित्र के अंतिम भाग में से लिया गया है, जब लेखिका ठकुरी बाबा को याद करते हुए धरती से उनके प्रेम पर अपनी टिप्पणी करती है। रेखाचित्र में महादेवी ने ठकुरी बाबा का एक कथन उद्धृत किया है, जिसमें वे कहते हैं कि उन्हें स्वर्ग नहीं चाहिए लेकिन वहाँ जाकर भगवान से दूसरा शरीर मांगेंगे ताकि धरती पर खेती कर सकें और आल्हा-ऊदल की कथा सुना सकें। उपर्युक्त अंश की व्याख्या के लिए ठकुरी बाबा के इस कथन को ध्यान में रखना जरूरी है।

लेखिका का मानना है कि अपनी धरती से ऐसा अटूट प्रेम उसे स्वर्ग में भी चैन नहीं दे सकता है। धरती के लोक जीवन की वास्तविकताओं को वह स्वर्ग से अधिक आनंदमय मानता है। स्वर्ग की कल्पना वायवीय है। जीवन और अपनी माटी से प्रेम के बाद ही वह दिव्यता आती है, जिसके सामने स्वर्गिक सुख फीका जान पड़ता है। भौतिक सुख सुविधा के पीछे पागल मानव में यह अनुभूति नहीं हो सकती है। जीवन और प्रकृति के बीच के रिश्तों की पहचान को मनुष्य ने खो दिया है। अथर्व वेद का दृष्टांत देती हुई महादेवी अपनी बात स्पष्ट करती हैं। चारों वेद में से लोकजीवन के सबसे नजदीक अथर्ववेद ही हैं। उसमें आध्यात्मिक अनुभूति का संसार उस तरह से नहीं मिलता। लोकजीवन के नजदीक होने कारण उसका सत्य सामूहिक अनुभव का सत्य है। सामूहिक अनुभव के सत्य में परंपरा का निचोड़ होता है। अथर्ववेद का गायक अपने को धरती का पुत्र कहता है। धरती जिसमें अनमोल संपदा छिपी है। आज के जीवन में आसमान छूने की व्यक्ति की आकांक्षा ने उसे धरती से विच्छिन्न कर दिया है।

धरती से जुड़ने की बात में दिखावा नहीं होता, कृत्रिमता नहीं होती, बनावटीपन नहीं होता, उसमें सहज स्वाभाविकता होती है। ठकुरी बाबा ऐसे ही मनुष्य थे। जो अथर्व वेद के गायक के सजातीय थे। मगर शिष्ट साहित्य में जिस प्रकार की औपचारिकता होती है, लोकजीवन में उस प्रकार की औपचारिकता की जरूरत नहीं होती। मनुष्य का जीवन ही साहित्य होता है। काव्य के उपकरण बाह्य न होकर अंदर से ही निःसृत होते हैं। ठेठ

हिंदी गद्य विविधा

जीवन में बहते हुए माधुर्य स्रोत को ठकुरी बाबा ने पहचाना था इसलिए उनका जीवन ही साहित्य हो जाता है। उनके लिए काव्य उपादानों की औपचारिकता निरर्थक है। सौन्दर्य की अनुभूति उन्हें गाने में होती है। उनके लिए मुक्ति स्वर्ग में नहीं लोक जीवन में है। लोक जीवन के ठेठ संवेदन को अनुभव करने पर ही, उसमें वह आत्मविश्वास जाग उठता है जो रसखान की तरह कह सकता है 'राज तिहूँपुर को तजि डारौ'।

ठकुरी बाबा के इस रेखाचित्र के द्वारा महादेवी ने लोकजीवन और लोक कला के दिव्य सौंदर्य और आत्मिक उत्कर्षता को उजागर किया है। लोकजीवन की इस परंपरा का एक छोर अथर्ववेद में दिखाई देता है तो उरुका दूसरा साक्षात् रूप ठकुरी बाबा और उनके संगी साथियों में।

इस धरती से बढ़कर कोई स्वर्ग नहीं और धरती के प्रति गहरा लगाव ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। ठकुरी बाबा का मनुष्यत्व इसी कारण शहरी और अभिजात समाज से बहुत ऊपर और पवित्र नज़र आता है।

उक्त अंश की भाषा में लेखकीय संवेदना का आत्मीय स्पर्श सहज ही महसूस किया जा सकता है।

उक्त बातों की रोशनी में आप उपर्युक्त अंश की अपने शब्दों में व्याख्या करने का प्रयत्न करें।

सहायक पुस्तुर्कें

डॉ. जगदीश गुप्त : महादेवी वर्मा, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

डॉ. परमानंद श्रीवास्तव : महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

डॉ. इंद्रनाथ मदान : महादेवी : चिंतन और कला, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

मूलपाठ : रेखाचित्र

ठकुरी बाबा

भक्तिन को जब मैंने अपने कल्पवास संबंधी निश्चय की सूचना दी तब उसे विश्वास ही न हो सका। प्रतिदिन किस तरह पढ़ाने आऊँगी, कैसे लौटूँगी, ताँगेवाला क्या लेगा, मल्लाह क्या लेगा, मल्लाह कितना मांगेगा, आदि-आदि प्रश्नों की झड़ी लगाकर, उसने मेरी अदूरदर्शिता प्रमाणित करने का प्रयत्न किया।

मेरे संकल्प के विरुद्ध बोलना उसे और अधिक दृढ़ कर देना है, इसे भक्तिन जान चुकी है, पर जीम पर उसका वश नहीं। इसी से अपने प्रश्नों की अजस्र वर्षा में भी मुझे अविचलित देखकर वह मुँह बिचकाकर कह उठी - 'कल्पवास की उमरि आई तब उही हुई जाई। का एक दिन सब नेम-धरम समापत करै की परतिगया है?'

यह सब, मैं नियम-धर्म के लिए नहीं करती, यह भक्तिन को समझाना कठिन है, इसी से मैं उसे समझाने का निष्फल प्रयत्न करने की अपेक्षा मौन रहकर उसकी भ्रांति को स्वीकृति दे देती हूँ। मौन मेरी पराजय का चिह्न नहीं, प्रत्युत् वह जय की सूचना है, यह भक्तिन से छिपा नहीं, संभवतः इसी कारण वह मेरे प्रतिवाद से इतना नहीं घबरती जितना मौन से आतंकित होती है, क्योंकि प्रतिवाद के उपरांत तो मत-परिवर्तन सहज है, पर मौन में इसकी कोई संभावना शेष नहीं रहती।

अंत में भक्तिन-जैसे मंत्री की सलाह और सम्मति के विरुद्ध ही, सिरकी, बांस आदि के गट्ठर समुद्रकूप की सीढ़ियों के निकट एकत्र हो गए और मल्लाह मिलकर विश्वकर्मा का काम करने लगे। बीच में दस फीट लम्बी और उतनी ही चौड़ी साफ-सुथरी कोठरी बनी और उसके चारों ओर आठ फीट चौड़ा बरामदा बनाया गया। उत्तर वाला बरामदा मेरे पढ़ने-लिखने के लिए निश्चय हुआ और दक्षिण में भक्तिन ने अपने चौके का साम्राज्य फैलाया। पश्चिम ताले बरामदे में उसने सत्तू, गुड़ आदि रखने के लिए सींका टांगा और घोती, कथरी आदि टांगने के लिए अलगनी बांधी। कोठरी का द्वार जिसमें खुलता था, वह अभ्यागतों के लिए बैठकखाना बना दिया गया। इस प्रकार सब बन चुकने पर भक्ति का टाट और मेरी शीतल पाटी, उसकी घुंघली लालटेन और मेरा पीतल के दीवट में झिलमिलाने वाला दिया, उसकी रांगे-जैसी बाल्टी और मेरी लपट-जैसी चमकती हुई तांबे की कलशी, उसकी हल्दी, धनिया, आटा, दाल आदि की भौतिकता से भरी मटकियाँ और मेरे न जाने कब के पुरातन तथा सूक्ष्म ज्ञान से आपूर्ण संस्कृत-ग्रंथ आदि से वह पर्णकुटी एक-दम बस गई।

हिंदी गद्य विविधा

तब भक्तिन का और मेरा कल्पवास आरंभ हुआ। हमारे आसपास और भी न जाने कितनी पर्णकुटियाँ थीं, पर वे काम-धलाऊ मर कही जाएंगी।

किसी समय इस कल्पवास का कितना महत्व रहा होगा, इसका अनुमान लगाने के लिए इसका आज का समारोह भी पर्याप्त है। संभवतः उस समय देश के विभिन्न खण्डों में रहने वाले व्यक्तियों के मिलन, उनके पारस्परिक परिचय, विचारों के आदान-प्रदान तथा सांस्कृतिक समन्वय का यह महत्वपूर्ण साधन रहा होगा। ये नदियाँ इस देश की रक्तवाहिनी शिराओं के समान जीवनदायक रही हैं, इसी से इनके तट पर इस प्रकार के सम्मेलनों की स्थिति स्वाभाविक और अनिवार्य हो गई हो, तो आश्चर्य नहीं। आज इस संबंध में क्या और क्यों तो हम भूल चुके हैं, पर बिना जाने लीक पीटना धर्म बन गया है।

मुझे इस कल्पवास का मोह है, क्योंकि इस थोड़े समय में जीवन का जितना विस्तृत ज्ञान मुझे प्राप्त हो जाता है, उतना अन्य उपाय से संभव नहीं। और जीवन के संबंध में निरंतर जिज्ञासा मेरे स्वभाव का अंग बन गई है।

गर्मियों में जहाँ-तहाँ फेंकी हुई आम की गुठली जब वर्षा में जम जाती है, तब उसके पास मुझसे अधिक सतर्क माली दूसरा नहीं रहता। घर के किसी कोने में तिड़िया जब घोंसला बना लेती है, तब उसे मुझसे अधिक सजग प्रहरी दूसरा नहीं मिल सकता। मेरे चारों ओर न जाने कितने जंगली पेड़-पौधे, पक्षी आदि मेरे सामान्य जीवन-प्रेम के कारण ही पनपते जीते रहते हैं। जिसका दूध लग जाने से आँख फूट जाती है, वह थूहर भी मेरे सयत्न लगाये आम के पार्श्व में गर्व से सिर उठाये खड़ा रहता है। घंसकर न निकलने वाले कांटों से जड़ा हुआ भट-कटैया, सुनहले रेशम के लच्छों में ढके और उजले कोमल मोतियों से जड़े मक्का के भुट्टे के निकट साधिकार आसन जमा लेता है।

न जाने कितनी बार सर्दी में ठिठुरते हुए पिल्लों की टिमटिमाती आँखों के अनुनय ने मुझे उन्हें घर उठा ले आने पर बाध्य किया है। पानी से निकले हुए जाल में मछलियों की तड़प, पक्षियों के व्यापारी के संकीर्ण पिंजड़े में पंखों की फड़फड़ाहट, लोहे की काल कटघरे जैसी गाड़ी में बंदी और हांफते हुए कुत्तों की करुणा विवशता ने मुझे जाने कितने विचित्र कामों के लिए प्रेरणा दी है।

ऐसा सनकी व्यक्ति मनुष्य-जीवन के प्रति निर्माही हो, तो आश्चर्य की बात होगी, पर उसकी, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु आदि के संबंध में बहुत कुछ जानने की इच्छा का सीमातीत हो जाना स्वाभाविक है।

मेरी इस स्वाभाविकता का अस्वाभाविक भार भक्तिन ही को उठाना पड़ता है। घोंसले से गिरे कूड़े-ककट को फेंकने के उपरांत पवित्र होकर वह सूर्य को अर्घ्य देने

खड़ी हुई कि पिल्ले ने आंगन गंदा कर दिया। उसे भी घोने के उपरांत फिर स्नान करके वह शिवजी पर जल घड़ाने चली कि मिखारी को ससू-गुड़ देने का आदेश हुआ। वह इस कर्तव्य को भी पूरा करने के उपरांत नाक बंद कर जप करने बैठी कि मैं किसी बीमार को देखने जाने के लिए प्रस्तुत हो, उसे पुकारने लगी। जीवन की ऐसी अव्यवस्था में भी वह उलाहना देना नहीं जानती। हाँ, कभी-कभी ओंठ सिकोड़कर गंभीरता का अभिनय करती हुई वह कह बैठती है - 'का ई विद्या का कौनिउ इमथान नाहिन बा ? होत तौ हमहूँ बुढ़ीती में एक ठी साटीफिकेट पाय जाइत, अउर का !'

अपनी कर्तव्यपरणता के लिए सर्टीफिकेट न पा सकने पर भी भक्तिन उसका महत्व जानती है। इसी कारण साधारण-सी बीमारी में भी चिंतित हो उठती है - 'हम मर जाब तौ इनकर का होई, कउन बनाई-खियाई। कउन इनकर ई अजायबघर देखी-सुनी। भक्तिन को मृत्यु की चिंता करते-करते मेरे अजायबघर की व्यवस्था के लिए, उद्विग्न देखकर किसे हंसी नहीं आवेगी?

धर्म में अखण्ड विश्वास होने के कारण भक्तिन के निकट कल्पवास बहुत महत्वपूर्ण है। पर वह जानती है कि मेरी 'भानमती का कुनबा' जोड़ने की प्रवृत्ति उसे मोह-भाया के बंधन तोड़ने का अवकाश न देगी। गाँव के मेले से लेकर कल्पवास तक सब मेरे लिए पाठशाला है, पर इनमें मैं मोह बढ़ाना ही सीखती हूँ, विरग-साधन नहीं।

संक्रांति के एक दिन पहले सन्ध्या समय जब मैं योगदर्शन खोलकर बैठी, तब बिरल बदलियाँ बिजली के तार में गुंथ-गुंथकर सघन होने लगीं। भक्तिन ने चूल्हा सुलगाया ही था कि ग्रामीणा यात्रियों का एक दल उस ओर के बरामदे के भीतर आ घुसा। मेरे लिए परम अनुगत भक्तिन संसार के लिए कठोर प्रतिद्वंद्वी है। वह भला इस आकस्मिक चढ़ाई को क्यों क्षमा करने लगी?

आंघी के वेग के साथ जब वह चौके से निकलकर ऐसे अवसरों के लिए सुरक्षित शब्द-बाणों का लाघव दिखाने लगी, तब तो मेरा शीतलपाटी का सिंहासन भी डोल गया।

उठकर देखा - एक वृद्ध के नेतृत्व में बालक, प्रौढ़, स्त्री, पुरुष आदि की सम्मिश्रित भीड़ थी। गठरी-मोटरी, बरतन, हुक्का-चिलम, चटाई, पिटारा, लोटा-डोर सब गृहस्थी लादे-फांदे यह अनियंत्रित अभ्यागत मेरे बरामदे में कैसे आ घुसे, यह समझना कठिन था।

हिंदी गद्य विविधा

मुझे देखकर जब भक्तिन की उग्रभुद्रा में अपराधी की रेखाएँ उभरने लगीं और उसका कड़कड़ाता स्वर एक हल्की कम्पन में खो गया, तब संभवतः अभ्यागतों को समझते देर नहीं लगी कि मैं ही उस फूस-सिरकी के प्रासाद की एकछत्र स्वामिनी हूँ।

यूथप वृद्ध ने दो पग आगे बढ़कर परम शांत, पर स्नेहसिक्त स्वर में कहा - 'बिटिया रानी, का हम परदेसिन का ठहरै न दैही? बड़ी दूर से पांय पियादे चले आइत है। ई तो रैन-बसेरा है - 'भोर भयो उठि जाना रे' का झूठ कहित है? हम तो बूढ़-बाढ़ मनई हैं। उमर समुन्दरकूप के महाराज ठहरै बरे कहत रहे, उहां चढ़-उतरै की सांसत रहीं। नीचे कौनिउ टपरी मां तिल धरै का ठिकाना नाहिन बा। अब दिया-बाती की बिरिया कहां जाई-कसत करी!'

वृद्ध के कण्ठस्वर और उसके कथन की आत्मीयता ने मुझे बलात् आकर्षित कर लिया। भक्तिन की दृष्टि में अस्वीकार के अक्षर पढ़कर भी मैंने उसे अनदेखा करते हुए कहा - 'आप यहीं ठहरें बाबा! मेरे लिए तो यह कोठरी ही काफी है। न होगा तो भक्तिन खाना बाहर बना लिया करेगी। इतना बड़ा बरामदा है आप सब आ जाएंगे। रैन-बसेरा तो है ही!'

फिर जब मैं अपनी पुस्तकें और शीतलपाटी लेकर भीतर आ गई तथा दिया जलाकर पढ़ने बैठी, तब वे अपने-अपने रहने की व्यवस्था करने लगे।

भक्तिन मेरे आराम की चिंता के कारण ही दूसरों से झगड़ती है, पर जब उसे विश्वास हो जाता है कि अमुक व्यक्ति या कार्य से मुझे कष्ट पहुंचना संभव नहीं, तब उसकी सारी प्रतिकूलता न जाने कहां गायब हो जाती है। भीड़ से मेरी शांति भंग हो सकती है, इस संभावना ने उसे जो कठोरता दी थी, वह उस संभावना के साथ ही विलीन हो गई। वह सत्तू रखने के सींके के नीचे ईंट-पत्थर का घूल्हा बनाकर कम-से-कम स्थान घेरने की चेष्टा करने लगी, जिससे उन आक्रमणकारियों को सुख से बस जाने का अवकाश मिल सके।

उस रात तो मुझे नये संसार की व्यवस्था देखने का अवसर न प्राप्त हो सका। दूसरे दिन संक्रांति की छुट्टी थी। मुझमें इतनी आधुनिकता नहीं कि स्नान न करूँ और इतनी पुरातनता भी नहीं कि भीड़ के धक्कम-धक्के में स्नान का पुण्य लूटने जाऊँ। सो मैं मुँह-अंधेरे ही भक्तिन को जगाकर कोहरे के भारी आवरण के नीचे करवट बदल-बदलकर अपने अस्तित्व का पता देने वाली गंगा की ओर चली।

जब लौटी, तब कोहरे पर सुनहली किरणें ऐसे लग रही थीं, जैसे सफेद आबरवां की चादर पर सोने के तारों की हल्की जाली टांक दी गई हो।

समुद्रकूप की सीढ़ियों के दक्षिण ओर बनी हुई मेरी बड़ी, पर कोलाहलशून्य पर्णकुटी आज पहचानी ही नहीं जाती थी। उसके नीचे बसी हुई, अस्थिर सृष्टि को देखकर जान पड़ता था कि किसी प्रशांत साधक के - किसी असावधान श्वास के साथ इच्छाओं की चंचल भीड़ उसके निरीह हृदय के भीतर घुस पड़ी हो। निकट पहुँचकर मैंने अपनी कुटी की शांति भंग करने वालों का अच्छा निरीक्षण किया।

वृद्ध महोदय ने सेनानी के उपयुक्त आडम्बर के साथ मेरे पढ़ने के बरामदे में अधिकार जमा लिया था। फटी और अनिश्चित रंगवाली दरी और मटमैली दुसूती का बिछौना लिपटा हुआ घरा था। उनके पास ही रखी हुई एक मैले फटे कपड़े की गठरी उसका एकाकीपन दूर कर रही थी। लाल चिलम का मुकुट पहने, नारियल का काला हुक्का बाँस के खम्भे से टिका हुआ था। तूल की गोटावाला काला सुरती का बटुआ दीवार से लटक रहा था। खम्भे और दीवार से बँधी डोरी की अलगनी पर एक धोती और रुई-भरी काली मिरजई स्वामी के गौरव की घोषणा कर रही थी। निरंतर तैल-स्नान से स्निग्ध लाठी का गांठ-गँठीलापन भी कितना जान पड़ता था। पैताने की ओर यत्न से रखी हुई काठ और निवाड़ से बनी खटपटी कह रही थी कि जूते के अछूतेपन और खड़ाऊँ की ग्रामीणता के बीच से मध्यमार्ग निकालने के लिए ही स्वामी ने उसे स्वीकार किया है।

सारांश यह कि मेरे पुस्तकों के समारोह को लज्जित करने के लिए ही मानो बूढ़े बाबा ने इतना आडम्बर फैला रखा था। वे संभवतः दातौन के लिए नीम की खोज में गए हुए थे, इसी से मैंने भेदिये के समान तीव्र दृष्टि से उनकी शक्ति के साधनों की नाप-जोख कर ली।

बरामदे की दूसरी ओर का जमघट कुछ विचित्र-सा था। एक सूरदास समाधिस्थ-जैसे बैठे थे। उनके मुख के चेचक के दाग, दृष्टि के जाने के मार्ग की ओर संकेत करते जान पड़ते थे। श्याम और दुर्बल शरीर में कण्ठ की उभरी नसों का तनाव बताता था कि वे अपनी विकलांगता का बदला कण्ठ से चुका लेना चाहते हैं। सिरकी की टट्टी बाँधते समय बाँस का एक कोना कुछ बढ़कर खूंट्टी जैसा बन गया था, इसी से एक चिकारा और एक जोड़ मंजीरा लटक रहा था। सामान में चादर, टाट और ऐसी लुटिया भर थी, जिसके किनारे घिसते-घिसते टेढ़े-मेढ़े और पैर हो गए थे।

टाट की सीमा से बाहर वीरसन से विराजमान और तिलक-छाप से पांडित्य की घोषणा करते हुए एक प्रौढ़ एक रंगीन पिटारी खोले हुए थे। रूप-रंग में यह पिटारी शालग्राम या शंकर का बन्दीगृह जान पड़ती थी और संभवतः देवता का भार हटका करने के लिए ही वे उन पर लदे घंदन घिसने के पत्थर और चंदन की अघघिसी मुठिया बाहर निकाल रहे थे। रामनामी चादर के एक टुकड़े पर जो पोथी-पत्रा घरा था, उसमें सबसे

हिंदी गद्य विविधा

ऊपर हनुमानवालीसा का शोभित होना प्रकट कर रहा था कि उनके देवत्व को नित्य भूत-प्रेतों की आसुरी माया से लोहा लेना पड़ जाता है।

टाटा का एक खूंट दबाकर ठंडी बालू में बैठने का कष्ट भूलने का प्रयत्न करते हुए दो किशोर बालक, अनेक छेदों से विचित्र एक काली कमली में सिकुड़े बैठे थे। उसमें एक की दृष्टि, छप्पर से लटकती हुई संभवतः सत्तू-गुड़ जैसे भिष्ठान्नों की गठरी को हिप्नोटाइज कर रही थी और दूसरा घकित के समान पंडित के क्रिया-कलाप का तत्व समझने में लगा हुआ था।

एक और अघेड़ बाहर बैठकर घूप ले रहा था। एक पुरानी और झीनी चादर ने उसके दुबले शरीर के ढाँचे को छिपा रखा था, पर नोकदार कंधों का आभास और उभरी नसों वाले सूखे हाथ सच्ची कथा कह देते थे। कीचड़ से भरी हुई बेवाइयों से युक्त पैर कंकालशेष शरीर से पुष्ट जान पड़ते थे। मुख पर झुर्रियों के अक्षरों में भाग्य ने अनाड़ी बालक के समान इतना लिखा था कि अब उसका तात्पर्य कठिन था।

स्त्रियों के डिपार्टमेंट की आर्थिक स्थिति भी इससे कुछ अधिक अच्छी नहीं जान पड़ी। बड़ी सी गठरी के सहारे दो वृद्धाएँ सुमिरनी लिए ठंडी ज़मीन पर बैठी थीं, जिनमें एक ऊँघ रही थी और दूसरी अपने आसपास बसी सृष्टि के प्रति आवश्यक घीकन्नी लगती थी। ऊँघने वाली के पैरों में कसे हुए गोल चिकने कड़े और हाथ में चांदी की एक-एक चपटी चूड़ी उसके मुण्डित मुण्ड के भीतर छिपकर बची हुई श्रृंगारप्रियता का पता देते थे। दूसरी के गले में बंधे काले डोरे में पिरोये हुए रुद्राक्ष के दो बड़े-बड़े मनके स्त्री की आभूषण परंपरा का पालन मात्र जान पड़ते थे।

एक की आँखें माड़े से घुंघली, नाक टुड्डी पर झुकी हुई और मुख के भाव में एक करुण उदासीनता थी। पर कानों को घोती से बाहर निकाले और आँठों को खोलती बंद करती हुई दूसरी, अपनी छोटी काली आँखों को घुमाकर तथा छोटी नाक के गोल नथनों को फुलाकर मानो चारों ओर बिखरे हुए रूप-रस-गंध-शब्द की खोज-खबर ले रही थी। निकट ही रखा एक काशीफल और उससे टिका हुआ हंसिया दोनों विरागी हृदयों का भोजन के प्रति राग प्रकट कर रहा था और ऊपर छप्पर से बंधी रस्सी की फांसी में झूलती हुई काली घी की हंडिया अपने चमकदार चिकनेपन से उन दोनों के बाह्य रूखेपन का विरोध कर रही थी।

सफेद बूटेदार काली पुरानी घोती पहने हुए जो अघेड़ स्त्री, कोने में लोटे से खोली हुई डोर की अरगनी बांधने में व्यस्त थी, उसे मैं नहीं देख सकी, पर अरगनी पर गुदड़ी बाजार लगाने के लिए जो फटे पुराने कपड़े संभाले खड़ी थी, उसने मेरे ध्यान को विशेष रूप से आकर्षित कर लिया। लाल किनारी की मटमैली घोती का नाक तक खींचा

हुआ घूँघट ही उसे विशेषता नहीं देता, हाथ की मोटी कच्ची शर्बती रंग की घूँड़ियाँ और पाँव के कुछ ढीले-पतले कड़े तथा दो-दो बिछवे भी उसकी भिन्न सामाजिक स्थिति का परिचय दे रहे थे। घूँघट से बाहर निकले मुख के अंश की बेडौल चौड़ाई और उसमें व्यक्त सौम्य-भाव में कुछ ऐसी खींच-खाँच थी कि न आँख उसे सुंदर कहती थी न मन उसे कुरूप मानता था।

उसके एक ओर दो सांवली किशोरियाँ एक बड़े पिटारे में न जाने क्या खोज रही थी। उनके गोल मुखों पर झूलती हुई उलझी रूखी और मैली लटें मानो दरिद्रता की कथा के अक्षर थीं। दूसरी ओर फटी दरी के टुकड़े पर एक काली-कलूटी बालिका फटा और तंग कुरता पहने सौ रही थी। उसका बीच-बीच में कांप उठना सर्दी और नींद के संघर्ष की तीव्रता बताता था। एक अन्य बालक झम्मे से टिककर बैठा हुआ, आँखें मलकर रोने की भूमिका बांध रहा था। कुरते के अभाव में उसे एक पुराने धारीदार अंगौछे का परिधान मिल गया था, पर उसका, ऊपर टंगी हंडिया और नीचे रखी गठरी को देखकर रोना प्रकट करता था कि भीतर की शीत की मात्रा बाहर की शीत से अधिक हो गई है। पूर्व के कोने में पड़े हुए पुआल का गट्टा और उस पर सिमटी हुई मैली चादर की सिकुड़न कह रही थी कि सोनेवालों ने ठंड से गठरी बनकर रात काटी है। एक श्यामांगिनी युवती बाहर बालू में गड्ढे खोद-खोदकर चूल्हे बनाने में लगी थी। कुछ गोलाई लिए हुए लम्बे, रूखे और उमरी हड्डियों वाले मुख पर छोटी नथ हिल-हिलकर कभी ओंठ कभी कपोल का ऊपरी भाग घू लेती थी। सफेद बूटीदार लाल लहंगों की काली गोद फटकर जहाँ-तहाँ से उघड़ रही थी। पीली पुरानी ओढ़नी में से व्यक्त शरीर की दुर्बलता को जल्दी-जल्दी बालू निकालने में लगे हुए हाथों का फुर्तीलापन छिपा लेता था।

भक्तिन दो उंगलियाँ ओंठ पर स्थापित कर विस्मय के भाव से बड़-बड़ाई - 'अरे मोरे बपई ! सगर मेला तो हियहि सिक्किल आवा है। अब ई अजाबघर छाँडि के दूसरा मेला को देखे जाई?'।

उस पर एक क्रोधपूर्ण दृष्टि डालकर में अभ्यागतों से सम्भाषण का बहाना सोच ही रही थी कि घूँघट वाली के सहज स्वर ने मुझे चौंका दिया - 'पां' लगी दिदिया ! आपका तो हम पचै बड़ा कष्ट दिहिन है।' पांलागन के उत्तर में क्या कहा जाय, यह मेरी नागरिक प्रगल्भता भी न बता सकी, इसी से मैंने 'नहीं' कष्ट काहे का - जगह की कमी से आप ही लोगों को तकलीफ हुई' कहकर शिष्टाचार की परंपरा का जैसे पालन किया।

फिर मैं अपनी कोठरी की व्यवस्था में लग गई और भक्तिन मोटे चावल और मूँग की दाल की खिचड़ी मिलाकर और काले तिल के लड्डू लेकर दान-परंपरा की रक्षा करने गई। वहाँ से लौटकर उसने खिचड़ी घड़ाई।

हिंदी गद्य विविधा

खाने के समय भक्तिन को दिक करना मुझे अच्छा लगता है, क्योंकि इसके अतिरिक्त और किसी भी अवसर पर वह मेरी खुशामद नहीं कर सकती। उल्टे दस-पांच सुनाने की कमर कसे प्रस्तुत रहती है।

गुड़ में बंधे काले तिल के लड्डू बहुत मीठे होने के कारण मैं नहीं खाती, इसी से भक्तिन मेरे निकट 'मोदकं समर्पयामि' का अनुष्ठान पूरा करने के लिए सफेद तिल घो-कूटकर और थोड़ी चीनी मिलाकर लड्डू बना लेती है। इस बार कल्पवास की गड़बड़ी में भक्तिन घर के देवता से अधिक महत्व बाहर के देवताओं को दे बैठी। मेले में देवताओं का तीन से तैंतीस कोटि हो जाना स्वाभाविक हो गया, अतः भक्तिन के लिए भी कुछ नहीं बच सका। घर की यह स्थिति भाँपकर ही मुझे कौतुक सूझा और मैंने बहुत गंभीर मुद्रा के साथ कहा - 'मेरे लिए लड्डू लाओ।'

किंतु भक्तिन की उद्विग्नता देखने का सुख मिलने के पहले ही कल का परिचित कण्ठ-स्वर सुन पड़ा - 'बिटियां रानी, का हमहूँ आय सकित है? मैं तो छूत-पाक मानती ही नहीं और भक्तिन अपनी बटलोई सहित कोयले की मोटी रेखा के भीतर सुरक्षित थी।

'इधर निकल आइए बाबा' - सुनकर वृद्ध दोनों हाथों में दो दोने संभाले हुए सामने आ खड़े हुए। सिर का अग्रभाग खल्वाट होने के कारण चिकना चमकीला था, पर पीछे की ओर कुछ सफेद केशों को देखकर जान पड़ता था कि भाग्य के कठोर रेखाओं से समीत होकर वे दूर जा छपे हैं। छोटी आंखों में विषाद, चिंतन और ममता का ऐसा सम्मिश्रित भाव था, जिसे एक नाम देना संभव नहीं। लम्बी नाक के दोनों ओर खिंची हुई गहरी रेखाएँ दाढ़ी में विलीन हो जाती थीं। ओंठों में व्यक्त, भावुकता को बिरल मूँछें छिपा लेती थीं और मुख की असाधारण चौड़ाई को दाढ़ी ने साधारणता दे डाली थी। सघन दाढ़ी में कुछ लम्बे सफेद बालों के बीच में छोटे, काले बाल ऐसे लगते थे जैसे चांदी के तारों में जहाँ-तहाँ काले डोरे उलझकर टूट गए हों। स्फूर्ति के कारण शरीर की दुर्बलता और कुछ झुककर चलने के कारण लम्बाई पर ध्यान नहीं जाता था। नंगे पांव और घुटनों तक ऊंची धोती पहने जो मूर्ति सामने थी, वह साधारण ग्रामीण वृद्ध से अधिक विशेषता नहीं रखती।

बूढ़े बाबा मेरे लिए तिल का लड्डू घी आम के अचार की एक फाँक और दही लाये थे। अरुचि के कारण घी-रहित और पथ्य के कारण मिर्च-अचार आदि के बिना ही मैं खिचड़ी खाती हूँ, यह अनेक बार कहने पर भी वृद्ध ने माना नहीं और मेरी खिचड़ी पर दानेदार घी और थाली में एक ओर अचार रख दिया। दही का दोना थाली से टिकाकर

अनुनय के स्वर में कहा - 'तनिक सा चिखौ तो बिटिया रानी! का पदे लिखे मनई यह खाय के जियत हैं!'

उन दिन से उन अम्यागतों से मेरे विशेष परिचय का सूत्रपात हुआ जो धीरे-धीरे साहचर्य-जनित स्नेह में परिणत होता गया।

मुझे सवेरे नौ बजे झूंसी से उस पार जाना पड़ता था और वहाँ से तांगे में यूनिवर्सिटी अकेले आना-जाना अच्छा न लगने के कारण मैं भक्तिन को भी इस आवागमन का आनंद उठाने के लिए बाध्य कर देती थी। जब तक मैं लौटने के लिए स्वतंत्र होती, तब तक भक्तिन नारद के समान या तो तांगेवाले की आत्मकथा सुनकर उसकी भूलों पर निर्णय देती या अन्य परिचितों के यहाँ घूम-फिरकर संसार की समस्याओं का समाधान करती रहती।

सवेरे आने की हड़बड़ी में खाने-पीने की व्यवस्था ठीक होना कठिन था और लौटने पर जलपान का प्रबंध होने में भी कुछ विलम्ब हो ही जाता था। मेरी असुविधा को उन ग्रामीण अतिथियों ने कब और कैसे समझ लिया, यह मैं नहीं जानती, पर मेरे पर्णकुटी में पैर रखते ही जलपान के लिए विविध, पर सर्वथा नवीन व्यंजन उपस्थित होने लगे।

फूल के बड़े कटोरे में बाजरे का दलिया और दूध, छोटी थाली में सत्तू, गुड़ या पुए, रंगीन डलिया में मुरमुरे चने या भुने शकरकंद आदि के रूप में जो जलपान मिलता था, उसे पंचायती कहना चाहिए, क्योंकि सभी व्यक्ति अपने-अपने चौके में से मेरे लिए कुछ-न-कुछ बचाकर सीके रख देते थे। एक साथ इतना सब खाने के लिए मुझे जीवन की ममता छोड़नी होगी, यह बार-बार समझाने पर भी उनमें से कोई मानता ही न था।

'का दिदिया न चिखिहँ,' 'बिटिया रानी छुड़ भर देती, तो हमार जियरा अस सिराय जात,' 'दिदिया जीभ पै तनिक घर लेती, तोई सब अकारथ न जात' अदि अनुरोधों को सुनकर यह निश्चय करना कठिन हो जाता था कि किसे अस्वीकृत के योग्य समझा जावे। निरुपाय घना-गुड़ से लेकर बाजरे के पुए तक सब प्रकार के ग्रामीण व्यंजनों से मेरा शहराती रुचि का संस्कार होने लगा।

जलपान के समारोह के उपरांत वे सब सन्ध्या-स्नान, गंगा में दीपदान आदि के लिए तट पर और मैं उत्सुक और जिज्ञासु दर्शक के समान, उनका अनुसरण करती।

कल्पवासी एक ही बार खाते और माघ के कड़कड़ाते जाड़े में भी आग न तापने के नियम का पालन करते। इन नियमों के मूल में कुछ तो लकड़ी का महंगापन और अन्न का अभाव रहता है और कुछ तपस्या की परम्परा।

हिंदी गद्य विविधा

पर मुझे सर्दी में अलाव जलता हुआ देखना अच्छ लगता है। लकड़ी-कण्डों का अभाव तो था ही नहीं। बस पर्णकुटी के बाहर बड़ा-सा ढेर लगाकर मैं होली जलाती और अतिथियों की गृहस्थी के साथ आई हुई एक पुरानी भचिया पर बैठकर तापती। उनके बच्चे, जो कल्पवास के कठोर नियमों से मुक्त थे और मेरी भक्तिन, जिसका कल्पवास परलोक से अधिक इस लोक से संबंध रखता था, आग के निकट बैठकर हाथ-पैर सँकते। सच्चे कल्पवासी अपने और आग के बीच में इतना अंतर बनाए रखते थे, जितने में पाप-पुण्य का लेखा-जोखा रखने वाले चित्रगुप्त महोदय घोखा खा सकें।

इस विचित्र सम्मेलन का कार्यक्रम भी वैसा ही अनोखा था। कोई भजन सुनाता, कोई पौराणिक कथा कहता। कभी किम्बदंतियों के नये भाष्य होते, कभी लोकचर्चा पर मौखिक टीकाएँ रची जातीं। कबीर की रहस्यमय उलटबाँसियों से लेकर अच्छ बल खरीदने के व्यावहारिक नियम तक सब में उन ग्रामीणों की अच्छी गति थी, इसी से उनकी संगति न एक-रस जान पड़ती थी, न निरर्थक। इस सम्पर्क के कारण ही मैं उनकी जीवन-कथा से भी परिचित होती गई।

बूढ़े ठकुरी बाबा भाटवंश में अवतीर्ण होने के कारण कवि और कवि होने के कारण मेरे सजातीय कहे जा सकते हैं। आधुनिक युग में भाट-घारणों के कर्तव्य और आवश्यकता में बहुत अंतर पड़ चुका है, इसी से न कोई उनके अस्तित्व को जानता है और न उसके कवित्व-व्यवसाय का मूल्य समझता है। अब तो उनका पैतृक धंधा व्यक्तिगत मनोविनोद मात्र रह गया है।

समय के प्रवाह को देखकर ही ठकुरी बाबा के पिता ने तुकबंदी के लिए मिली हुई प्रतिभा का उपयोग साधारण किसान बनने में किया और अपनी दिवंगत प्रथम पत्नी के दोनो सुयोग्य पुत्रों को भी नीतिशास्त्र में पारंगत बनाकर भावुकता के प्रवेश का मार्ग ही बंद कर दिया।

दूसरी नवोढ़ा पत्नी भी जब परलोकवासिनी हुई, तब उसका पुत्र अबोध बालक था, पर पिता ने प्रिय पत्नी के प्रति विशेष स्नेह-प्रदर्शन के लिए उसे साम्नात् कौटिल्य बनाने का संकल्प किया। इस शुभ संकल्प की पूर्ति के लिए जैसा भगीरथ प्रयत्न किया गया, उसे देखते हुए असफलता को दैवी ही कहा जाएगा।

संभवतः पति की नीतिमत्ता से भागकर परलोक में शरण पाने-वाली माँ पुत्र को बचाने के लिए उस पर भावुकता की वर्षा करने लगी हो। हो सकता है कि कौटिल्य ने दूसरे कौटिल्य की संभावना से कुपित होकर उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी हो, पर यह सत्य है कि हठी बालक ने अपना-पराया तक नहीं सीखा - नीति के अन्य अंगों की तो चर्चा ही

क्या। हताश पिता ने इस कठोर शिक्षा का भार बड़े पुत्रों पर छोड़कर अपने जीवन से अवकाश ग्रहण किया।

सीतेले भाई बड़े और गृहस्थी वाले थे, इसी से घर-द्वार सब उन्हीं के अधिकार में रहा और छोटा भाई चाकरी के बदले में भोजन-वस्त्र पाता रहा। उसका कवित्व भाइयों के लिए लाभप्रद ही ठहरा, क्योंकि कोई भी कला सांसारिक और विशेषतः व्यावसायिक बुद्धि को पनपने ही नहीं दे सकती और बिना इस बुद्धि के मनुष्य अपने आपको हानि पहुँचा सकता है, दूसरों को नहीं।

जब जात-बिरादरी में छोटे को अविवाहित रखने पर टीका-टिप्पणी होने लगी, तब भाइयों ने उसका एक सुशील बालिका से गठबंधन कर दिया और भौजाइयों ने देवरानी को सेवाधर्म की शिक्षा देना आरंभ किया।

दम्पति सुखी नहीं हो सके, यह कहना व्यर्थ है। दासों का एक से दो होना प्रभुओं के लिए अच्छा हो सकता है, दासों के लिए नहीं। एक ओर उससे प्रभुता का विस्तार होता है और दूसरी ओर पराधीनता का प्रसार। स्वामी तो साम-दाम-भेद द्वारा उन्हें परस्पर लड़ाकर दासता को और दृढ़ करते रहे हैं और दास अपनी विवश झुंझालाहट और हीन भावना के कारण एक दूसरे के अभिशापों को विविध बनाकर उससे बाहर आने का मार्ग अवरुद्ध करते रहते हैं।

देव-देवरानी मिलकर यदि गृहस्थी वसा लेते, तो सेवा का प्रश्न कठिन हो जाता, इसी से भौजाइयों नई बहू की चुगली करके उसे पति के निकट अपराधिनी के रूप में उपस्थित करने लगीं। पत्नी की निर्दोषिता के संबंध में पति का मन विश्वास और अविश्वास के हिंडोले में झोंके खाता था, पर न उसने अपने विश्वास को प्रकट करके वधू को सान्त्वना दी, न अविश्वास प्रकट करके अपने मन का समाधान किया।

गर्विली पत्नी भी अपनी ओर से कुछ न कहकर अविराग परिश्रम द्वारा मन का आक्रोश व्यक्त करने लगी। ठकुरी बेचारे कवि ठहरे! शुष्क यथार्थता उनकी भाव-बोझिल कल्पना के घटाटोप में प्रवेश करने के लिए कोई रंग ही न पाती थी।

कहीं बिरहा गाने का अवसर मिल जाता, तो किसी के भी मचान पर बैठ कर रात-रात भर खेत की रखवाली करते। कोई बारहमासा वाला रसिक श्रोता मिल जाता, तो उसके बेलों का सानी-पानी करने में भी हेठी न समझते। कोई आल्हा-उदल की कथा सुनना चाहता, तो मीलों पैदल दौड़े चले जाते। कहीं होली का उत्सव होता, तो अपने कबीर सुनाने में भूख-प्यास भूल जाते।

हिंदी गद्य विविधा

अपनी इस काव्य-वाचकता के कारण वे कोई और काम ठीक से न कर पाते थे। नागरिक शिष्ट-समाज के समान कोई उन्हें पचास रुपया फीस देकर गलेबाजी के लिए नहीं बुलाता था, इसी से अर्थ की दृष्टि से कवि ठकुरी दीन सुदामा ही रह गए। किसी ने मैली पिछौरी के खूंट में थोड़ा-सा तिल-गुड़ बांधकर उदारता प्रकट की। किसी ने पथरीटी में सत्तू पर नमक के साथ हरी मिर्च रखकर आतिथ्य-सत्कार किया। किसी ने सुलगे हुए कण्डों पर दो भौरियां सेंकने का अनुरोध करके काव्य-ममर्ज्ञता का परिचय दिया। इन पुरस्कारों को पाकर ठकुरी प्रसन्न न थे, यह कहना मिथ्यावाद होगा। उनकी काव्यजनित प्रतिभा भाइयों की उपेक्षा, भौजाइयों के व्यंग्य और पत्नी की मर्मपीड़ा का कारण थी, इसे भी वे नहीं जानते थे।

कुछ वर्षों में पत्नी ने उन्हें एक कन्या का उपहार दिया, पर इसके उपरांत वह विश्राम और पथ्य के अभाव में प्रसूति ज्वर से पीड़ित हुई तथा उचित चिकित्सा के अभाव में डेढ़ वर्ष की बालिका छोड़कर अपने कठोर जीवन से मुक्ति पा गई। ठकुरी उसी रात आल्हा सुनाकर लौटे थे। माता की मृत्यु का उन्हें स्मरण नहीं था, वृद्ध पिता की विदा ने उनके मर्म को छेदा नहीं था, पर यौवन के प्रथम प्रहर में स्नेह-बंधन तोड़ जाने वाली पत्नी ने उनके हृदय को हिला दिया। खारे आंसुओं ने आंखों का गुलाबीपन धोकर उन्हें जीवन-दर्शन के लिए स्वच्छ बनाया। पत्नी को खोकर ही ठकुरी वास्तविक पति और पिता बन सके।

घर में बालिका की उपेक्षा देख कर और उसके परिणाम की कल्पना करके वे अलगीड़े पर बाध्य हुए तथा घर की व्यवस्था के लिए अपनी बूढ़ी मौसी को लिवा लाए; पर कन्या की देख-रेख वे स्वयं करते थे। आल्हा-उद्दल की कथा के प्रेमी पिता की बेला, विनोद के समय उनके कंधे पर चढ़ी हुई घूमती थी और काम के समय पीठ पर बंधी हुई उनके काम की निगरानी करती थी। किसी के हंसने पर ठकुरी कह देते कि जब मजदूर भौं अपने बच्चों को लेकर काम करती है, तब पिता के ऐसा करने में लजाने की कौन बात है! बेला के लिए जो वही बाप है और वही मां।

बालिका जब छ-सात वर्ष की हुई, तब ठकुरी किसी काव्यप्रेमी सजातीय के सुशील, पर मातृ-पितृहीन भतीजे को ले आये और बेला की सगाई करके भावी जामाता को अपना काम-काज सिखाने लगे। भाग्य संभवतः इस देहाती कवि से रुष्ट था, इसी से शिक्षा समाप्त होते ही भावी जामाता के चेचक निकल आई। वह बच तो गया, पर एक आंख के लिए सम्पूर्ण सृष्टि अन्धकारमय हो गई और दूसरी में इतनी ज्योति शेष रही कि ठोस संसार भाप का बादल-सा दिखाई पड़ने लगा।

पिता ने कन्या की इच्छा जाननी चाही, पर वह हठ में महोबे की लड़ाई की उस बेला के समान निकली, जिसने पिता के बाग में लगे घंदन की चिता पर ही सती होने का प्रण किया था। बेला ने बचपन के साथी को छोड़ना नहीं चाहा और इस प्रकार ठकुरी बाबा वचन-भंग के पातक से बचे गए।

अब कवि ससुर, उसकी बूढ़ी मौसी, अन्धा दामाद और रूपसी बेटी एक विचित्र परिवार बनाये बैठे हैं। ससुर ने जामाता को भी काव्य की पर्याप्त शिक्षा दे खाली है। ठकुरी बनाकर भक्ति के पद गाते हैं, तब वह खंजरी पर दो उंगलियों से थपकी देकर तान संभालता है, बूढ़ी मौसी तन्मयता के आवेश में मंजीरा झनकार देती है और भीतर काम करती हुई बेला की गति में एक थिरकन भर जाती है।

घर में एक मुरा भैंस, दो पछाही गायें और एक हल की खेती होने के कारण जीवन-यापन का प्रश्न विशेष समस्या नहीं उत्पन्न करता। यह विचित्र परिवार हर वर्ष माघ मेले के अवसर पर गंगा-तीर कल्पवास करके पुण्यपर्व मनाता है। इसके साथ गांव के अन्य भक्तगण भी खिंचे घले आते हैं।

ठकुरी बाबा तो सबको अपना अतिथि बनाने को प्रस्तुत रहते हैं। पर कल्पवास में दूसरे का अन्न खाने वाले को विनिमय में अपना पुण्यफल दे देना पड़ता है, इसी से वे सब अपनी-अपनी गठरी-मुटरी में खाने-पीने का सामान लेकर घर से निकलते हैं, पर वस्तु का विनिमय वर्ज्य नहीं माना जाता, चाहे विनिमय वाली वस्तुओं में कितनी ही असमानता क्यों न हो। आवश्यकता और नियम के बीच में वे सरल ग्रामीण जैसा समझौता कर देते हैं, उसे देखकर हंसी आये बिना नहीं रहती। 'कोई गुड़ की एक डली रखकर ठकुरी बाबा से आघ सेर आटा ले जाता है, कोई चार मिर्च देकर आलू-शकरकन्द का फलाहार प्राप्त कर लेता है। कोई पत्ते पर तोला भर दही रखकर कटोरा भर चावल मापता है। कोई धूप के लिए रस्ती भर घी देकर लुटिया भर दूध चाहता है।

ठकुरी बाबा को देने में एक विशेष प्रकार की आनन्दानुभूति होती है, इसी से वे स्वयं पूछ-पूछकर इस विनिमय व्यापार को शिथिल होने नहीं देते। वे भावुक और विश्वासी जीव हैं। चिकारा हाथ में लेते ही उनके लिए संसार का अर्थ बदल जाता है। उनकी उदारता, सहज सौहार्द, सरल भावुकता आदि गुण ग्रामीण-जीवन के लक्षण होने पर भी अब वहाँ सुलभ नहीं रहे। वास्तव में गांव का जीवन इतना उत्पीड़ित और दुर्वह होता जा रहा है कि उसमें मनुष्यता को विकास के लिए अवकाश मिलना ही कठिन है।

सदा के समान इस वर्ष भी ठकुरी बाबा के दल में विविधता है। भोजन की व्यवस्था के लिए बालू खोदकर चूल्हे बनाती हुई लोकचिन्ता-स्त बेटी, चिकारा, मंजीरे और डफली आदि की पृष्ठभूमि के साथ स्वप्न-दर्शन में अचल जामाता और घी की हैंडिया,

हिंदी गद्य विविधा

काशीफल आदि के बीच में बैठकर लोक और परलोक की समस्या सुलझाती हुई मौसी से ठकुरी बाबा का कुटुम्ब बना है। शेष मानो विभिन्न वर्गों और जातियों की सम्मिलित परिषद् है।

एक वृद्ध ठकुराइन हैं। पति के जीवनकाल में वे परिवार में रानी की स्थिति रखती थीं, परंतु विधवा होते ही जिठौतों ने निःसंतान काकी से मत देने का अधिकार भी छीन लिया। गाँव के नाते वे ठकुरी की बुआ होती थीं, इससे पुण्य कमाने के अवसर पर वे उन्हें साथ लाना नहीं भूलते।

दूसरी एक सहुआइन है, जिनके पति गाँव की तेली-बालिका को लेकर कलकत्ते में कर्तव्यपालन कर रहे हैं। विवाहिता जीवन के डबल सर्टीफिकेट के समान दो-दो बिछुए पहनकर और नाक तक खिंचे घूंघट में वधुवंश की मर्यादा को सुरक्षित रखकर वे परचून की दुकान द्वारा जीवन-यापन करती हैं।

हर माघ में वे अपने दो किशोर बालकों के साथ आकर कल्पवास की कठोरता सहती है और कमर तक जल में खड़ी होकर भूवी जन्मों में साहुजी को पाने का वरदान माँगती है। पति ने उनका इहलोक विगाड़ दिया है, पर अब उसके अतिरिक्त किसी और की कामना करके वे परलोक नहीं बिगाड़ना चाहती।

तीसरा एक विधुर काछी है। किसी के टुकड़े में कुछ तरकारी बोकर किसी की आम की बगिया की रखवाली करके अपना निर्वाह करता है। उसकी घरवाली तीन पुत्रियों की भेंट दे चुकी थी। चौथा पुत्र-उपहार देने के अवसर पर वह संसार के सभी आदान-प्रदानों में छुट्टी पा गई। रात-दिन कठोर परिश्रम करके भी उसे प्रायः भूखा सोना पड़ता था। चौथी बार पुत्र-जन्म के उपरांत घर में थोड़ा चावल मिल सका। बड़ी लड़की ने उसी का भात घड़ा दिया। भात यदि माँ खा लेती, तो बच्चे भूखे सोते, इसी से उसने चावल पसाकर माड़ स्वयं पी लिया और भात उनके लिए रख दिया। उसी रात वह सन्निपात-ग्रस्त हुई और तीसरे दिन नवजात-पुत्र के साथ ही उसके जीवन की कठिन तपस्या समाप्त हो गई।

पिछले वर्ष काछी आम के पेड़ पर से गिर पड़ा, तब से न वह सीधा खड़ा हो सकता है और न कठिन परिश्रम के योग्य है। दोनों किशोरी बालिकाएं कभी सहुआइन मौजी के कंडे पाथकर, कभी पंडिताइन का घर लीपकर कुछ पा जाती हैं, पर छोटी बालिका पिता के गले की फांसी हो रही है। ठकुरी बाबा के भरोसे ही वह अपनी तीन जीवों की सृष्टि लेकर कल्पवास करने आता है, पर गंगा भाई से वह माँगता क्या है, इसका अनुमान लगाना कठिन है।

ठकुरी बाबा

चौथे ब्राह्मण - दम्पति हैं। गँवई-गँव की यजमानी वह कामधेनु नहीं है कि पंडितजी महन्ती माँग लेते, पर कहीं कथा बाँचकर और कहीं पुरोहिती करके वे आजीविका का प्रश्न हल कर लेते हैं। विधाता ने जाने कैसा षडयंत्र रचकर उन्हें पुं. नामक नरक से, उबारने वाले को अवतार नहीं लेने दिया। पर पंडितजी अपनी रतुतियों द्वारा गंगा को गदगद करके बेचारे चित्रगुप्त का लेखा-जोखा व्यर्थ कर देना चाहते हैं।

पंडिताइन भी अच्छी हैं, पर संतान के लिए इतनी लम्बी प्रतीक्षा ने उनकी आशा के माधुर्य में वैसी ही खटाई उत्पन्न कर दी है, जैसी देर से रखे हुए दूध के फट जाने पर स्वाभाविक है।

पति के पूजा पाठ का खटराग पंडिताइन को फूटी आँख नहीं सुहाता इसी से वह कभी चंदन का मुठिया नाज में गाड़ देती हैं, कभी सुमिरनी मोखे में छिपा आती है और कभी पोथी पत्रा अपनी पिठारी में बंद कर रखती है।

एक मेमोरी विधवा बहिन का देहांत हो जाने पर पंडित, बालक भांजे को आश्रय देने के लिए बाध्य हो गये। तब से वही महाभारत की द्रौपदी बन गया है। उससे पुत्र का अभाव भरने के स्थान में और अधिक रिक्त होता जा रहा है। अपना होता तो कहना मानता, अपना रक्त होता, तो अपनी ममता करता, आदि का अर्थ बालक की अबोधता देखकर समझ में नहीं आता। वह बेचारा इन सिद्धांत वाक्यों को केवल चकित, विस्मित भाव से सुनता रहता है, क्योंकि अपने-पराये की परिभाषा अभी तक उसने सीखी नहीं है। जैसे वह माँ के जीवनकाल में था, वैसा ही आज भी है। अब अचानक वह मामी को इतना क्रोधित कैसे कर देता है, यह प्रश्न उनके मन को जब मथ डालता है, तब वह फूट फूटकर रो उठता है।

इस विचित्र साम्राज्य के साथ मैंने माघ का महीना भर बिताया अतः इतने दिनों के संस्मरण कुछ कम नहीं हैं।, पर इनमें एक सन्ध्या मेरे लिए विशेष महत्व रखती है।

मैं अधिक रात तक पढ़ती रहती थी, इसी से मेरा वह अतिथि वर्ग भजन - कीर्तन के लिए दूसरे कल्पवासियों की मण्डली में जा बैठता था। एक दिन ठकुरी बाबा से स्नेह भरी शिष्टता के साथ कहा कि एक बार अपनी कुटी में भी भजन हो तो अच्छा है। मैं कोलाहल से दूर रहती हूँ, इसी से भजन कीर्तन में सम्मिलित होना भी मेरे लिए सहज नहीं होता, पर उस दिन संभवतः कुतूहलवश ही मैंने उनका निमंत्रण स्वीकार कर लिया। दिन निश्चित हो गया।

माघी पूर्णिमा के पहले आने वाली त्रयोदशी रही होगी। सवेरे कुछ मेघखण्ड आकाश में एकत्र हो गये थे, पर सन्ध्या की सुनहली आभा के खर प्रवाह में वे धारा में

हिन्दी गद्य विविधा

पड़े नीले कमलों के समान बहकर किसी अज्ञात कूल से जा लगे। सन्ध्या स्नान और गंगा में दीपदान करके वे सब कुटी के बरामदे में और बाहर बालू पर एकत्र हो गये।

पंडितजी ने पूजा के लिए एक छोटे गमले में मिट्टी भर कर तुलसी रोप दी थी। उसी को बीच में स्थापित करके बालू का एक छोटा-सा चबूतरा बनाया गया।

फिर बूढ़ी मौसी के पिटारे में रखी हुई द्वारकाधीश की ताम्रमयी छाप, पंडितजी की रंगीन काठ की डिबिया के बंदी शालग्राम, ठकुराइन बुआ के चाँदी की जलहरी में विराजमान महादेवजी, ठकुरी बाबा का पुराने फ्रेम और टूटे शीशे में जड़ा हुआ रामपंचायतन का चित्र, सूर के हाथ से लहू लिये पीतल के बालमुकुन्द और सहुआइन भौजी के पास पति की स्मृति के रूप में रखे हुए मिट्टी के गणेश सब उसी चबूतरे पर प्रतिष्ठित हो गये। पड़ता था, भक्तों ने अपने देवताओं को सम्मेलन के लिए बाध्य कर दिया है।

बैठने में भी व्यवस्था की कमी नहीं दिखाई दी। खुले बरामदे में मेरे लिए आसन बिछा था। दाहिनी ओर दोनों बुढ़ियों और कुछ हटकर सहुआइन और पंडिताइन बैठी थी। बाईं ओर बच्चों की पंक्ति थी, जिसे सर्दी से बचाने के लिए सहुआइन ने अपनी दुसूती चादर खोलकर ओढ़ा दी थी, देवताओं के सामने पंडितजी पुरानी पोथी खोले बिद्यजमान थे। उनसे कुछ हटकर ठकुरी बाबा चिकोर की खूंटी ऐठ रहे थे और उनके गीत की हर कड़ी ठीक ठीक सुनने के लिए सटकर बैठा हुआ जामाता गोद में रखी खँजड़ी पर ममता से उँगलियाँ फेर रहा था।

काछी काका इन दोनों से कुछ दूर फटी चादर में सिकुड़े हुए थे। झुकी हुई पीठ के कारण जान पड़ता था, मानो बालू के कणों में कुछ पढ़ रहे हैं। दंस पाँच और ऐसे ही कल्पवासी आ गये थे। धूप लाना, आरती के लिए फूल बत्ती बनाना, घी निकालना आदि काम बेला के जिम्मे थे, अतः यह फिरकनी के समान इधर-उधर नाच रही थी।

भक्तों ने 'तुलसा महारानी नमो-नमो' गाया और पंडितजी ने पूजा का विधान समाप्त किया। तब ताँबे के पञ्चपात्र और आवमनी से गंगा जल और तुलसीबल बाँटा गया। गंगा जल भक्त मंडली पर छिड़क कर पंडित देवता ने कुछ शुद्ध कुछ अशुद्ध संस्कृत में गंगा को माहात्म्य का पाठ किया। फिर उच्च स्तर से रामायण गाया, जिसमें श्रीराम- जानकी- लक्ष्मण गंगा पार करते हैं। श्रोतागणों को वह अवतरण कंठस्थ होने के कारण कथावाचना का स्वर अन्य स्वरों की समष्टि में डूबकर अपना वेसुरापन छिपा सका।

तब गीरी-गपेश की वन्दना से गीत-सम्मेलन आरंभ हुआ। यह कहना कठिन होगा कि उनमें कौन सुंदर गाता था, पर यह तो स्वीकार करना ही होगा कि सभी के गीत तन्मयता के सन्चार में एक-से प्रभुविष्णु थे।

कबीर, सूर, तुलसी जैसे महान् कवियों से लेकर अज्ञातनामा ग्रामीण तुक्कड़ों तक के पद उन्हें स्मरण थे। एक जो कड़ी गाता था, उसे सबका समवेत स्वर दोहरा देता था! दूबे पाँव तक आकर फिर खिलखिलाती हुई-सी लौटने वाली लहरें मानो अविश्राम ताल दे रही थीं।

गायकों में क्रम था और गीतों में गाने वालों की अवस्था के अनुसार विविधता। सबसे पहले दो बूढ़ियों ने गाया। ठकुरी बाबा की मौसी ने 'सो ठाढ़े दोउ भइया सूरसरि तीरा। ऐही पार से लषन पुकारि केवट लाओ नइया सूरसरि तीरा।' गाकर वनवासी राम का जो मार्मिक चित्र चंपस्थित किया, उसी की प्रतिकृति ठकुराइन की 'दखिन दिसया हेरें भस्त सकारे, आजु अवइया मोरे राम पियारे! दिवस गिनत मोरी पोरें खियानी, मग जीवन थाके नैन के तारे!' आदि पंक्तियों में मिली साँस भर आने के कारण रुक-रुककर गाये हुए गीत मानो हृदय के रस से भीगकर भारी हो गए थे। पंडिताइन के 'कहन लागे मोहन मइया मइया' में यदि भाव का विस्तार था, तो सहुआइन के 'चले गए गोकुल से बलवीर चले गए ... बिलखत ग्वाल बिसूरति गौरें, तलफत जमना-तीरा चले गए।' में अभाव की गहराई। 'सुनाये बिना गुजर न होई' कह-कहकर गवाये हुए काँठी काका के, 'मन मगन भया तब क्या बोले' में यदि तन्मयता की सिद्धि थी, तो अन्धे युवक के 'सुधि ना बिसरै मोहि श्याम तुम्हारे दरसन की' में स्मृति की साधना।

ठकुरी बाबा ने साँस-साँसकर कण्ठ साफ करने के उपरांत आँख मुंद कर गाया:

खेले लागे अँगना में कुंवर कन्हइया हो!
 बोले लागे 'मइयानीकी खोटी बलमइया हो!
 खटरस भोग उनहि नहि भावै रामा,
 मइया माखन सेटी खवावै लै बलइया हो।
 साला दुसाला मनहि नहि भावै रामा,
 हंसिके कारी कमरी उदावै उनकर मइया हो!
 लैके भौरु चकई खेलन नहि जावे रामा,
 माँग 'देदे लकुटी मै घेरि लावी गइया हो'?

कृष्ण के जीवन में साधारण व्यक्तियों को इतना अपनापन मिलता है, इन प्रश्न का जो उत्तर उस दिन सहज ही मिल गया, उसका अन्यत्र मिलना कठिन होगा।

हिन्दी गद्य विविधा

स्वर, रेखाएँ और रंग भी प्रत्यक्ष कर सकते हैं, यह उनकी गीत लहरी की चित्रमयता से प्रत्यक्ष हो गया।

बूढ़े से बालक तक सबको एक ही स्पन्दन, एक ही पुलक और एक ही भाव बाँधे हुए था।

कितनी देर तक उन्होंने क्या-क्या गाया, यह बताना संभव नहीं, क्योंकि जब अंतिम आरती ने इस सम्मेलन की समाप्ति की सूचना दी, तब मैं मानो नींद से जागी।

थोड़ी देर में, सब बरामदे में अपना-अपना बिछौना ठीक करके लेट गये, किन्तु मैं अपनी कोठरी में पीतल की दीवट में जलते हुए दिये के सामने बैठकर कुछ सोचती रह गई।

सहुआइन ने पहले बाहर से झाँका, फिर एक पैर भीतर रखकर विनीत भाव से जो कहा, उसका आशय था कि अब दिये को बिदा कर देना चाहिए, उसकी माँ राह देखती होगी।

हँसी मेरे ओठों तक आकर रुक गई। जब इनके लिए सब कुछ सजीव है, तब ये दीपक की माँ की और उसकी प्रतीक्षा की कल्पना क्यों न करें। बुझाये देती है, कहने पर सहुआइन ने आगे बढ़कर आँचल की हवा से उसे बुझा दिया। बेचारी को भय था कि मैं शहराती शिष्टाचार हीनता के कारण कहीं फूँक से ही नह बुझा बैठूँ।

कितनी देर तक मैं अंधकार में बैठकर सोचती रही, यह स्मरण नहीं, पर जब मैं कुटी के बाहर आकर खड़ी हुई, तब रात ढल रही थी। निस्तब्धता से भींगी चाँदनी हल्की सफेद रेशमी चादर की तरह लहरों में सिमटी और बालू में फैली हुई थीं।

मेरी पर्णकुटी के बरामदे चाँदनी से धुल गए थे - उनमें ठंडी जमीन चादर, पुआल आदि पर जो सृष्टि सो रही थी, उसे बाह्य रूप और हृदय का संस्कार, उनकी स्वाभाविक शिष्टता, उसकी रस-विदग्धता उनकी कर्मठता आदि का क्या इतना कम मूल्य है कि उन्हें जीवन यापन की साधारण सुविधाएँ तक दूर्लभ हो जावें।

उन मानव हृदयों में उमड़ते हुए भाव-समुद्र की जो स्पर्श मधुर तरंग मुझे छू भर गई थी। उसी की स्मृति मेरे मौनस तट पर न जाने कितने विरोधी चित्र आँकने लगी।

कितने ही विराट कवि सम्मेलन, कितनी ही अखिल भारतीय कवि गोष्ठियाँ मेरी स्मृति के धरोहर हैं। मन ने कहा - खोजो तो उनमें कोई इससे मिलता हुआ चित्र - और बुद्धि प्रयास में थकने लगी।

सजे हाल, ऊँचे मन्द, माला-विभूषित सभापति मेरी स्मृति में उदय हो आये। उनसे इधर-उधर देवदूतों के समान विराजमान कविगण रूप और मूल्य दोनों में अपूर्ण थे। कोई फर्स्ट क्लास का किराया लेकर थर्ड की शोभा बढ़ाता हुआ आया था। कोई अपने कार्यवश पहले ही से उस नगर में उपस्थित था, पर थोड़ा समय वहाँ बिताने के लिए इतनी फीस चाहता था, जिसमें आना-जाना और आवश्यक कार्य-सम्पन्न होने के उपरांत भी कुछ बच सके। किसी ने अपने काव्य की महार्घता बढ़ाने के लिए ही अपनी गलेगाजी का चौगुना मूल्य निश्चित किया था।

मूल्य से जो महत्ता नहीं व्यक्त हो सकी, वह बेश-भूषा में प्रत्यक्ष थी। किसी के नये सिले सूट की अँगरेजियत, ताम्बूलराग की स्वदेशीयता में रञ्जित होकर निखर उठी थी। किसी का चीनांशुक का लहराता हुआ भारतीय परिधान, सिगरेट की धूमलेखाओं में उलझकर रहस्यमय हो रहा था। किसी के सिर के बड़े बाल अमामी से संगमूसा के चमकीले फर्श की भ्रांति उत्पन्न करते थे। किसी की सिल्की शैम्पू से धुली सीधी लटों का कृत्रिम कुञ्चन विधाता पर मनुष्य की विजय की घोषण करता था।

कुछ प्राचीनवादियों की कभी निर्निमेष खुली आँखों और कभी मीलित पलकों प्रकट करती थीं कि काव्य-रस में विश्वास न होने के कारण उन्हें विजया से सहायता माँगनी पड़ी है।

इन आश्चर्य-पुत्रों के सामने श्रोतागणों की जो समष्टि थी, वह मानो उनके चमत्कारवाद की परीक्षा लेने के लिए ही एकत्र हुई थी।

कचहरी में गवाही की पुकार के समान नामों की पुकार होती थी। कवियों में कोई मुस्कराता, कोई लजाता, कोई आत्म-विश्वास से छाती फुलाता हुआ आगे आता। कोई पंचम, कोई षड्ज, कोई गान्धार और कोई सब स्वरों के अभाव में एक सानुनासिकता के साथ कलाबाजियों में काव्य को उलझा-उलझाकर श्रोताओं के सामने उपस्थित करता और 'वाह-वाह' के लिए सब ओर गर्दन घुमाता।

उनके इतने करतब पर भी दर्शक चमत्कृत होना नहीं जानते थे। कहीं से आवाज आती - कण्ठ अच्छा नहीं है। कोई बोल उठता - भाव भी बताते जाइए। किसी ओर से सुनाई पड़ता - बैठ जाइए। कोई धृष्ट श्रोता कवि से किसी उच्छृंखल शृंगारमयी रचना को सुनाने की फरमाइश करके महिलाओं की पलकों का झुकना देखता।

कवि भी हार न मानने की शपथ लेकर बैठते हैं। 'वह नहीं सुनना चाहते तो इसे सुनिए, यह मेरी नवीनतम कृति है, ध्यान से सुनिए' आदि-आदि कहकर वे पंडों की तरह

हिन्दी गद्य विविधा

पीछे पड़ जाते हैं। दोनों ओर से कोई भी न अपनी हार स्वीकार करे को प्रस्तुत होता है और न दूसरे को हराने का निश्चय बदलना चाहता है।

कभी-कभी आठ आठ घंटे तक यह कवायद चलती रहती है पर इतने दीर्घ समय में ऐसे कुछ क्षण भी निकालना कठिन होगा, जिसमें कवि का भाव श्रोता में अपनी प्रतिध्वनि जगा सका हो और दोनों पक्ष, बाजीगर और तमाशदीन का स्वांग छोड़कर काव्यानन्द में एकत्व प्राप्त कर सकें हों। कवि कहेगा ही क्या, यदि उनकी इकाई बनकर अनेकता नहीं पा सकी और श्रोता सुनेंगे ही क्या, यदि उन सबकी विभिन्नताएँ कवि में एक नहीं हो सकीं।

जब यह समारोह समाप्त हो जाता है तब सुनाने वाले निराश और सुनने वाले थके हुए से लौटते हैं। उन पर काव्य का सात्विक प्रभाव कितना कम रहता है। इसे समझने के लिए उन सम्मेलनों का स्मरण पर्याप्त होगा, जिनसे लौटने वालों में कतिपय व्यक्ति संगीत व्यवसायिनियों के गान से मन बहलाने में नहीं हिचकते।

भाव यदि मनुष्य की क्षुद्रता, दुर्भावना और विकृतियाँ नहीं बहा पाता तब यह उसकी दुर्बलता बन जाता है। इसी से स्नेह, करुणा आदि के भाव हृदय की शक्ति बन सकते हैं और द्वेष, क्रोध के दुर्भाव उसे और अधिक दुर्बल स्थिति में छोड़ जाते हैं।

ग्रामीण समाज अपने रस समुद्र में व्यक्तिगत भेदबुद्धि और दुर्बलताएँ सहज ही डुबा देता है, इसी से इस भावस्नान के उपरांत वह अधिक स्वस्थ रूप प्राप्त कर सकता है।

हमारे सभ्यता-दर्पित शिष्ट समाज का काव्यानन्द छिछला और उसका लक्ष्य सस्ता मनोरंजन मात्र रहता है, इसी से उसमें सम्मिलित होने वालों की भेदबुद्धि एक दूसरे को नीचा दिखलाने के प्रयत्न और वैयक्तिक विषमताएँ और अधिक विस्तार पा लेती हैं। एक वह हिंडोला है, जिसमें ऊँचाई नीचाई का स्पर्श भी एक आत्मविस्मृति में विश्राम देता है। दूसरा वह दंगल का मैदान है जिसका सम धरातल भी हार जीत के दाँव पेंचों के कारण सतर्वेता की श्रांति उत्पन्न करता है।

अपने इन सम्मेलनों की व्यर्थता का मुझे ज्ञान था, पर उसमें कदर्थन की अनुभूति उसी दिन सुलभ हो सकी। इसके कुछ वर्षों के उपरान्त तो यह स्थिति इतनी दुर्वाह हो उठी कि मुझे शिष्ट सम्मेलनों से विदा ही लेनी पड़ी।

ख्याति के मध्यान्ह में कवि के लिए, अपने प्रशंसकों और अपने बीच में ऐसा दुर्भेद्य परदा डाल देना सहज नहीं होता। उस सरल जीवन की सात्विकता में यदि दूसरे पक्ष की कृत्रिमता, इतनी कठिन रेखाओं में ऑक दी होती, तो मेरा विद्रोह इतना तीव्र न

हो पाता। विशेषतः ऐसा करना तब और भी कठिन हो जाता है, जब आडम्बर के साथ अर्थ भी उपस्थित हो, क्योंकि अर्थ ही इस युग का देवता है।

कवि अपनी श्रोता-मंडली में किन गुणों को अनिवार्य समझता है यह प्रश्न आज नहीं उठता, पर अर्थ की किस सीमा पर वह अपने सिद्धांतों का बीज फेंककर नाच उठेगा, इसका उत्तर सब जानते हैं। उसकी इच्छा अर्थ के क्षेत्र में जितनी मुक्त है, वह श्रोताओं की इच्छा का उतना ही अधिक बंदी है।

जिस दरिद्र समाज ने इस व्यावसायिक आस्था के संबंध में मुझे नास्तिक बना दिया, उसे अब तक मेरी ओर से धन्यवाद नहीं मिल सका।

जब ठकुरी बाबा और उनके साथी वसंतपंचमी का स्नान करके चल गए, तब जीवन में पहली बार मुझे कोलाहल का अभाव अखरा। तब से अनेक माघ-मेलों में मैंने उन्हें देखा है। कितनी ही बार नाव पर या तट पर उनकी भगत का आयोजन हुआ, कितनी बार उन्होंने खिचड़ी, बाजरे के पुए आदि व्यंजनों से मेरा सत्कार किया और कितनी ही बार अपने जीवन का आख्यान सुनाया।

मैंने उनसे अधिक सहृदय व्यक्ति कम देखे हैं। यदि यह वृद्ध यहाँ न होकर हमारे बीच में होता, तो कैसे होता, यह प्रश्न भी मेरे मन में अनेक बार उठ चुका है, पर जीवन के अध्ययन ने मुझे बता दिया है कि इन दोनों समाजों का अंतर मिटा सकना सहज नहीं। उनका बाह्य जीवन दीन है और हमारा अंतर्जीवन रिक्त। उस समाज में विकृतियाँ व्यक्तिगत हैं, पर सद्भाव सामूहिक रहते हैं। इसके विपरीत हमारी दुर्बलताएँ समष्टिगत हैं, पर शक्ति वैयक्तिक मिलेगी।

ठकुरी बाबा अपने समाज के प्रतिनिधि हैं, इसी ने उनकी सहायता वैयक्तिक विचित्रता न होकर ग्रामीण जीवन में व्याप्त सहृदयता को व्यक्त करती है। हमारे समाज में उनकी दो स्थितियाँ संभव थीं। यदि उनमें दुर्बलताओं का प्राधान्य होता, तो वे इस समाज का प्रतिनिधित्व करते और यदि शक्ति का प्राधान्य होता, तो अपवाद की कोटि में आ जाते।

इधर दो वर्ष से ठकुरी बाबा माघ मेले में नहीं आ रहे हैं। कभी-कभी इच्छा होती है कि सैदपुर जाकर खोज करूँ, क्योंकि वहाँ से 33 मील पर उनका गाँव है। उनके कुछ पद मैंने लिख रखे हैं, जिन्हें मैं अन्य ग्रामगीतों के साथ प्रकाशित करने की इच्छा रखती हूँ। यदि ठकुरी बाबा से भेंट हो तो यह संग्रह और भी अच्छा हो सकेगा।

'यदि भेंट न हो' यह प्रश्न हृदय के किसी कोने में उठता है अवश्य पर मैं उसे आगे बढ़ने नहीं देती। ठकुरी बाबा जैसे व्यक्ति कहीं अपनी घरती का मोह छोड़ सकते हैं!

हिंदी गद्य विवेधा

पिछली बार जब वे आये थे, तब कुछ शिथिल जान पड़ते थे। हाथ दृढ़ता के साथ विकारा धामता था, पर उंगलियाँ तार के साथ कांपती थीं। पैर विश्वास के साथ पृथ्वी पर पड़ते थे, पर पिंडलियों की धरधराहट गति को डगमग कर देती थी। कण्ठ में पहले जैसा ही लोच था, पर कफ की धरधराहट उसे बेसुरा बनाती रहती थी। आँखों में ममता का वही आलोक था, पर समय ने अपनी छाया डालकर उसे धुंधला कर दिया था। मुख पर वैसी ही उन्मुक्त हंसी का भाव था, पर मानो धीरे-धीरे साथ छोड़ने वाले दाँतों को याद रखने के लिए ओंठों ने अपने ऊपर स्मृति की रेखाएँ खींच ली थीं।

व्यक्ति समय के सामने कितना विवश है। समय को स्वीकृति देने के लिए भी शरीर को कितना मूल्य देना पड़ता है।

तब ठकुरी बाबा की मौसी विदा ले चुकी थी। उनकी उपस्थिति ठकुरी बाबा के लिए इतनी स्वाभाविक हो गई थी कि अभाव की अस्वभाविकता ने उन्हें एकदम चकित कर दिया होगा। एक बार भी उनके परिचय की सीमा में आ जाने वाला व्यक्ति ठकुरी बाबा का आत्मीय बन जाता है, तब जो इतने वर्षों तक आत्मीय रहा हो, उसके महत्व के संबंध में क्या कहा जावे। मौसी के अभाव ने ठकुरी बाबा के हृदय में एक और चिंता भी जगा दी हो तो आश्चर्य नहीं : ऐसे ही एक दिन उनका अभाव बेला को सहना पड़ेगा और तब वह किस प्रकार जीवन की व्यवस्था करेगी, यही सोचना स्वाभाविक कहा जाएगा, पर वे अपनी चिंता को व्यक्त कम होने देते थे।

उनके स्वास्थ्य के संबंध में प्रश्न करने पर उत्तर मिला - 'अब चला वली के बिरिया नियराय आई है बिटिया रानी! पाके पातन की मली चलाई। जौन दिन इरि जायं तीन दिन सही।'

मैंने हंसी में कहा - 'तुम स्वर्ग में कैसे रह सकोगे बाबा! वहाँ तो न कोई तुम्हारे फूट पद और उलटवासियाँ समझेगा और न आल्हा-उद्दल की कथा सुनेगा। स्वर्ग के गन्धर्व और अप्सराओं में तुम कुछ न जंघोगे।'

ठकुरी बाबा का मन प्रसन्न हो गया। कहने लगे - 'सो तो हम जानित है बिटिया! हम उहाँ अस सोर मचाउब कि भगवानजी पुन धरती पे ढनकाय देहें। हम फिर धान रोपब, कियारी बनाउब, चिकारा बजाउब और तुम पच्चै का आल्हा-उद्दल की कथा सुनाउब। सरग हमका ना चही, गुदा हम दूसर नवा सरीर मांगै बरे जाब जरूर। ई ससुर ती बनाय के जरजर हुइग' - और वे गा उठे :

घलत प्रान काया काहे रोई राम।

ठकुरी बाबा

उस कल्पवास की पुनरावृत्ति न हो सकी। संभव है, वे नया शरीर मांगने चले गए हों, पर धरती से उनका प्रेम इतना सच्चा, जीवन से उनका संबंध ऐसा अटूट है कि उनका कहीं और रहना संभव ही नहीं जान पड़ता। अथर्व के जो गादक अपने-आपको धरती का पुत्र कहते थे, ठकुरी बाबा उन्हीं के सजातीय कहे जा सकते हैं। इनके लिए जीवन धरती का वरदान, काव्य उसके सौंदर्य की अनुमति, प्रेम उसके जाकर्षण की गति और शक्ति उसकी प्रेरणा का नाम है। ऐसे व्यक्ति मुक्ति की ऊंची-ऊंची कल्पना को दूब में खिले नीचे-से-नीचे फूल पर न्योछावर कर दें, तो आश्चर्य नहीं।

ठकुरी बाबा की कथा लिखते-लिखते रात ढल गयी - जाती हुई चांदनी के पीछे आता हुआ प्रभात का धूमिल आभास ऐसा लगता है, मानो उसी की छाया हो।

किसी अलक्ष्य महाकवि के प्रथम जागरण-छंद के समान पक्षियों का कलख नींद की निस्तब्धता पर फैल रहा है। रात की गहरी निस्पंद नींद से जागे हुए वृक्षों में दीर्घ-निःश्वास के समान समीर वह रहा है। और ऐसे समय में मेरी स्मृति ने मुझे भी किसी अतीतकाल के प्रभाव में जगा दिया है। ज्ञान पड़ता है ठकुरी बाबा गंगा तट पर बैठकर तन्मय भाव से प्रभाती गा रहे हैं - 'जागिए कृपानिधान पंछ बन बोले।'

अपनी प्रभाती से वे किसे जगाते हैं, यह कहना कठिन है।

17. अज्ञेय और 'वसंत का अग्रदूत'

जीवन परिचय

आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में अज्ञेय का महत्व सर्वविदित है। कवि और चिंतक के रूप में लगभग आधी सदी तक परवर्ती पीढ़ी के लिए प्रेरणा और चुनौती बने रहे। उनकी रचनाशीलता, उनके साहित्य चिंतन, जीवनव्यापी साहित्यिक आयोजन और अन्य गतिविधियों में सांस्कृतिक अस्मिता का आग्रह निरंतर व्यक्त होता हुआ दिखाई देता है।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का जन्म 7 मार्च 1911 को उत्तर प्रदेश देवरिया जिले में कसिया नामक स्थान में, एक पुरातत्व खुदाई शिविर में हुआ था। वात्स्यायनजी की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई थी। पंडित से संस्कृत, मौलवी से फारसी और उर्दू और अमरीकी पादरी से अंग्रेजी की पढ़ाई की। सन् 1919 में अज्ञेय पिता के साथ नालंदा आ गये। बचपन के दिन उनके पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में बीते। यहीं से उनमें हिंदी के प्रति सहज अनुराग उत्पन्न हुआ। 1921-1925 तक उनके पिता का तबादला दक्षिण भारत के नीलगिरि प्रदेश में हो गया था। इस बीच अज्ञेय ने अपने पिता के समृद्ध पुस्तकालय का जमकर उपयोग किया।

विद्यार्थी जीवन में उन्होंने देश-विदेश के साहित्य का व्यापक अध्ययन किया। उन्हें सबसे अधिक प्रभावित टेनीसन की कविताओं ने किया। टेनीसन की कृतियों की गीतात्मक चेतना और लयात्मक संवेदना ने उन्हें अभिभूत कर दिया। मद्रास में, कॉलेज के दिनों तक अज्ञेय में सौंदर्य का एक विशिष्ट अर्थ खुलता चला गया। इंटरमीडियेट तक के अध्ययन ने अज्ञेय को अनेक दिशाओं में सम्पन्न किया।

बी.एस.सी. करने के लिए सच्चिदानंद को लाहौर के फोरमेन कॉलेज में भेजा गया। अज्ञेय की निष्ठा साहित्य के प्रति अधिक थी। उनके लिए विज्ञान का अध्ययन संसार और ब्रह्माण्ड की सही समझ के लिए एक सहायक तत्व के रूप में था। बाद में उन्होंने अंग्रेजी से एम.ए. करने का निश्चय किया। एम.ए. पूर्वाह्न की पढ़ाई के वक्त अज्ञेय का क्रांतिकारियों से संपर्क बना। 1929 में वे हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी के सदस्य हो चुके थे। यह वह क्रांतिकारी संगठन था जिसमें भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद, आदि क्रांतिकारी शामिल थे। 1930 में अज्ञेय बम बनाने के सिलसिले में गिरफ्तार किए

गए, फिर दिल्ली षड्यंत्र केस के सिलसिले में उन पर मुकदमा चला और उन्हें कारावास की सजा हुई।

जेल से छूटने के उपरांत उन्होंने पत्रकारिता में कुछ अनुभव हासिल किया। 'सैनिक' और 'विशाल भारत' पत्र से कुछ अवधि के लिए जुड़े। सन 1942 में दिल्ली में अखिल भारतीय फासिस्ट विरोधी सम्मेलन का आयोजन किया। सुरक्षात्मक युद्ध की अनिवार्यता में अपने विश्वास को प्रमाणित करने के लिए वे दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान अंग्रेजी सेना में भरती हो गए। सन् 1945 तक वे कोहिमा फ्रंट पर कार्यरत थे।

सन् 1944 में अज्ञेय ने 'तार सप्तक' का संपादन किया। 'तार सप्तक' में उस समय के सात युवा कवि शामिल किए गए जिनमें अज्ञेय भी एक थे। 'तार सप्तक' को प्रयोगवाद की शुरुआत का आधार माना जाता है। मार्च 1947 में वे इलाहाबाद आ गए और 1950 तक वहीं रह कर 'प्रतीक' पत्रिका का संपादन किया। सन् 1950 में वे दिल्ली चले आये और रेडियो की नौकरी करते हुए दो वर्षों तक 'प्रतीक' निकालते रहे। 1955 तक वे रेडियो में रहे। 1955 में यूनेस्को के निमंत्रण पर अज्ञेय एक वर्ष के लिए यूरोप भ्रमण के लिए गये। उनका पहला विवाह ज्यादा देर नहीं टिक पाया और जल्दी ही संबंध विच्छेद हो गया। उनका दूसरा विवाह प्रख्यात कलाविद् कपिला वात्स्यायन से हुआ। समय-समय पर उन्होंने विदेश यात्राएँ कीं। इन यात्राओं ने जहाँ एक ओर उनके भावबोध का विस्तार किया, तो दूसरी ओर, उनकी रचनाधर्मिता को वैश्विक आयाम भी प्राप्त हुआ। कुछ समय वे अमरीका के कैलिफोर्निया राज्य में भारतीय संस्कृति और साहित्य के अध्यापन से जुड़े रहे। 1964 ई. में वे प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्रिका 'दिनमान' के संपादक बनाए गए। उन्हें उनकी काव्यकृति 'आँगन के पार द्वार पर' 1961 में साहित्य अकादेमी पुरस्कार और कुछ सालों बाद में 'कितनी नावों में कितनी बार' के लिए भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ। इस पुरस्कार की राशि का उपयोग उन्होंने 'वत्सल निधि' नामक संस्था की स्थापना के लिए किया। वे लेखकों के शिविर और व्याख्यान मालाओं को आयोजित कर देश की सांस्कृतिक चिंता को जताते रहे।

अज्ञेय ने कविता और साहित्य को बंद कमरे में नहीं पाया था। उसके लिए वे अनेक तरह के अनुभव की यात्रा थी। उन्होंने हिंदी लेखकों के बीच हमेशा संवाद स्थापित करने का प्रयत्न किया। नये रचनाकार और पुरानी पीढ़ी के रचनाकार के बीच के अंतराल को भी पाटने की कोशिश की। डॉ. रमेश चंद्र शाह के शब्दों में “ मेरी स्वाधीनता सबकी स्वाधीनता के अन्वेषी अज्ञेय की संवादोन्मुख समकालीनता का ठोस प्रमाण न केवल उनके हाल-हाल तक के चिंतन में उपलब्ध है बल्कि उसे उनके द्वारा आयोजित लेखक शिविरों में भी बराबर देखा जा सकता है।” अज्ञेय 1987 तक लगातार रचनाकर्म में संलग्न रहे। इसी वर्ष उनका निधन हुआ।

हिंदी गद्य विविधा

साहित्यिक योगदान

निर्मल वर्मा ने 'कला का जोखिम' में अज्ञेय पर टिप्पणी करते हुए लिखा था 'गाँधी ने शायद उन्हें कभी उद्धेलित नहीं किया, वह असली अर्थों में नेहरु युग के प्रतिनिधि लेखक माने जा सकते हैं। रेडिकल, लेकिन मार्क्सवादी नहीं, लोकतंत्र की मान्यताओं में विश्वास करने वाले, जिसके भीतर उन्होंने वैयक्तिक स्वतंत्रता को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना, अपनी मानसिक संरचना में अज्ञेय बहुत हद तक बंगाल रेनेसेन्स के बुद्धिजीवियों के उत्तराधिकारी रहे हैं, पश्चिमी भावबोध के प्रति एक खुला मोह और आकर्षण किंतु अपनी जातीय परंपरा और भाषा के प्रति गहन स्तर पर संवेदनशील.....।' इस टिप्पणी से अज्ञेय की मानसिक बनावट और उनके सर्जना की प्रकृति को समझने में मदद मिलेगी। अज्ञेय का साहित्य चौराहा है उसमें कई दिशाओं की ओर राह गुजरती दिखाई पड़ती है। अज्ञेय में संस्कार और संवेदना का एक द्वंद्व प्रारंभ से ही रहा। जो बृहतर सांस्कृतिक अस्मिता से प्रेरित था।

अज्ञेय ने निम्नलिखित काव्य ग्रंथों की रचना की : 'भग्नदूत' (1933), 'चिंता' (1942), 'ईत्यलम्' (1946), 'प्रिजन डेज एंड अदर पोएम्स' (अंग्रेजी में 1946), 'हरी घास पर क्षण भर' (1943), 'बावरा अहेरी' (1954), 'इंद्रधनुष रौंदें हुए ये' (1957), 'अरी ओ करुणा प्रभामय' (1959), 'आँगन के पार द्वार' (1961), 'कितनी नावों में कितनी बार' (1967), 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' (1968), 'सागर मुद्रा' (1969), 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' (1970), 'सर्जना के क्षण' (1971), 'महावृक्ष के नीचे' (1977), 'नदी की बाँक पर छाया' (1981), 'ऐसा कोई घर आपने देखा है' (1986), 'सदानीरा' (1986) प्रमुख हैं। अज्ञेय के कवि व्यक्तित्व में रोमांटिक भावबोध है परंतु है वह छायावाद के बोध से बिल्कुल अलग। वह आधुनिकतावादी भावबोध से उपजी चेतना है। उनकी अनुभूति में द्वंदात्मकता है। रचना उनके लिए अपने नैतिक, भाविक और बौद्धिक संश्लिष्टता की अभिव्यक्ति है। अनुभूति को कवि ने जीवन रस दिया है वही उनकी प्रेरणा का आधार है। अनुभूति, दर्शन और चिंतन की छाया उनके कवि कर्म पर पड़ती है। उन्होंने प्रसाद की परंपरा को आगे बढ़ाया। अज्ञेय की कविता में मौन और रहस्य की घनीभूत संवेदना है। उसमें यातना और अकेलापन है। यह अज्ञेय द्वारा अर्जित अनुभूति का पर्याय बन कर रह जाती है। अकेलेपन में साझा अनुभव की पुकार नहीं है। उनकी कविता शिल्प से सधी हुई है। वे मुक्तिबोध की तरह बेचैन और जटिल नहीं हैं। उनमें सबसे बड़ी बात यह है कि कविता के लिए शब्द चयन में वे अत्यंत सजग हैं। अज्ञेय ने कलात्मक संप्रेषणीयता की चुनौती को बहुत साहस के साथ स्वीकार किया है।

अज्ञेय ने उपन्यास भी लिखे। उनके द्वारा लिखित उपन्यास हैं : 'शेखर एक जीवनी' (भाग-एक) (1941) 'शेखर एक जीवनी' (भाग-2) (1944), 'नदी के द्वीप' (1952) और

वसंत के अग्रदूत

'अपने-अपने अजनबी' (1961)। उपन्यास में मानवीय व्यक्तित्व की परिपूर्णता की ओर क्रमिक यात्रा केंद्रीय तत्व है। 'शेखर: एक जीवनी' में किशोर मानसिकता, जीवन के विद्रोह और रागात्मक संवेदना का विस्फोट है। वहीं 'नदी के द्वीप' सुकुमार और संवेदनशील प्रेमकथा है। उसमें बौद्धिकता और शारीरिक आकर्षण है। 'अपने-अपने अजनबी' में अज्ञेय ने मनुष्य के मृत्युबोध और उसकी नियति को अस्तित्ववादी विचारधारा के अनुरूप प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में मृत्युबोध की निरर्थकता नहीं है बल्कि मृत्यु की रचनात्मकता को नये आयाम में प्रस्तावित किया गया है।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्सायायन का नाम 'अज्ञेय' प्रेमचंद ने दिया था। जब अज्ञेय जेल में थे तो, उनकी एक कहानी जैचेन्द्र कुमार ने 'हंस' में प्रकाशन के लिए प्रेमचंद के पास भेजी। चूँकि वे क्रांतिकारी थे उनका नाम नहीं छप सकता था इसलिए प्रेमचंद ने लेखक के नाम के स्थान पर 'अज्ञेय' नाम छाप दिया। बाद में वात्सायायनजी ने यही उपनाम स्वीकार कर लिया और वे अज्ञेय हो गए। उनकी प्रारंभिक कहानियाँ क्रांति और भावनात्मक आदर्शवाद की विषय वस्तु के ईद-गिर्द रची गई हैं। उनके प्रमुख कहानी संग्रह है : 'विपथगा' (1937), 'परंपरा' (1944), 'कोठरी की बात' (1945), 'शरणादाता' (1948), 'जयदोल' (1951), 'अमरवल्लरी' (1954), 'ये तेरे प्रतिरूप' (1961)। अज्ञेय एक कहानीकार के रूप में भी कम प्रतिष्ठित नहीं है। आधुनिकतावादी चेतना से युक्त उनकी कहानियों में व्यक्ति मन की अंतर्गुहाओं को तलाशने का प्रयत्न देखा जा सकता है। 'उतर प्रियदर्शी' नाम से उन्होंने एक नाटक की भी रचना की थी।

कविता और कथा साहित्य के अलावा अज्ञेय ने गद्य की अनेक विधाओं में भी रचना की है। यात्रा वृत्तांत, संस्मरण, निबंध, आलोचना के द्वारा उन्होंने हिंदी के गद्य साहित्य को समृद्ध किया है। अपने यात्रा संस्मरण में उन्होंने यात्राओं का अत्यंत मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। ये हैं : 'अरे ययावर रहेगा याद' (1953) और 'एक बूँद सहसा उछली' (1960)। पहले की पृष्ठभूमि स्वदेश है, दूसरे की विदेश है। अपने उत्तरकालीन रचना जीवन में अज्ञेय ने - 'भवन्ती' (1972) 'अन्तरा' (1973) तथा 'शाश्वती' (1973) नामक गद्य रचनाओं में अपनी गहन चिंतनशीलता और जिज्ञासा वृत्ति का परिचय दिया है। अपने अग्रजों और समकालीनों के बारे में लिखे गए विभिन्न संस्मरणों का संग्रह 'स्मृति-लेखा' (1982) पुस्तक में है। 'वसंत का अग्रदूत' इसी पुस्तक से लिया गया है।

आलोचना और चिंतन साहित्य का समृद्ध भंडार अज्ञेय के यहाँ मौजूद है। इनमें 'त्रिशंकु' (1945), 'संवत्सर' (1978), 'जोगलिखी' (1977), 'स्रोत और सेतु' (1978) 'युगसंधियों पर' (1981) प्रमुख हैं। संस्कार और परिवेश की चिंता के कारण लेखक का दृष्टिकोण साहित्यवादी नहीं है। लेखक ने रचना की समस्या को केंद्र में रखकर भी संस्कृति की ही

हिंदी गद्य विविधा

व्यापक पड़ताल करने का यत्न किया है। अज्ञेय की रचना और विचारणा आंतरिक उन्मेष की और क्रमशः आगे बढ़ती है। वे समाज का अध्ययन व्यक्ति के माध्यम से करते हैं।

अज्ञेय में रचनाकार, साहित्य चिंतक और संस्कृतिकर्मी तीनों प्रतिभाएँ एक साथ दिखाई पड़ती हैं। संपादक के रूप में उनका व्यक्तित्व अप्रतिम है। उन्होंने 'प्रतीक', 'नया प्रतीक' और 'दिनमान' जैसी पत्रिकाओं का संपादन किया। उनके द्वारा संपादित ये पत्रिकाएँ संपादन का प्रतिमान हैं। उन्होंने 'तार सप्तक' (1943), 'दूसरा सप्तक' (1951), 'तीसरा सप्तक' (1959) और 'चौथा सप्तक' (1978) का संपादन कर कवियों की विभिन्न पीढ़ियों को मंच प्रदान किया। 'तार सप्तक' प्रयोगवादियों का घोषणापत्र जैसा है। अज्ञेय में उच्च कोटि का सृजन सामर्थ्य और प्रखर विचार शक्ति के साथ-साथ अपने युग परिवेश की भी रचनात्मक संभावनाओं को पहचानने और उन्हें व्यवस्थित करने की सामर्थ्य थी।

रचना के बारे में

'स्मृति लेखा' का रचनाकाल 1982 ई. है। इस पुस्तक में लेखक ने जिन्हें स्मरण किया है, वे सभी उस समय तक दिवंगत हो चुके थे। लेखक का उन रचनाकारों और साहित्य सेवियों के साथ का अनुभव 'स्मृति लेखा' का प्राण तत्व है। इस पुस्तक के संस्मरणों का उद्देश्य सिर्फ यह नहीं है कि अज्ञेय इनके बहाने इन महापुरुषों के साथ अपनी निकटता का प्रमाण देना चाहते थे। इसके विपरीत, उनका प्रयत्न उनके व्यक्तित्व के ऐसे पहलुओं को उजागर करना है, जिनके जरिए हम उनके व्यक्तित्व को ज्यादा गहराई और ज्यादा आत्मीयता के साथ जान सकें और समझ भी सकें।

'स्मृति लेखा' ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं है, लेकिन स्मृति का विशिष्ट सजर्नात्मक उपयोग है। दरअसल 'स्मृति लेखा' यह देखने-समझने के लिए प्रेरित करती है कि एक कलाकार दूसरे कलाकार को कैसे देखता है। निराला और अज्ञेय दोनों हिंदी के महान् काव्य स्रष्टा और रचनाकार थे, जिन्होंने अपने समय और बाद की पीढ़ियों को गहरे रूप से प्रभावित किया था। अज्ञेय से पूर्व पीढ़ी के निराला के बारे में उनका यह संस्मरण साहित्य की जीवंत परंपरा को समझने की दृष्टि भी देता है।

ऐतिहासिक स्मृति एक ऐसे मिथकीय आयाम में घुल मिल जाती है जहाँ अर्थ की अनंत संभावना उपजती है। 'वसंत के अग्रदूत' में अज्ञेय निराला का स्मरण करते हुए एक कवि के अंतर्मन की जटिलता को भी समझते हैं। दो पीढ़ियों के बीच किस तरह के अंतःसूत्र होते हैं, इसे भी यह संस्मरण प्रभावशाली ढंग से बताता है। निराला की आधुनिक कविता की पहचान को अज्ञेय ने जिस तरह संस्मरण के माध्यम से प्रस्तुत किया है। सामान्यतः उसकी ओर आलोचकों का ध्यान नहीं जाता है। सांस्कृतिक अस्मिता का सूत्र दोनों

रचनाकारों को जोड़ता है। इसीलिए 'तुलसीदास' काव्य अज्ञेय को अधिक अच्छा लगता है। संस्मरण से रचनाकार को समझने की तकनीक द्वारा अज्ञेय एक स्वच्छ दृष्टि प्रदान करते हैं। जहाँ रचनाकार का संवाद अकुंठ होता है, वहाँ विचारधाराओं का घटाटोप नहीं होता है। स्मृति से रचना और रचनाकार का व्यक्तित्व निकलता दिखाई देता है। स्मृति के पारदर्शी आईने के सामने स्मरण में आये हुए व्यक्ति और जिन्होंने स्मरण किया दोनों का साझा अनुभव प्रतिबिंबित होता है।

निराला के संस्मरण को लेखक छोटी-छोटी घटनाओं से शुरू करता है ताकि उनके व्यक्तित्व के कुछ पहलू उजागर हो सकें। इसके बाद वे लेखक की रचनाओं के बारे में अपनी पूर्ववर्ती और वर्तमान धारणाओं का उल्लेख करते हैं। अज्ञेय 'तुलसीदास' के माध्यम से निराला की रचना में प्रवेश करते हैं। निराला की साहित्यिक समझ की गहराई को भी वे अपने संस्मरण के माध्यम से स्थापित करते हैं। निराला के पागलपन को जीनियस का पागलपन अज्ञेय जैसा प्रतिभावान लेखक ही समझ सकता है, जो स्वयं रचना प्रक्रिया का साक्षी होता है। निराला के औघड़ स्वभाव को समझकर रचना के साथ उसका तालमेल बिठाना एक जटिल प्रक्रिया है। अज्ञेय इस जटिलता को बड़ी सहजता से साकार कर देते हैं। कविता के अवसाद और जीवन के अवसाद निराला में कितने साथ-साथ चल रहे थे। 'वसंत के अग्रदूत' में पतझड़ के सूनेपन की पहचान कितनी गहरी है, अज्ञेय की मर्मस्पर्शी नजर उसे भी देखती है। यही समीक्षक और रचनाकार की दृष्टि में अंतर हो जाता है।

अज्ञेय की भाषा संबंधी सजगता उनके संस्मरण में सहज रूप में देखी जा सकती है। यहाँ भाषा का रूप एकदम अनौपचारिक नहीं है, कुछ तनाव है पर इतना नहीं कि आत्मीयता के भाव में बाधा हो, और इतना भी नहीं कि भाषा में कविता, कहानी जैसी भावसघनता उत्पन्न हो जाए। भाषा में आत्मीयता का स्पर्श है। अज्ञेय की भाषा साधारणतः तत्सम प्रधान है परंतु उसमें जड़ता नहीं है। भाषा अपने संदर्भों के साथ प्राणवान है। अज्ञेय के संस्मरण की शैली में वर्णनात्मकता की बजाए चित्रात्मकता अधिक है। घटनाएँ साकार रूप में जीवित हो उठती हैं लेकिन आवश्यकतानुसार वे उनमें विचार-विवेचन भी प्रस्तुत कर देते हैं। संस्मरण में कलात्मक उत्कर्षता का परिचय पाठक को सहज ही हो जाता है।

शब्दावली

अभिधा : शब्द की वह शक्ति जो वाच्यार्थ पर निर्भर करती है। तीन शब्द शक्तियों में से एक।

सींकिया : पतला-दुबला

युद्धदेहि : युद्ध की चुनौती

अनुमोदन : स्वीकृति

हिंदी गद्य विविधा

झीना : पतला

प्रकृतावस्था : नैसर्गिक या स्वाभाविक दशा

विक्षेप : चित्त की अस्थिरता

व्यंजना-संगीत : ऐसा संगीत जिसमें स्वर की बजाए व्यंजन के संगीतत्व पर बल हो।

आप्यायित : तृप्त, प्रसन्न

गुद्दी : गला

आदेशना : आदेश देना

सुरुर : नशे की हालत में

आज्ञापना : आदेश

संचारी भाव : संचारी भाव वे भाव कहलाते हैं जो पानी के बुलबुले की तरह उठते और खत्म हो जाते हैं।

प्रत्यवलोकन : गहराई से देखना

मुखरतर : और अधिक तेज़ और साफ

भँवरते : मँडराते

देदीप्यमान : प्रकाशमान

भवितव्यदर्शी : भाविष्य को जानने वाला

अमार्ज्य : जिसका मार्जन न हो सके अर्थात् जिसका दोष दूर न हो सके।

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. अब भी उस अनुभव को याद करता हूँ तो मानो एक गहराई में खो जाता हूँ। अब भी 'राम की शक्तिपूजा' अथवा निराला के अनेक गीत बार-बार पढ़ता हूँ, लेकिन 'तुलसीदास' जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उस से भी विलक्षण बात यह है कि वह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र नहीं बल्कि एक जीवंत चलचित्र देख रहा होता हूँ। ऐसी रचनाएँ तो कई होती हैं जिन में एक रसिक हृदय बोलता है। बिरली ही रचना ऐसी होती है जिसमें एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित हुई हो।
2. 'स्वर की बात तो हम भी सोचते थे। लेकिन असल में हमारे सामने संगीत का स्वर रहता था और तुम्हारे सामने बोल-चाल की भाषा का स्वर रहता है।' वह फिर थोड़ा रुक गए, सुमन फिर कुछ कहने को कुलबुलाये और मैंने उन्हें फिर टोक दिया। 'ऐसा नहीं है कि हम बात को समझते नहीं हैं। हमने सब पढ़ा है

वसंत के अग्रदूत

और हम सब समझते हैं। लेकिन हमने शब्द के स्वर को वैसा महत्व नहीं दिया, हमारे लिए संगीत का स्वर ही प्रमाण था।"

3. रघुवीर सहाय ने लिखा है, 'मेरे मन में पानी के कई संस्मरण है।' निराला के काव्य को अजस्र निर्झर मानकर मैं भी कह सकता हूँ कि 'मेरे मन में पानी के अनेक संस्मरण हैं - अजस्र बहते पानी के, फिर वह बहना चाहे मूसलाधार वृष्टि का हो, चाहे धुआँधार जल-प्रपात का, चाहे पहाड़ी नदी का, क्योंकि निराला जब कविता पढ़ते थे तब वह ऐसी ही वेगवती धारा सी बहती थी। किसी रोक की कल्पना भी तब नहीं की जा सकती थी - सरोवर-सा ठहराव उनके वाचन में अकल्पनीय था।
4. संसद के गंगा तटवर्ती बँगले को छोड़कर ही निराला जी फिर दारागंज की अपनी पुरानी कोठरी में चले गए, वहीं अवसाद और भक्ति का यह मिश्र स्वर मुखरतर होता गया। और वहीं गहरे धुँधलके और तीखे प्रकाश के बीच भँवराते हुए निराला उस स्थिति की ओर बढ़ते गए जहाँ एक ओर वह कह सकते थे, 'कौन निराला? निराला इज़ डेड !' और दूसरी ओर दृढ़ विश्वासपूर्वक 'हिंदी के सुमनों के प्रति' सम्बोधित होकर एक आहत किंतु अखंड आत्मविश्वास के साथ यह भी कह सकते थे, 'मैं ही वसंत का अग्रदूत'।

व्याख्या का उदहारण

अब भी उस अनुभव को याद करता हूँ तो मानो एक गहराई में खो जाता हूँ। अब भी 'राम की शक्तिपूजा' अथवा निराला के अनेक गीत बार-बार पढ़ता हूँ, लेकिन 'तुलसीदास' जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उस से भी विलक्षण बात यह है कि वह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र नहीं बल्कि एक जीवंत चलचित्र देख रहा होता हूँ। ऐसी रचनाएँ तो कई होती हैं जिन में एक रसिक हृदय बोलता है। बिरली ही रचना ऐसी होती है जिसमें एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित हुई हो।

संदर्भ-संकेत

एक बड़े रचनाकार में विपुलता, वैविध्य और कर्म कौशल उसके सर्जनात्मक कर्म में मौजूद होता है। अज्ञेय ऐसे ही रचनाकार थे। यह वैविध्य उनके काव्य कृतित्व में ही नहीं उनके गद्य कृतित्व में भी प्रकट हुआ है। 'स्मृति लेखा' अज्ञेय द्वारा रचित संस्मरणों का संग्रह है। इसमें लेखक का अंदाज रचनाकार के बारे में भिन्न है। इतिहास और आलोचना की सीमा से ऊपर उठकर अज्ञेय रचनाकार को देखते हैं। इस संस्मरण के बहाने अज्ञेय ने

हिंदी गद्य विविधा

निराला के व्यक्तित्व के उन पहलुओं को समझने का प्रयास किया है, जिसका संबंध उनके रचना संसार से है।

'वसंत का अग्रदूत', 'स्मृति लेखा' का एक अंश है। जिसमें लेखक निराला के साथ के अनुभव को स्मृति के जरिए प्रस्तुत करता है। उपर्युक्त गद्यांश 'वसंत का अग्रदूत' से उपस्थित है। निराला और अज्ञेय दो अलग-अलग पीढ़ी के श्रेष्ठ रचनात्मक व्यक्तित्व हैं। संस्मरण में दोनों का व्यक्तित्व बड़े रोचक और नवीन रूप में उभरकर सामने आता है।

व्याख्या-संकेत

अज्ञेय को निराला की कालजयी कृति 'राम की शक्तिपूजा' अथवा 'जूही की कली' की अपेक्षा 'तुलसीदास' श्रेष्ठ लगती है। 'तुलसीदास' के निराला और 'राम की शक्तिपूजा' के निराला में अंतर समझने पर ही हमें यह समझने में आसानी होगी है कि अज्ञेय की काव्याभिरुचि किस तरह की है। निराला में जितना इतिहास बोध है उतना ही उनका रोमांटिक बोध और सांस्कृतिक बोध भी प्रखर है। 'राम की शक्तिपूजा' की अपेक्षा 'तुलसीदास' में निराला की रसिकता और सांस्कृतिक बोध का आग्रह अज्ञेय को अच्छा लगा। 'राम की शक्तिपूजा' में विक्षोभ है, उसमें अंधकार की शक्ति है, प्रखर नाटकीयता है, जीवन में उठा तूफान है, और अन्याय के बीच हारते मनुष्य का संघर्ष है। पूरी कविता कवि की बेचैन आत्मा से साक्षात्कार कराती है। उसमें यदि विजयी होने की कामना है, तो वह घनघोर अंधकार से गुजरकर ही प्राप्त होती है। यह जानना दिलचस्प है कि अज्ञेय जो वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति पर अधिक बल देते रहे हैं, उन्हें अपेक्षाकृत निजता आग्रही कविता की अपेक्षा 'तुलसीदास' अधिक श्रेष्ठ लगती है।

'तुलसीदास' कविता में जीवन और समाज के बृहतर सत्य की ओर संकेत है। निराला जिस नजर से तुलसीदास को देख रहे थे, अज्ञेय के पास भी शायद वही दृष्टि है। वे भी उसी सांस्कृतिक दृष्टि से निराला को देख रहे थे। यहाँ रचना और व्यक्तित्व को संपृक्त रूप में देखा जा सकता है। रचना से अलग रचनाकार की पहचान नहीं है। 'तुलसीदास' कविता में साहित्यिक और सांस्कृतिक परंपरा के प्रति कवि की संवेदनशीलता लेखक को आकर्षक प्रतीत हुई। सबसे बड़ी बात रचना प्रक्रिया है। कवि की रचना प्रक्रिया में कितने तरह के घात प्रतिघात पैदा होते हैं। उन्हें महसूस करता हुआ कवि आगे बढ़ता है। तुलसीदास के शब्द अस्थिर नहीं रह जाते हैं। शब्दों में बस विराट संसार मूर्तिमान हो जाता है। घटना एक ऐतिहासिक अन्विति में उपस्थित हो जाती है।

'तुलसीदास' अज्ञेय के लिए निराला के काव्य की कसौटी है। निराला की हर रचना को वह 'तुलसीदास' के प्रतिमान से मापते हैं। उनकी काव्य प्रेरणा में सांस्कृतिक अस्मिता का भाव है। 'तुलसीदास' कविता में अज्ञेय जिस सांस्कृतिक चेतना के सर्जनात्मक रूप को

देखते हैं, वही वह चीज़ है जो दोनों कवियों को एक-दूसरे से जोड़ती है। जीवन के सांस्कृतिक पक्ष का ऐसा जीवंत चित्रण निराला के 'तुलसीदास' में व्यक्त हुआ है, वही अज्ञेय के लिए मुख्य प्रेरक है। उक्त अंश को इसी संदर्भ में समझने का प्रयास कीजिए। इस अंश में 'ऐतिहासिक अनुक्रम' 'सांस्कृतिक चेतना' जैसे पदों का प्रयोग किया गया है, इनको समझने का भी प्रयत्न करें।

'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' को साथ-साथ पढ़कर स्वयं उनके अंतर को जानने की कोशिश करें।

सहायक पुस्तकें

डॉ. राम स्वरूप चतुर्वेदी : अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली।

रमेश चंद्र शाह : अज्ञेय, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली।

अशोक वाजपेयी : अज्ञेय, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी : अज्ञेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

प्रेम सिंह : अज्ञेय : सर्जक और चिंतक, डायमंड पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

मूलपाठ : संस्मरण

वसन्त का अग्रदूत

'निराला' जी को स्मरण करते हुए एकाएक शांतिप्रिय द्विवेदी की याद आ जाय, इस की पूरी व्यंजना तो वही समझ सकेंगे जिन्होंने इन दोनों महान् विभूतियों को प्रत्यक्ष देखा था। यों औरों ने शांतिप्रिय जी का नाम प्रायः सुमित्रानन्दन पंत के संदर्भ में लिया है क्योंकि वास्तव में तो वह पन्त जी के ही भक्त थे, लेकिन मैं निराला जी के पहले दर्शन के लिए इलाहाबाद में पंडित वाचस्पति पाठक के घर जा रहा था तो देहरी पर ही एक सीकिया पहलवान के दर्शन हो गए जिसने मेरा रास्ता रोकते हुए एक टेढ़ी उँगली मेरी ओर उठा कर पूछा, 'आपने निराला जी के बारे में विश्वभारती पत्रिका में बड़ी अनर्गल बातें लिख दी हैं।' यह सीकिया पहलवान, जो यों अपने को कृष्ण-कन्हैया से कम नहीं समझता था और इसलिए हिंदी के सारे रसिक समाज के विनोद का लक्ष्य बना रहता था, शांतिप्रिय की अभिधा का भूषण था।

जिस स्वर में सवाल मुझ से पूछा गया था उससे शांतिप्रियता टपक रही हो ऐसा नहीं था। आवाज़ तो रसिक-शिरोमणि की जैसी थी वैसे थी ही, उसमें भी कुछ आक्रामक चिड़चिड़ापन भर कर सवाल मेरी ओर फेंका गया था। मैंने कहा, 'लेख आपने पढ़ा है?'

'नहीं, मैंने नहीं पढ़ा। लेकिन मेरे पास रिपोर्टें आयी हैं।'

'तब लेख आप पढ़ लीजिएगा तभी बात होगी,' कह कर मैं आगे बढ़ गया। शांतिप्रिय जी की युद्धं देहि वाली मुद्रा एक कुंठित मुद्रा में बदल गयी और वह बाहर चले गए।

यों 'रिपोर्टें' सही थीं। विश्वभारती पत्रिका में मेरा एक लम्बा लेख छपा था। आज यह मानने में भी मुझे कोई संकोच नहीं है कि उसमें निराला के साथ घोर अन्याय किया गया था। यह बात 1936 की है जब 'विशाल भारत' में पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी निराला के विरुद्ध अभियान चला रहे थे। यों चतुर्वेदी जी का आक्रोश निराला जी के कुछ लेखों पर ही था, उनकी कविताओं पर उतना नहीं (कविता से तो वह बिलकुल अछूते थे) लेकिन उपहास और विडम्बना का जो स्वर चतुर्वेदी जी की टिप्पणियों में मुखर था उसका प्रभाव निराला के समग्र कृतित्व के मूल्यांकन पर पड़ता ही था और मेरी अपरिपक्व बुद्धि पर भी था ही।

अब यह भी एक रोचक व्यंजना-भरा संयोग ही है कि सीकिया पहलवान से पार पाकर मैं भीतर पहुँचा तो वहाँ निराला जी के साथ एक दूसरे दिग्गज भी विराजमान थे

जिनके खिलाफ भी चतुर्वेदी जी एक अभियान चला चुके थे। एक चौकी के निकट आमने-सामने निराला और 'उग्र' बैठे थे। दोनों के सामने चौकी पर अधभरे गिलास रखे थे और दोनों के हाथों में अधजले सिगरेट थे।

उग्रजी से मिलना पहले भी हो चुका था, मेरे नमस्कार को सिर हिलाकर स्वीकार करते हुए उन्होंने निराला से कहा, 'यह अज्ञेय है।'

निराला जी ने एक बार सिर से पैर तक मुझे देखा। मेरे नमस्कार के जवाब में केवल कहा, 'बैठो।'

मैं बैठने ही जा रहा था कि एक बार फिर उन्होंने कहा, 'ज़रा सीधे खड़े हो जाओ।'

मुझे कुछ आश्चर्य तो हुआ, लेकिन मैं फिर सीधा खड़ा हो गया। निराला जी भी उठे और मेरे सामने आ खड़े हुए। एक बार फिर उन्होंने सिर से पैर तक मुझे देखा, मानो तौला और फिर बोले, 'ठीक है।' फिर बैठते हुए उन्होंने मुझे भी बैठने को कहा। मैं बैठ गया तो मानो स्वगत-से स्वर में उन्होंने कहा, 'डौल तो रामविलास जैसा ही है।'

रामविलास (डॉ. रामविलास शर्मा) पर उनके गहरे स्नेह की बात मैं जानता था, इस लिए उनकी बात का अर्थ मैंने यही लगाया कि और किसी क्षेत्र में न सही, एक क्षेत्र में तो निराला जी का अनुमोदन मुझे मिल गया है। मैंने यह भी अनुमान किया कि मेरे लेख की 'रिपोर्ट' अभी उन तक नहीं पहुँची या पहुँचायी गयी हैं।

निराला जी सामान्य शिष्टाचार की बातें करते रहे - क्या करता हूँ, कैसे आना हुआ अदि। बीच में उग्र जी ने एकाएक गिलास की ओर इशारा करते हुए पूछा, 'लोगे?' मैंने सिर हिला दिया तो फिर कुछ चिढ़ाते हुए स्वर में बोले, 'पानी नहीं है, शराब है, शराब।'

मैंने कहा, 'समझ गया, लेकिन मैं नहीं लेता।'

निराला जी के साथ फिर इधर-उधर की बातें होती रहीं। कविता की बात न उठाना मैंने भी श्रेयस्कर समझा।

थोड़ी देर बाद उग्र जी ने फिर कहा, 'जानते हो, यह क्या है? शराब है, शराब।'

अपनी अनुभवहीनता के बावजूद तब भी इतना तो मैं समझ ही सकता था कि उग्र जी के इस आक्रामक रवैये का कारण वह आलोचना और भर्त्सना ही है जो उन्हें वर्षों से मिलती रही है। लेकिन उसके कारण वह मुझे चुनौती दें और मैं उसे मान कर अखाड़े में उतरूँ, इसका मुझे कोई कारण नहीं दीखा। यह भी नहीं कि मेरे जानते शराब

हिंदी गद्य विविधा

पीने का समय शाम का होता, दिन के ग्यारह बजे का नहीं! मैं शांत स्वर में कहा, 'तो क्या हुआ, उग्र जी, आप सोचते हैं कि शराब के नाम से मैं डर जाऊँगा? देश में बहुत से लोग शराब पीते हैं।'

निराला जी केवल मुस्करा दिये, कुछ बोले नहीं। थोड़ी देर बाद मैं विदा लेने को उठा तो उन्होंने कहा, 'अब की बार मिलोगे तो तुम्हारी रचना सुनेंगे।'

मैंने खैर मनायी कि उन्होंने तत्काल कुछ सुनाने को नहीं कहा, 'निराला जी, मैं तो यही आशा करता हूँ कि अब की बार आप से कुछ सुनने को मिलेगा।'

आशा मेरी ही पूरी हुई। इसके बाद दो-तीन बार निराला जी के दर्शन ऐसे ही अवसरों पर हुए जब उनकी कविता सुनने को मिली। ऐसी स्थिति नहीं बनी कि उन्हें मुझ से कुछ सुनने की सूझे और मैंने इसमें अपनी कुशल ही समझी।

इसके बाद की जिस भेंट का उल्लेख करना चाहता हूँ उससे पहले निराला जी के काव्य के विषय में मेरा मन पूरी तरह बदल चुका था। वह परिवर्तन कुछ नाटकीय ढंग से ही हुआ। शायद कुछ पाठकों के लिए यह भी आश्चर्य की बात होगी कि वह उनकी 'जुही की कली' अथवा 'राम की शक्तिपूजा' पढ़कर नहीं हुआ, उनका 'तुलसीदास' पढ़कर हुआ। अब भी उस अनुभव को याद करता हूँ तो मानो एक गहराई में खो जाता हूँ। अब भी 'राम की शक्तिपूजा' अथवा निराला के अनेक गीत बार-बार पढ़ता हूँ, लेकिन 'तुलसीदास' जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उस से भी विलक्षण बात यह है कि वह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र नहीं बल्कि एक जीवंत चलचित्र देख रहा होता हूँ। ऐसी रचनाएँ तो कई होती हैं जिन में एक रसिक हृदय बोलता है। बिरली ही रचना ऐसी होती है जिसमें एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित हुई हो। 'तुलसीदास' मेरी समझ में ऐसी ही एक रचना है। उसे पहली ही बार पढ़ा तो कई बार पढ़ा। मेरी बात में जो विरोधाभास है वह बात को स्पष्ट ही करता है। 'तुलसीदास' के इस आविष्कार के बाद संभव नहीं था कि मैं निराला की अन्य सभी रचनाएँ फिर से न पढ़ूँ, 'तुलसीदास' के बारे में अपनी धारणा को अन्य रचनाओं की कसौटी पर कस कर न देखूँ।

अगली जिस भेंट का उल्लेख करना चाहता हूँ उसकी पृष्ठभूमि में कवि निराला के प्रति यह प्रगाढ़ सम्मान ही था। काल की दृष्टि से यह खासा व्यक्तिगत है क्योंकि जिस भेंट की बात मैं कर चुका हूँ वह सन् 36 में हुई थी और यह दूसरी भेंट सन् 51 के ग्रीष्म में। बीच के अंतराल में अनेक बार अनेक स्थलों पर उनसे मिलना हुआ था और

वसंत के अग्रदूत

वह एक-एक, दो-दो दिन मेरे यहाँ रह भी चुके थे, लेकिन उस अंतराल की बात बाद में करूँगा।

मैं इलाहाबाद छोड़कर दिल्ली चला आया था, लेकिन दिल्ली में अभी ऐसा कोई काम नहीं था कि उस से बँधा रहूँ, अक्सर पाँच-सात दिन के लिए इलाहाबाद चला जाता था। निराला जी तब दारागंज में रहते थे। मानसिक विक्षेप कुछ बढ़ने लगा था। और कभी-कभी वह बिल्कुल ही बहकी हुई बातें करते थे, लेकिन मेरा निजी अनुभव यही था कि काफ़ी देर तक वह बिल्कुल संयत और संतुलित विचार-विनिमय कर लेते थे, बीच-बीच में कभी-कभी वह बिल्कुल ही बहकते भी तो दो-चार मिनट में ही फिर लौट आते थे। मैं शायद उनकी विक्षिप्त स्थिति की बातों को भी सहज भाव से ले लेता था, या बहुत गहरे में समझता था कि जीनियस और पागलपन के बीच का पर्दा काफ़ी झीना होता है - कि निराला का पागलपन 'जीनियस का पागलपन' है, इसीलिए वह भी सहज ही प्रकृतावस्था में लोट आते थे। इतना ही था कि दो-चार व्यक्तियों और दो-तीन संस्थाओं के नाम मैं उनके सामने नहीं लेता था और अंग्रेज़ी का कोई शब्द या पद अपनी बात में नहीं आने देता था - क्योंकि यह मैं लक्ष्य कर चुका था कि इन्हीं से उनके वास्तविकता-बोध की गाड़ी पटरी से उतर जाती थी।

उस बार 'सुमन' (शिवमंगल सिंह) भी आए हुए थे और मेरे साथ ही ठहरे थे। मैं निराला जी से मिलने जाने वाला था और 'सुमन' भी साथ चलने को उत्सुक थे। निश्चय हुआ कि सवेरे-सवेरे ही निराला जी से मिलने जाया जाएगा - वही समय ठीक रहेगा। लेकिन सुमन जी को सवेरे तैयार होने में बड़ी कठिनाई होती है। पलंग-चाय, पूजा-पाठ और सिंगार-पट्टी में नौ बज ही जाते हैं और उस दिन भी बज गए। हम दारागंज पहुँचे तो प्रायः दस बजे का समय था।

निराला जी अपनी बैठक में नहीं थे। हम लोग वहाँ बैठ गए और उनके पास सूचना चली गयी कि मेहमान आये हैं। निराला जी उन दिनों अपना भोजन स्वयं बनाते थे और उस समय रसोई में ही थे। कोई दो मिनट बाद उन्होंने आकर बैठक में झाँका और बोले, "अरे तुम !" और तत्काल ओट हो गए।

सुमन जी तो रसोई में खबर भिजवाने के लिए मेरा पूरा नाम बताने चले थे, लेकिन अपने नाम की कठिनाई मैं जानता हूँ इसीलिए मैंने संक्षिप्त सूचना भिजवायी थी कि 'कोई मिलने आये हैं'। उस क्षण भर की झाँकी में हमने देख लिया कि निराला जी केवल कौपीन पहने हुए थे। थोड़ी देर बाद आये तो उन्होंने तहमद लगा ली थी और कंधे पर अँगोछा डाल लिया था।

हिंदी गद्य विविधा

बातें होने लगीं। मैं तो बहुत कम बोला। यों भी कम बोलता और इस समय यह देखकर कि निराला जी बड़ी संतुलित बातें कर रहे हैं मैंने चुपचाप सुनना ही ठीक समझा। लेकिन सुमन जी और चुप रहना? फिर वह तो निराला को प्रसन्न देखकर उन्हें और भी प्रसन्न करना चाह रहे थे, इसलिए पूछ बैठे, 'निराला जी आज-कल आप क्या लिख रहे हैं?'

यों तो किसी भी लेखक को यह प्रश्न एक मूर्खतापूर्ण प्रश्न जान पड़ता है। शायद सुमन से कोई पूछे तो उन्हें भी ऐसा ही लगे। फिर भी न जाने क्यों लोग यह प्रश्न पूछ बैठते हैं।

निराला ने एकाएक कहा, 'निराला, कौन निराला? निराला तो मर गया। निराला इज डेड।'

अंग्रेजी का वाक्य सुनकर मैं डरा कि अब निराला बिलकुल बहक जायेंगे और अंग्रेजी में न जाने क्या-क्या कहेंगे, लेकिन सौभाग्य से ऐसा हुआ नहीं। हमने अनुभव किया कि निराला जो बात कह रहे हैं वह मानो सच्चे अनुभव की ही बात है। जिस निराला के बारे में सुमन ने प्रश्न पूछा था वह सचमुच उनसे पीछे कहीं छूट गया है।

निराला ने मुझ से पूछा, 'तुम कुछ लिख रहे हो?'

मैंने टालते हुए कहा, 'कुछ न कुछ तो लिखता ही हूँ, लेकिन उससे संतोष नहीं है - वह उल्लेख करने लायक भी नहीं है।'

इसके बाद निराला जी ने जो चार-छः वाक्य कहे उनसे मैं आश्चर्यकित रह गया। उन्हें याद करता हूँ तो आज भी मुझे आश्चर्य होता है कि हिंदी काव्य-रचना में जो परिवर्तन हो रहा था उसकी इतनी खरी पहचान निराला को थी - उस समय के तमाम हिंदी आचार्यों से कहीं अधिक सही और अचूक - और वह तब जब कि ये सारे आचार्य उन्हें कम से कम आधा विक्षिप्त तो मान ही रहे थे।

निराला ने कहा, 'तुम जो लिखते हो वह मैंने पढ़ा है।' (इस पर सुमन ने कुछ उमंग कर पूछना चाहा था, 'अरे, निराला जी, आप अज्ञेय का लिखा हुआ भी पढ़ते हैं?' मैंन पीठ में चिकोटी काट कर सुमन को चुप कराया, और अचरज यह कि वह चुप भी हो गए - शायद निराला की बात सुनने का कुतूहल जयी हुआ।) निराला का कहना जारी रहा, 'तुम क्या करना चाहते हो वह हम समझते हैं।' थोड़ी देर रुक कर और हम दोनों को चुपचाप सुनते पाकर उन्होंने बात जारी रखी। 'स्वर की बात तो हम भी सोचते थे। लेकिन असल में हमारे सामने संगीत का स्वर रहता था और तुम्हारे सामने बोल-चाल की भाषा का स्वर रहता है।' वह फिर थोड़ा रुक गए, सुमन फिर कुछ कहने को कुलबुलाये

वसंत के अग्रदूत

और मैंने उन्हें फिर टोक दिया। 'ऐसा नहीं है कि हम बात को समझते नहीं हैं। हमने सब पढ़ा है और हम सब समझते हैं। लेकिन हमने शब्द के स्वर को वैसा महत्व नहीं दिया, हमारे लिए संगीत का स्वर ही प्रमाण था।' मैं फिर भी चुप रहा, सुनता रहा। मेरे लिए यह सुखद आश्चर्य की बात थी कि निराला इस अंतर को इतना स्पष्ट पहचानते हैं। बड़ी तेज़ी से मेरे मन के सामने उनकी 'गीतिका' की भूमिका और फिर सुमित्रानंदन पंत के 'पल्लव' की भूमिका दौड़ गयी थी। दोनों ही कवियों ने अपने प्रारंभिक काल की कविता की पृष्ठभूमि में स्वर का विचार किया था, यद्यपि बिल्कुल अलग-अलग ढंग से। उन भूमिकाओं में भी यह स्पष्ट था कि निराला के सामने संगीत का स्वर है, कविता में स्वर और ताल का विचार वह संगीत की भूमि पर खड़े होकर ही करते हैं, जब कि स्वर और स्वर-मात्रा के विचार में पंत के सामने संगीत का नहीं, भाषा का ही स्वर था और सांगीतिकता के विचार में भी वह व्यंजन-संगीत से हटकर स्वर-संगीत को वरीयता दे रहे थे। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'पल्लव' के पंत, 'गीतिका' के निराला से आगे या अधिक 'आधुनिक' थे। लेकिन जिस भेंट का उल्लेख मैं कर रहा हूँ उसमें निराला का स्वर-संवेदन कहीं आगे था जब कि उस समय तक पंत अपनी प्रारंभिक स्थापनाओं से न केवल आगे नहीं बढ़े थे बल्कि कुछ पीछे ही हटे थे (और फिर पीछे ही हटते गये)। उस समय का नये से नया कवि भी मानने को बाध्य होता कि अगर कोई पाठक उसके स्वर से स्वर मिलाकर उसे पढ़ सकता है तो वह आदर्श सहृदय पाठक निराला ही है। एक पीढ़ी का महाकवि परवर्ती पीढ़ी के काव्य को इस तरह समझ सके, परवर्ती कवि के लिए इससे अधिक आप्पायित करने वाली बात क्या हो सकती है।

सुमन ने कहा, 'निराला जी, अब इस बात पर अपना एक नया गीत सुना दीजिए।'

मैंने आशंका भरी आशा के साथ निराला की ओर देखा। निराला ने अपनी पुरानी बात दोहरा दी, 'निराला इज़ डेड। आइए एम नॉट निराला।'

सुमन कुछ हार मानते हुए बोले, 'मैंने सुना है, आप की नयी पुस्तक आयी है 'अर्चना'। वह आप के पास है - हमें दिखायेंगे?'

निराला ने एक वैसे ही खोये हुए स्वर में कहा, 'हाँ, आयी तो है, देखता हूँ।' वह उठकर भीतर गए और थोड़ी देर में पुस्तक की दो प्रतियाँ ले आये। बैठते हुए उन्होंने एक प्रति सुमन की ओर बढ़ायी जो सुमन ने ले ली। दूसरी प्रति निराला ने दूसरे हाथ से उठायी, लेकिन मेरी ओर बढ़ायी नहीं, उसे फिर वापस अपने सामने रखते हुए बोले, 'यह तुम को दूँगा।'

हिंदी गद्य विविधा

सुमन ने ललक कर कहा, 'तो यह प्रति मेरे लिए है? तो इसमें कुछ लिख देंगे?'

निराला ने प्रति सुमन से ले ली और आवरण खोल कर मुखपृष्ठ की ओर थोड़ी देर देखते रहे। फिर पुस्तक सुमन को लौटाते हुए बोले, 'नहीं, मैं नहीं लिखूंगा। वह निराला तो मर गया।'

सुमन ने पुस्तक ले ली, थोड़े से हतप्रभ तो हुए, लेकिन यह तो समझ रहे थे कि इस समय निराला को उनकी बात से डिगाना संभव नहीं होगा।

निराला फिर उठकर भीतर गए और कलम लेकर आये। दूसरी प्रति उन्होंने उठायी, खोल कर उसके पृष्ठ पर कुछ लिखने लगे। मैं साँस रोक कर प्रतीक्षा करने लगा। मन तो हुआ कि ज़रा झुक कर देखूँ कि क्या लिखने जा रहे हैं, लेकिन अपने को रोक लिया। कलम की चाल से मैंने अनुमान किया कि कुछ अंग्रेज़ी में लिख रहे हैं।

दो-तीन पंक्तियाँ लिख कर उनका हाथ थमा। आँख उठाकर एक बार उन्होंने मेरी ओर देखा और फिर कुछ लिखने लगे। इसी बीच सुमन ने कुछ इतराते हुए से स्वर में कहा, 'निराला जी, इतना पक्षपात? मेरे लिए तो आपने कुछ लिखा नहीं और'

निराला जी ने एक-दो अक्षर लिखे थे, लेकिन सुमन की बात पर चौंक कर रुक गए। उन्होंने फिर कहा, 'नहीं, नहीं, निराला तो मर गया। देयर इज़ नो निराला। निराला इज़ डेड।'

अब मैंने देखा कि पुस्तक में उन्होंने अंग्रेज़ी में नाम के पहले दो अक्षर लिखे थे - एन् आई, लेकिन अब उसके आगे दो बिंदियाँ लगाकर नाम अधूरा छोड़ दिया, नीचे एक लकीर खींची और उसके नीचे तारीख डाली 18.5.51 और पुस्तक मेरी ओर बढ़ा दी।

पुस्तक मैंने ले ली। तत्काल खोल कर पढ़ा नहीं कि उन्होंने क्या लिखा है। निराला ने इसका अवसर भी तत्काल नहीं दिया। खड़े होते हुए बोले, 'तुम लोगों के लिए कुछ लाता हूँ।'

मैंने बात की व्यर्थता जानते हुए कहा, 'निराला जी, हम लोग अभी नाश्ता करके चले थे, रहने दीजिए।' और इसी प्रकार सुमन ने भी जोड़ दिया, 'बस, एक गिलास पानी दे दीजिए।'

'पानी भी मिलेगा,' कहते हुए निराला भीतर चले गए। हम दोनों ने अर्थभरी दृष्टि से एक-दूसरे की ओर देखा। मैंने दबे स्वर में कहा, 'इसीलिए कहता था कि सेवरे जल्दी चलो।'

वसंत के अग्रदूत

फिर मैंने जल्दी से पुस्तक खोल कर देखा कि निराला जी ने क्या लिखा था। कृतकृत्य होकर मैंने पुस्तक फुर्ती से बंद की तो सुमन ने उतावली से कहा, 'देखें, देखें....'

मैंने निर्णयात्मक ढंग से पुस्तक घुटने के नीचे दबा ली, दिखायी नहीं। घर पहुँचकर भी देखने का काफ़ी समय रहेगा।

इस बीच निराला एक बड़ी बाटी में कुछ ले आये और हम दोनों के बीच बाटी रखते हुए बोले, 'लो, खाओ, मैं पानी ले कर आता हूँ,' और फिर भीतर लौट गए।

बाटी में कटहल की भुजिया थी। बाटी में ही सफ़ाई से उसके दो हिस्से कर दिये गए थे।

निराला के लौटने तक हम दोनों रुक गए। यह क्लेश हम दोनों के मन में था कि निराला जी अपने लिए जो भोजन बना रहे थे वह सारा का सारा उन्होंने हमारे सामने परोस दिया है और अब दिन-भर भूखे रहेंगे। लेकिन मैं यह भी जानता था कि हमारा कुछ भी कहना व्यर्थ होगा - निराला का आतिथ्य ऐसा ही ज़ालिम आतिथ्य है। सुमन ने कहा, 'निराला जी, आप...'

'हम क्या?'

'निराला जी, आप नहीं खायेंगे तो हम भी नहीं खायेंगे।'

निराला जी ने एक हाथ सुमन की गर्दन की ओर बढ़ाते हुए कहा, 'खाओगे कैसे नहीं? हम गुद्दी पकड़ कर खिलायेंगे।'

सुमन ने फिर भी हठ करते हुए कहा, 'लेकिन, निराला जी, यह तो आप का भोजन था। अब आप क्या उपवास करेंगे?'

निराला ने स्थिर दृष्टि से सुमन की ओर देखते हुए कहा, 'तो भले आदमी, किसी से मिलने जाओ तो समय-असमय का विचार भी तो करना होता है।' और फिर थोड़ा घुड़क कर बोले : 'अब आये हो तो भुगतो।'

हम दोनों ने कटहल की वह भुजिया किसी तरह गले से नीचे उतारी। बहुत स्वादिष्ट बनी थी, लेकिन उस समय स्वाद का विचार करने की हालत हमारी नहीं थी।

जब हम लोग बाहर निकले तो सुमन ने खिन्न स्वर में कहा, 'भाई, यह तो बड़ा अन्याय हो गया।'

हिंदी गद्य विविधा

मैंने कहा, 'इसीलिए मैं कल से कह रहा था कि सवेरे जल्दी चलना है, लेकिन आपको सिंगार-पट्टी से और कोल्ड-क्रीम से फ्रुरसत मिले तब तो! नाम 'सुमन' रख लेने से क्या होता है अगर सवेरे-सवेरे सहज खिल भी न सकें!'

यों हम लोग लौट आये। घर आकर फिर 'अर्चना' की मेरी प्रति खोल कर हम दोनों ने पढ़ा। निराला ने लिखा था :

To Ajneya,
The Poet, Writer and Novelist
In the foremost rank.

Ni..

18-5-51

सन् 36 और सन् 51 के बीच, जैसा मैं कह चुका हूँ, निराला जी से अनेक बार मिलना हुआ। उनके 'तुलसीदास' का पहला प्रकाशन 1938 में हुआ था और मैंने उनकी रचनाओं के बारे में अपनी धारणा के आमूल परिवर्तन की घोषणा रेडियो से जिस समीक्षा में की थी उसका प्रसारण शायद 1940 के आरंभ में हुआ था। मेरठ में हिंदी साहित्य परिषद् के समारोह के लिए मैंने उन्हें आमंत्रित किया तो आमंत्रण उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और मेरठ के प्रवास में वह कुछ समय श्रीमती होमवती देवी के यहाँ और कुछ समय मेरे यहाँ ठहरे। होमवती जी उस समय परिषद् की अध्यक्ष भी थीं और निराला जी को अपने यहाँ ठहराने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। जिस बंगले में वह रहती थीं उसके अलावा एक और बंगला उनके पास था जो उन दिनों आधा खाली था और निराला जी के वहीं ठहरने की व्यवस्था की गयी। यह बंगला होमवती जी के आवास से सटा हुआ होकर भी अलग था, इसलिए सभी आश्वस्त थे कि अतिथि अथवा आतिथेय को कोई असुविधा नहीं होगी - यों थोड़ी चिंता भी थी कि होमवती जी के परम वैष्णव संस्कार निराला जी की आदतों को कैसे सँभाल पायेंगे। मेरा घर वहाँ से तीन-एक फ़र्लांग दूर था और छोटा भी था, सुमन, प्रभाकर माचवे और भारत-भूषण अग्रवाल को मेरे यहाँ ठहराने का निश्चय हुआ था।

होमवती जी ने श्रद्धापूर्वक निराला जी को ठहरा तो लिया, लेकिन दोपहर का भोजन उन्हें कराने के बाद वह दौड़ी हुई मेरे यहाँ आयीं। 'भाई जी, शाम का क्या होगा? लोग तो कह रहे हैं कि निराला जी तो शाम को शराब के बिना भोजन नहीं करते और भोजन भी मांस के बिना नहीं करते। हमारे यहाँ तो यह सब नहीं चल सकता। और फिर अगर हम उधर अलग इंतज़ाम करें भी तो लायेगा कौन और सँभालेगा कौन?'

यह कठिनाई होने वाली है इसका हमें अनुमान तो था, लेकिन होमवती जी के उत्साह और उनकी स्नेहभरी आदेशना के सामने कोई बोला नहीं था।

उन्हें तो किसी तरह समझा-बुझा कर लौटा दिया गया कि हम लोग कुछ व्यवस्था कर लेंगे, उन्हें इसमें नहीं पड़ना होगा। संयोजकों में शराब से परिचित कोई न हो ऐसा तो नहीं था। शाम को एक अद्धा निरालाजी की सेवा में पहुँचा दिया गया और निश्चय हुआ कि भोजन कराने भी उन्हें सदर के होटल में ले जाया जाएगा।

इधर हम लोग शाम को भोजन करने बैठे ही थे कि होटल से लौटते हुए निराला जी मेरे यहाँ आ गए। (मैं दूसरी मंजिल पर रहता था) पता लगा कि उन्होंने ही सीधे बँगले पर न लौटकर मेरे यहाँ आने की इच्छा प्रकट की थी। सुस्तर की जिस हालत में वह थे उससे मैंने यह अनुमान किया कि ऐसा निराला जी ने इसी लिए किया होगा कि वह उस हालत में होमवती जी के सामने नहीं पड़ना चाहते थे। (मैंने दूसरे अवसरों पर भी लक्ष्य किया कि ऐसे मामलों में उनका शिष्ट आचरण का संस्कार बड़ा प्रबल रहता था।) लेकिन यहाँ पर भी मेरी बहिन अतिथियों को भोजन करा रही थीं, इससे निराला जी को थोड़ा असमंजस हुआ। वह चुप-चाप एक तरफ़ एक खाट पर बैठ गए। हम लोगों ने भोजन जल्दी समाप्त करके उनका मन बहलाने की कोशिश की, लेकिन वह चुप ही रहे। एक-आधा बार 'हूँ' से अधिक कुछ बोले नहीं। उनसे जो बात करता उसकी ओर एकटक देखते रहते मानो कहना चाहते हों, 'हम जानते हैं कि हमें बहलाने की कोशिश की जा रही है, लेकिन हम बहलेंगे नहीं।'

एकाएक निराला जी ने कहा, 'सुमन, इधर आओ।' सुमन जी उनके समीप गए तो निराला ने उनकी कलाई पकड़ ली और कहा, 'चलो।'

'कहाँ, निराला जी?'

'घुमने।' सुमन ने बेबसी से मेरी ओर देखा। वह भी जानते थे कि छुटकारा नहीं है और मैं भी समझ गया कि बहस व्यर्थ होगी। नीचे उतरकर मैं एक बढ़िया सा ताँगा बुला लाया। निराला जी सुमन के साथ उतरे और उस पर आगे सवार होने लगे तो ताँगे वाले ने टोकते हुए कहा, 'सरकार, घोड़ा दब जाएगा - आप पीछे बैठें और आपके साथी आगे बैठ जायेंगे।'

निराला जी क्षण ही भर ठिठके। फिर अगली तरफ़ ही सवार होते हुए बोले, 'ये पीछे बैठेंगे, ताँगा दबाऊ होता है तो तुम भी पीछे बैठ कर चलाओ। नहीं तो रास हमें दो - हम चलायेंगे।'

ताँग वाले ने एक बार सबकी ओर देख कर हुक्म मानना ही ठीक समझा। वह भी पीछे बैठ गया, रास उसने नहीं छोड़ी। पूछा, 'कहाँ चलना होगा, सरकार?'

हिंदी गद्य विविधा

निराला जी ने उसी आज्ञापना भरे स्वर में कहा, 'देखो, दो घंटे तक यह सवाल हमसे मत पूछना। जहाँ तुम चाहो लेते चलो। अच्छी सड़कों पर सैर करेंगे। दो घंटे बाद इसी जगह पहुंचा देना, पैसे पूरे मिलेंगे।'

ताँगे वाले ने कहा, 'सरकार' और ताँगा चल पड़ा। मैं दो घंटे के लिए निश्चित होकर ऊपर चला आया।

रात के लगभग बारह बजे ताँगा लौटा और सुमन अकेले ऊपर आये। निराला जी देर से लोटने पर वहीं सो सकते हैं, यह सोच कर उनके लिए एक बिस्तर और लगा दिया गया था, लेकिन सुमन ने बताया कि निराला जी सोयेंगे तो वहीं जहाँ ठहरे हैं क्योंकि होमवती जी से कहकर नहीं आये थे। लिहाजा मैंने उसी ताँगे में उन्हें बँगले पर पहुँचा दिया और टहलता हुआ पैदल लौट आया।

अगले दिन सवेरे ही मैं होमवती जी के यहाँ देखने गया कि सब कुछ ठीक-ठाक तो है, तो होमवती जी ने अलग ले जाकर मुझे कहा, 'भैया, तुम्हारे कवि जी ने कल शाम को बाहर जो किया हो, यहाँ तो बड़े शांत भाव से, शिष्ट ढंग से रहते हैं।'

मैंने कहा, 'चलिये, आप निश्चित हुईं तो हम भी निश्चित हुए। यों डरने की कोई बात थी नहीं।'

दूसरे दिन मैं शाम से ही निराला जी को अपने यहाँ ले आया। भोजन उन्होंने वहीं किया और फिर प्रसन्न होकर कई कविताएँ सुनार्यीं। काश कि उन दिनों टेप-रिकार्डर होते - 'राम की शक्तिपूजा' अथवा 'जागो फिर एक बार' अथवा 'बादल राग' को वे वाचन परवर्ती पीढ़ियों के लिए संचित कर लिये गए होते। प्राचीन काल में काव्य-वाचक जैसे भी रहे हों, मेरे युग में तो निराला जैसा काव्य-वाचक दूसरा नहीं हुआ।

रघुवीर सहाय ने लिखा है, 'मेरे मन में पानी के कई संस्मरण हैं।' निराला के काव्य को अजस्र निर्झर मानकर मैं भी कह सकता हूँ कि 'मेरे मन में पानी के अनेक संस्मरण हैं - अजस्र बहते पानी के, फिर वह बहना चाहे मूसलाधार वृष्टि का हो, चाहे धुआँधार जल-प्रपात का, चाहे पहाड़ी नदी का, क्योंकि निराला जब कविता पढ़ते थे तब वह ऐसी ही वेगवती धारा सी बहती थी। किसी रोक की कल्पना भी तब नहीं की जा सकती थी - सरोवर-सा ठहराव उनके वाचन में अकल्पनीय था।

और क्योंकि पानी के अनेक संस्मरण हैं, इसलिए उन्हें दुहराऊँगा नहीं।

उन्हीं दिनों के आस-पास उनसे और भी कई बार मिलना हुआ, दिल्ली में वह मेरे यहाँ आये थे और दिल्ली में एकाधिक बार उन्होंने मेरे अनुरोध किये बिना ही सहज उदारतावश अपनी कई कविताएँ सुनार्यीं। फिर इलाहाबाद में भी जब-तब मिलना होता, पर

वसंत के अग्रदूत

कविता सुनने का ढंग का अवसर केवल एक बार हुआ क्योंकि इलाहाबाद में धीरे-धीरे एक अवसाद उन पर छाता गया था जो उन्हें अपने परिचितों के बीच रहते भी उनसे अलग करता जा रहा था। पहले भी उन्होंने गाया था :

मैं अकेला
देखता हूँ आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य वेला।

....
जानता हूँ नदी झरने
जो मुझे थे पार करने
कर चुका हूँ
हँस रहा यह देख
कोई नहीं भेला।

अथवा

स्नेह निर्झर बह गया है
रेत-सा तन रह गया है

....
बह रही है हृदय पर केवल अमा
मैं अलक्षित रहूँ, यह
कवि कह गया है,

लेकिन इन कविताओं के अकेलेपन अथवा अवसाद का स्वर एक संचारी भाव का प्रतिबिंब है जिससे दूसरे भी कवि परिचित होंगे। इसके अनेक वर्ष बाद के

बाँधे न नाव इस ठाँव, बन्धु
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु!

का अवसाद मानो एक स्थायी मनोभाव है। पहले का स्वर केवल एक तात्कालिक अवस्था को प्रकट करता जैसे और भी पहले की 'सखि वसंत आया' अथवा 'सुमन भर न लिये, सखि वसंत गया' आदि कविताएँ तत्कालीन प्रतिक्रिया अथवा भावदशा को दर्शाती हैं। लेकिन 'अर्चना' और उसके बाद की कविताओं में हताश अवसाद का जो भाव छाया हुआ दीखता है वह तत्कालीन प्रतिक्रिया का नहीं, जीवन के दीर्घ प्रत्यवलोकन का परिणाम है जिससे निराला जब-तब उबरते दीखते हैं तो अपने भक्ति-गीतों में ही :

तुम ही हुए रखवाल
तो उस का कौन न होगा।

अथवा

हिंदी गद्य विविधा

वे दुख के दिन
काटे हैं जिसने
गिन-गिन कर
पल-छिन, तिन-तिन
आँसू की लड़ के मोती के
हार पिरोये
गले डाल कर प्रियतम के
लगने को शशि मुख
दुःखनिशा में
उज्ज्वल, अमलिन।

कह नहीं सकता, इस स्थायी भाव के विकास में कहाँ तक महादेवी जी द्वारा स्थापित साहित्यकार संसद के उनके प्रवास ने योग दिया जिसमें निराला के सम्मान में दावतें भी हुईं तो मानो ऐसी ही जो उन्हें हिंदी कवि-समाज के निकट न लाकर उससे थोड़ा और अलग ही कर गयीं। संसद के गंगा तटवर्ती बँगले को छोड़कर ही निराला जी फिर दारागंज की अपनी पुरानी कोठरी में चले गए, वहीं अवसाद और भक्ति का यह मिश्र स्वर मुखरतर होता गया। और वहीं गहरे धुँधलके और तीखे प्रकाश के बीच भँवराते हुए निराला उस स्थिति की ओर बढ़ते गए जहाँ एक ओर वह कह सकते थे, 'कौन निराला? निराला इज़ डेड !' और दूसरी ओर दृढ़ विश्वासपूर्वक 'हिंदी के सुमनों के प्रति' सम्बोधित होकर एक आहत किंतु अखंड आत्मविश्वास के साथ यह भी कह सकते थे, 'मैं ही वसंत का अग्रदूत'। सचमुच वसंत पंचमी के दिन जन्म लेने वाले निराला हिंदी काव्य के वसंत के अग्रदूत थे। लेकिन अब जब वह नहीं हैं तो उनकी कविताएँ बार-बार पढ़ते हुए मेरा मन उनकी इस आत्मविश्वास भरी उक्ति पर न अटक कर उनके 'तुलसीदास' की कुछ पंक्तियों पर ही अटकता है जहाँ मानो उनका कवि भवितव्यदर्शी हो उठता है - उस भवितव्य को देख लेता है जो खंडकाव्य के नायक तुलसीदास का नहीं, उसके रचयिता निराला का ही है :

यह जागा कवि अशेष छविघर
इसका स्वर भर भारती मुक्त होयेंगी
... ..
तम के अमाज्य रे तार-तार
जो, उन पर पड़ी प्रकाश धार
जग वीणा के स्वर के बहार रे जागो;
इस पर अपने कारुणिक प्राण
कर लो समक्ष देदीप्यमान -

दे गीत विश्व को रुको, दान फिर माँगो।

इस अशेष छविधर कवि ने दान कभी नहीं माँगा, पर गीत विश्व को दिया -
गीत दिया, पर उसके लिए भी रुका नहीं, बाँटते-बाँटते ही तिरोधान हो गया :
मैं अलक्षित रहूँ, यह कवि कह गया है।

18 . अमृत राय और 'कलम का सिपाही'

जीवन परिचय

अमृत राय बहुमुखी प्रतिभा संपन्न साहित्यकार थे। उनका जन्म 15 अगस्त 1921 को उत्तर प्रदेश के कानपुर नगर में हुआ। इनके पिता हिंदी उपन्यास सम्राट प्रेमचंद थे। अमृत राय के जन्म के लगभग सात - आठ महीने बाद ही प्रेमचंद बनारस चले आए और अपने ग्राम लमही में रहने लगे। कुछ समय बाद प्रेमचंद को सपरिवार लखनऊ आना पड़ा। अमृत राय का बचपन कानपुर, लमही, बनारस और लखनऊ में व्यतीत हुआ। स्कूल शिक्षा उन्होंने बनारस और इलाहाबाद में प्राप्त की। इलाहाबाद से उन्होंने एम.ए. तक की शिक्षा प्राप्त की।

अमृत राय राजनीतिक रूप से जागरूक लेखक थे। सन 1942 में वह तत्कालीन कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने और सक्रिय रूप से पार्टी द्वारा आयोजित आंदोलनों में भाग लेने लगे। उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ में सक्रिय हिस्सा लिया। भारत-सोवियत मैत्री और विश्व शांति से जुड़ी गतिविधियों आदि कई सांस्कृतिक आंदोलनों में भी उत्साहपूर्वक भाग लिया। अपनी राजनीतिक मान्यताओं के कारण उन्हें जेल भी जाना पड़ा। 1956 में कम्युनिस्ट पार्टी के नीतियों से विरोध होने के कारण पार्टी से त्यागपत्र दे दिया। तथापि उनकी आस्था मार्क्सवाद के प्रति कभी कम न हुई।

अमृत राय ने लगभग तेरह वर्ष की अवस्था से ही साहित्य सृजन आरंभ कर दिया था। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ बालोपयोगी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। अमृत राय ने प्रेमचंद द्वारा संपादित 'हंस' नामक पत्रिका का कई वर्षों तक सफलतापूर्वक संपादन एवं प्रकाशन किया। 'हंस' के साथ-साथ 'नई कहानियाँ' नामक एक अन्य मासिक पत्रिका का भी संपादन किया। उन्हें भारत सरकार की 'नेशनल बुक ट्रस्ट' एवं 'साहित्य अकादेमी' आदि संस्थाओं का सदस्य मनोनीत किया गया। अमृत राय ने कई बार विदेश यात्राएं कीं।

उनकी पुस्तक 'कलम का सिपाही' की 1963 को श्रेष्ठ पुस्तक घोषित किया गया। उन्हें उस पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। 'अग्निदीक्षा' नामक कृति को 1963 में 'सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार' के द्वारा सम्मानित किया गया। यह प्रसिद्ध सोवियत

लेखक आस्ट्रोवस्की के विश्वविख्यात उपन्यास का हिंदी अनुवाद था जो अत्यंत लोकप्रिय भी हुआ। उन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं के साथ-साथ आलोचना साहित्य को भी समृद्ध किया। अमृत राय निरंतर रचनाशील रहे। 1998 में उनका निधन हो गया।

साहित्यिक योगदान

अमृत राय प्रगतिशील विचारधारा के प्रतिनिधि रचनाकार हैं। इनकी रचनाओं में समाज के दबे-कुचले लोगों का विद्रोह व्यक्त हुआ है। जो लोग शोषित और पीड़ित हैं, जो लोग समाज में हाशिए पर हैं उनको अमृत राय की रचनाओं में केन्द्रीयता प्राप्त हुई है। अमृत राय ने गद्य की विभिन्न विधाओं का प्रयोग किया है जिनमें उपन्यास, कहानी, निबंध, जीवनी, नाटक, यात्रा साहित्य और आलोचना प्रमुख हैं। अमृत राय ने विश्व साहित्य की कई प्रख्यात कृतियों का हिंदी में श्रेष्ठ अनुवाद भी किया है।

अमृत राय द्वारा रचित, उपन्यासों में 'बीज', 'नागफनी का देश', 'हाँथी के दाँत', 'भटयाली जंगल', 'सुख-दुःख' एवं 'धुआँ' प्रमुख हैं। 'बीज' में सन 1942 से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक के राजनीतिक और सामाजिक गतिविधियों की झाँकी मिलती है। 'नागफनी का देश' एक छोटा उपन्यास है जिसमें प्रेम के अंध और भावात्मक रूप का चित्रण है। 'हाँथी के दाँत' अमृत राय का प्रतीकात्मक उपन्यास है जिसमें एक सामंत के व्यंग्य चित्र द्वारा यह बताया गया है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी उन लोगों के दृष्टिकोण में कोई अंतर नहीं आया है।

अमृत राय के प्रकाशित कहानी संग्रह में 'जीवन के पहलू' (1945), 'इतिहास' (1948), 'कस्बे का एक दिन' (1956), 'भोर से पहले' (1954), 'कठघरे' (1956), 'गीली मिट्टी' (1960), 'चित्रफलक' (1972) तथा 'सरगम' (1971) प्रमुख हैं। उनकी कहानियों में एक प्रकार का क्रांतिकारी रूमानिपन है। इनकी कहानियों में कटु यथार्थ की जटिलता और संश्लिष्टता का प्रतिबिंब दिखाई देता है। लेखक ने नई सामाजिकता की चुनौती को आगे बढ़कर स्वीकार किया है।

हिंदी के निबंध साहित्य में भी अमृतराय का उल्लेखनीय योगदान है। एक ओर तो उन्होंने कई उत्कृष्ट वैयक्तिक या ललित निबंध लिखे हैं तो दूसरी ओर अनेक विचारात्मक या आलोचनात्मक निबंध भी लिखे हैं। उनके प्रमुख ललित निबंधों में 'रम्पा' (1967) 'बतरस' 'आनंदम्' (1977), प्रमुख हैं। साहित्यिक और आलोचनात्मक पुस्तकों में 'नई समीक्षा' (1950), 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' (1952), सहचिंतन (1967), 'आधुनिक भाव बोध की संज्ञा' (1972) आदि प्रमुख हैं। उनके आलोचनात्मक लेखन पर मार्क्सवादी दृष्टि का प्रभाव साफ तौर पर देखा जा सकता है। उनके द्वारा रचित नाटकों में 'बिंदियों की एक

हिंदी गद्य विविधा

झालर' (1969), 'शताब्दी' (1971) और 'हम लोग' (1974) का उल्लेख किया जा सकता है।

अमृत राय की रचनात्मकता की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है उनके द्वारा लिखी हुई प्रेमचंद की जीवनी, जिसे 'कलम का सिपाही' नाम से 1962 में उन्होंने प्रकाशित करवाया। उनकी यात्रा साहित्य संबंधी पुस्तक 'सुबह के रंग' 1953 में प्रकाशित हुई। रिपोतार्ज 'लाल-धरती' भी उल्लेखनीय रचना है। उन्होंने शेक्सपीयर के 'हेमलेट' का हिंदी में एक अच्छा गद्य अनुवाद प्रस्तुत किया। अमृत राय साहित्यकार ही नहीं विचारक भी थे। उनका साहित्य जनता के यथार्थ से जुड़ा है। वे कला और शिल्प की बारीकी के पक्षधर नहीं थे। वे सामाजिक कर्तव्य के प्रति सचेत और जागरूक लेखक थे। आर्थिक विषमता के कारण दम तोड़ती मानवीय संवेदना का सच्चा चित्र उनके साहित्य में उपलब्ध होता है। वे योग्य पिता के योग्य पुत्र थे।

प्रेमचंद की मृत्यु के लगभग छब्बीस साल बाद, सन् 1962 में प्रेमचंद स्मृति दिवस के अवसर पर अमृत राय ने प्रेमचंद की जीवनी 'कलम का सिपाही' नाम से प्रकाशित की। प्रेमचंद बीसवीं सदी के शुरुआती पैंतीस-छत्तीस सालों की उर्दू-हिंदी रचनाशीलता के आधार स्तंभ थे। कहानी और उपन्यास लेखन द्वारा उन्होंने साहित्य को राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के बृहत् उद्देश्यों से जोड़ा। इसलिए उनकी जीवनी द्वारा हम उस युग के रचनाकार के अंतर-बाह्य संघर्ष को समझ सकते हैं।

साहित्यकार के जीवन में उसके साहित्य के सूत्र छिपे होते हैं। उस सूत्र की विवेचना साहित्यकार के ऐतिहासिक विकास को समझने में एक नई दृष्टि प्रदान करते हैं। 'कलम का सिपाही' में रचनाकार ने प्रेमचंद के समस्त जीवन को वस्तुपरक, ऐतिहासिक और तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया है।

हिंदी में जीवनी साहित्य बहुत समृद्ध कभी नहीं रहा। अमृत राय ने प्रेमचंद की प्रामाणिक जीवनी लिखकर हिंदी साहित्य के इस अभाव को पूरा किया। अमृत राय प्रेमचंद के मर्म और महत्व को स्पष्टता से प्रतिपादित करते हैं। जीवनी लेखक के लिए यह ज़रूरी है कि वह लेखन में संवेदना और निष्पक्षता का यथोचित पालन करे। लेखक ने प्रेमचंद की कमजोरियों को छिपाया नहीं है। प्रेमचंद अमृत राय के पिता थे। श्रद्धा भाव के कारण जीवनी के कमजोर पड़ने की पूरी संभावना थी। लेकिन लेखक अपनी वस्तुनिष्ठ दृष्टि और निष्पक्षता से इस जोखिम को पार कर गया है। प्रेमचंद के जीवन की घटनाओं की ऐतिहासिकता और उपन्यास की रोचकता को एक साथ लेखक ने साकार कर दिया है।

प्रेमचंद : 'कलम का सिपाही' में चरित नायक प्रेमचंद को तत्कालीन राष्ट्रीय और सामाजिक परिवेश से सही ढंग से जोड़ने और प्रतिष्ठित करने में अमृतराय को बड़ी

कलम का सिपाही

सफलता मिली है। इस पाठ्यक्रम में पुस्तक के बत्तीसवें अध्याय के एक अंश को रखा गया है। इस अध्याय में उनके राजनीतिक विचार के साथ-साथ उनके आर्थिक संकट का वर्णन है। लेखक के नाते उनके दायित्व बोध की पीड़ा की साफ झलक मिलती है। लेखक व्यवस्था की भ्रष्टता के बीच किस प्रकार अपने साहित्यिक पत्र 'हंस' को चलाता है। आर्थिक संकट के कारण उसे किस प्रकार अपनी साहित्यिक रचनाओं को फिल्म बनाने के लिए अनुमति देनी पड़ती है।

'कलम का सिपाही' रोचक शैली में लिखी हुई कृति है। इसमें घटना की इतिवृत्तात्मकता नहीं है, उसमें उपन्यास की सी रोचकता है। जीवन को वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखते हुए भी उसमें लेखक सरसता को लगातार बनाये रखता है। कृति के नाम से ही कलाकार प्रेमचंद के जीवन संघर्ष का चित्र उभर आता है। जीवनी लेखन की सफलता के लिए भाषा का रचनात्मक प्रयोग भी महत्वपूर्ण है। भाषा का स्वरूप बहुत कुछ वही है, जिसमें प्रेमचंद ने रचना की थी। हिंदी और उर्दू के मिले-जुले रूप का प्रयोग। भारत की मिली-जुली संस्कृति की तरह ही भाषा का आदर्श भी उन्होंने उर्दू - हिंदी का मिश्रित प्रयोग रखा है। भाषा का स्वरूप जनसामान्य के बीच प्रचलित भाषा है। मुहावरे, लोकोक्ति और कहने की शैली में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। इस जीवनी की सफलता का एक बड़ा कारण उसकी भाषा की शक्ति ही है।

शब्दावली

समष्टि : समाज या समूह

राष्ट्रीयता : जिससे राष्ट्र की पहचान हो।

एकात्मवाद : एक ही आत्मा या एक ही परमात्मा में विश्वास करने संबंधी सिद्धांत।

अंतर्राष्ट्रीयता : विभिन्न राष्ट्रों के बीच एकता के विभिन्न आधार।

क्रीतदास : खरीदा हुआ गुलाम

संपत्ति-व्यक्तिवाद : प्रत्येक व्यक्ति को संपत्ति रखने का अधिकार देना। प्रेमचंद ने इसे ही संपत्ति-व्यक्तिवाद कहा है। पूंजीवाद में यह व्यक्तिवाद तेजी से बढ़ता है।

वर्गवाद : यहाँ प्रेमचंद का तात्पर्य वर्ग संघर्ष से है।

असंपत्तिवाद : वह सिद्धांत जहाँ सम्पत्ति को प्रमुखता न दी गई हो। इसे ही समाजवाद भी कहा जा सकता है।

इशतहार : विज्ञापन

साबिक दस्तूर : पुरानी रीति से

एंटरटेनर्स : मनोरंजक

सोशलिस्ट : समाजवादी

हिंदी गद्य विविधा

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी : कांग्रेस के अंदर बना समाजवादियों का दल। यह सन् 1934 में अस्तित्व में आया था।

संपूर्णानंदजी : कांग्रेस के समाजवादी धड़े के तत्कालीन नेता, स्वतंत्रता सेनानी और समाजवादी चिंतक

आचार्य नरेंद्र देव : समाजवादी चिंतक और स्वतंत्रता सेनानी।

तखमीना : अनुमान

उजरत : पारिश्रमिक

व्याख्या के प्रमुख अंश

1. जब तक सम्पत्ति मानव समाज के संगठन का आधार है, संसार में अंतर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। राष्ट्रों-राष्ट्रों की, भाई-भाई की, स्त्री-पुरुष की लड़ाई का कारण यही सम्पत्ति है, जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गाँठ है। जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव समाज का उद्धार नहीं हो सकता। मज़दूरों के काम का समय घटाइए, बेकारों को गुज़ारा दीजिए, ज़मींदारों और पूंजीपतियों के अधिकारों को घटाइए, मज़दूरों और किसानों के स्वत्वों को बढ़ाइए, सिक्के का मूल्य घटाइए, इस तरह के चाहे जितने सुधार आप करें, लेकिन यह जीर्ण दीवार इस तरह के टीपटाप से नहीं खड़ी रह सकती। इसे नये सिरे से गिराकर उठाना होगा।....
2. सम्पत्ति ने मनुष्य को क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल संपत्ति के संचय में बीत जाती है। मरते-दम भी हमें यही हसरत रहती है कि हाथ इस सम्पत्ति का क्या हाल होगा। हम सम्पत्ति के लिए जीते हैं, उसी के लिए मरते हैं। हम विद्वान् बनते हैं सम्पत्ति के लिए, गेरुए वस्त्र धारण करते हैं सम्पत्ति के लिए। घी में आलू मिलाकर हम क्यों बेचते हैं? दूध में पानी क्यों मिलाते हैं? भाँति-भाँति के वैज्ञानिक हिंसा-यंत्र क्यों बनाते हैं? वेश्याएँ क्यों बनती हैं, और झाके क्यों पड़ते हैं? इसका एकमात्र कारण सम्पत्ति है। जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन न होगा, जब तक सम्पत्ति-व्यक्तिवाद का अंत न होगा, संसार को शांति न मिलेगी।
3. 'साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह उस गधे की भाँति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल चढ़ाकर आती है। हिंदू अपनी संस्कृति को कयामत तक सुरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं, यह भूल गए हैं कि अब न कहीं मुसलिम

कलम का सिपाही

संस्कृति है न कहीं हिंदू संस्कृति, न कोई अन्य संस्कृति, अब संसार में केवल एक संस्कृति है, और वह है आर्थिक संस्कृति, मगर हम आज भी हिंदू और मुसलिम संस्कृति का रोना रोये चले जाते हैं, हालाँकि संस्कृति का धर्म से कोई संबंध नहीं।

4. '.... संघ लेखकों के स्वत्व की रक्षा करेगा, लेकिन कैसे? कुछ सज्जनों का विचार है कि लेखक संघ उसी तरह लेखकों के हितों और अधिकारों की रक्षा करे जैसे अन्य मजूर-संघ अपने सदस्यों की रक्षा करते हैं, क्योंकि लेखक भी मजूर ही हैं, यद्यपि वह हथौड़े और बसूले से काम न करके कलम से काम करते हैं। और लेखक मजूर है तो प्रकाशक पूँजीपति हुए। इस तरह यह संघ लेखकों को प्रकाशकों की लूट से बचाये, और यही उसका मुख्य काम हो। कुछ अन्य सज्जनों का मत है कि लेखक-संघ को पूँजी खड़ी करके एक विशाल सहकारी प्रकाशन-संस्था बनाना चाहिए, जिससे वह लेखक को उसकी मज़दूरी की ज़्यादा उजरत दे सके ...'

व्याख्या का उदाहरण

सम्पत्ति ने मनुष्य को क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल संपत्ति के संचय में बीत जाती है। मरते-दम भी हमें यही हसरत रहती है कि हाय इस सम्पत्ति का क्या हाल होगा। हम सम्पत्ति के लिए जीते हैं, उसी के लिए मरते हैं। हम विद्वान् बनते हैं सम्पत्ति के लिए, गेरुए वस्त्र धारण करते हैं सम्पत्ति के लिए। घी में आलू मिलाकर हम क्यों बेचते हैं? दूध में पानी क्यों मिलाते हैं? भाँति-भाँति के वैज्ञानिक हिंसा-यंत्र क्यों बनाते हैं? वेश्याएँ क्यों बनती हैं, और डाके क्यों पड़ते हैं? इसका एकमात्र कारण सम्पत्ति है। जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन न होगा, जब तक सम्पत्ति-व्यक्तिवाद का अंत न होगा, संसार को शांति न मिलेगी।

संदर्भ-संकेत

प्रगतिशील विचारकों में अमृतराय का अपना अलग महत्व है। अपने पिता प्रेमचंद के पदचिन्हों पर चलते हुए उन्होंने भी सामाजिक वैषम्य को अपने लेखन का मुख्य विषय बनाया है। वे जीवन पर्यन्त इस असमानता के खिलाफ जूझते रहे। 'कलम का सिपाही' प्रेमचंद की जीवनी है लेकिन जिसमें प्रेमचंद को उनकी समग्रता में देखा और समझा गया है।

उपर्युक्त गद्यांश में अमृतराय ने प्रेमचंद के संपत्ति संबंधी विचारों को उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत किया है। यह अंश प्रेमचंद के पत्रकारिता जीवन से संबंधित है। यह अंश प्रेमचंद के

हिंदी गद्य विविधा

पूँजीवादी समाज या उन्हीं के शब्दों में कहें तो 'महाजनी सभ्यता' की आलोचना पेश करता है।

व्याख्या-संकेत

प्रेमचंद का मानना है कि संपत्ति ने मनुष्य को अपना दास बना लिया है। उसकी मानवीयता को नष्ट कर दिया है। इस पूँजीवादी समाज में मनुष्य की पहचान उसके मानवीय गुणों से नहीं उसकी झोली में भरे रूपये से होती है। जिस समाज में इस प्रकार के दुर्गुण आते हैं, वहाँ हर चीज वस्तु हो जाती है। पूँजीवाद में श्रम का शोषण और बाजार का तंत्र प्रमुख हो जाता है। मनुष्य में आत्मिक शक्ति के विकास के रास्ते बंद हो जाते हैं। संपत्ति का संचय होने लगता है।

संपत्ति को पाने के लिए हाय-तोबा मची रहती है। वह जीने-मरने का आधार बन जाता है। समाज बाज़ार हो गया है वहाँ हर चीज़ खरीदने और बेचने के लिए होती है। धर्म, कला और संस्कृति भी क्रय-विक्रय की वस्तु हो जाती है। जिस चीज़ को खरीदा और बेचा नहीं जा सकता, उसका पूँजीवादी समाज में कोई मूल्य नहीं रहता।

पूँजीवाद अपनी जरूरत के अनुसार समाज का गठन करता है। अपनी रक्षा के लिए परमाणु बम बनाता है। युद्ध रचता है और विनाश को आमंत्रित करता है। अधिक से अधिक धन कमाने के लिए खाने-पीने तक की चीज़ों में मिलावट करने से भी नहीं चूकता। प्रेमचंद का तो यह भी मानना था कि यह संपत्ति का बल ही है जो स्त्री को वैश्या बनने के लिए विवश करता है। नारीत्व का आदर्श कुछ नहीं होता क्योंकि उसका कोई मूल्य नहीं है। उससे मुद्रा प्राप्त नहीं की जा सकती है। संपत्ति का यह आतंक व्यक्तिवाद को जन्म देता है। इस व्यवस्था में मनुष्य स्वार्थाध हो जाता है। व्यक्ति का अर्थ प्रचंड स्वार्थ में बघाँ मनुष्य है। संपत्ति जब तक व्यक्तिगत रहती है तब तक जीवन में संतोष नहीं आ सकता, शांति नहीं हो सकती। व्यक्तिवादी पूँजीवाद के विनाश के बिना समानता की कल्पना असंभव है। प्रेमचंद ने पूँजीवाद के इस व्यापक विनाशकारी प्रभाव का जो चित्र खींचा है, वह उनके समय से आज कहीं अधिक सच दिखाई देता है। इस अनुच्छेद की इस दृष्टि से आप व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं।

कलम का सिपाही

आँखों के आगे से रहे-सहे पर्दे भी गिरते जा रहे हैं। सम्पत्ति का आदर्श जो अब तक केवल एक भावना थी, अब उसे बुद्धि का पक्का आधार मिल रहा है। 'राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता' के शीर्षक से मुंशीजी ने लिखा :

'राष्ट्रीयता वर्तमान का कोढ़ है, उसी तरह जैसे मध्यकालीन युग का कोढ़ साम्प्रदायिकता थी।... लेकिन प्रश्न यह है कि उससे मुक्ति कैसे हो?

.... अर्थ के प्रश्न को हल कर देना ही राष्ट्रीयता के किले को ध्वंस कर सकता है।

वेदांत ने एकात्मवाद का प्रचार करके एक दूसरे ही मार्ग से इस लक्ष्य पर पहुंचने की चेष्टा की। उसने समझा, समाज के मनोभाव को बदल देने से ही यह प्रश्न आप ही आप हल हो जायगा, लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिली। उसने कारण का निश्चय किये बिना ही कार्य का निर्णय कर लिया, जिसका परिणाम असफलता के सिवा और क्या हो सकता था। ... उसकी असफलता का मुख्य कारण यही था कि उसने अर्थ को नगण्य समझा।

जब तक सम्पत्ति मानव समाज के संगठन का आधार है, संसार में अंतर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। राष्ट्रों-राष्ट्रों की, भाई-भाई की, स्त्री-पुरुष की लड़ाई का कारण यही सम्पत्ति है, जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गाँठ है। जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव समाज का उद्धार नहीं हो सकता। मज़दूरों के काम का समय घटाइए, बेकारों को गुज़ारा दीजिए, ज़मींदारों और पूंजीपतियों के अधिकारों को घटाइए, मज़दूरों और किसानों के स्वत्वों को बढ़ाइए, सिक्के का मूल्य घटाइए, इस तरह के चाहे जितने सुधार आप करें, लेकिन यह जीर्ण दीवार इस तरह के टीपटाप से नहीं खड़ी रह सकती। इसे नये सिरे से गिराकर उठाना होगा।....

संसार आदि काल से लक्ष्मी की पूजा करता चला आता है।... लेकिन संसार का जितना अकल्याण लक्ष्मी ने किया है, उतना शैतान ने नहीं किया। यह देवी नहीं डायन है।

सम्पत्ति ने मनुष्य को क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल संपत्ति के संचय में बीत जाती है। मरते-दम भी हमें यही हसरत रहती है कि हाय इस सम्पत्ति का क्या हाल होगा। हम सम्पत्ति के लिए जीते हैं, उसी के

हिंदी गद्य विविधा

लिए मरते हैं। हम विद्वान् बनते हैं सम्पत्ति के लिए गेरुए वस्त्र धारण करते हैं सम्पत्ति के लिए। घी में आलू मिलाकर हम क्यों बेचते हैं? दूध में पानी क्यों मिलाते हैं? भाँति-भाँति के वैज्ञानिक हिंसा-यंत्र क्यों बनाते हैं? वेश्याएँ क्यों बनती हैं, और डाके क्यों पड़ते हैं? इसका एकमात्र कारण सम्पत्ति है। जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन न होगा, जब तक सम्पत्ति-व्यक्तिवाद का अंत न होगा, संसार को शांति न मिलेगी।

(आज यह कैसा भूत मुंशीजी पर सवार है!)

कुछ लोग समाज के इस आदर्श को वर्गवाद या 'क्लास वार' कहकर उसका अपने मन में भीषण रूप खड़ा कर कर लिया करते हैं। जिनके पास धन है, जो लक्ष्मी-पुत्र हैं, जो बड़ी-बड़ी कंपनियों के मालिक हैं, वे इसे हौआ समझकर आँखें बंद करके गला फाड़कर चिल्ला पड़ते हैं। लेकिन शांत मन से देखा जाय तो असंपत्तिवाद के शरण में आकर उन्हें भी वह शांति और विश्राम प्राप्त होगा, जिसके लिए वे संतों और संन्यासियों की सेवा किया करते हैं, और फिर भी वह उनके हाथ नहीं आती। क्या वे अपने ही भाइयों से, अपनी ही स्त्री से सशंक नहीं रहते? क्या वे अपनी ही छाया से चौंक नहीं पड़ते? यह करोड़ों का ढेर उनके किस काम आता है? वे कुंभकर्ण का पेट लेकर भी उसे अंदर नहीं भर सकते। ऐन्द्रिक भोग की भी सीमा है। इसके सिवा कि उनके अहंकार को यह संतोष हो कि उनके पास एक करोड़ जमा है, और तो उन्हें कोई सुख नहीं है। क्या ऐसे समाज में रहना उनके लिए असह्य होगा, जहाँ उनका कोई शत्रु न होगा, जहाँ उन्हें किसी के सामने नाक रगड़ने की ज़रूरत न होगी, जहाँ उन्हें छल-कपट के व्यवहार से मुक्ति होगी, जहाँ उनके कुटुम्बवाले उनके मरने की राह न देखते होंगे, जहाँ वे विष के भय के बगैर भोजन कर सकेंगे? क्या यह अवस्था उनके लिए असह्य होगी? बेशक उनके पास बड़े-बड़े महल और नौकर-चाकर और हाथी-घोड़े न होंगे, लेकिन यह चिन्ता, संदेह और संघर्ष भी तो न होगा।'

सम्पत्तिहीन, श्रेणीहीन, समष्टिमूलक समाज के विरुद्ध कोई युक्ति, कोई तर्क सुनने के लिए मुंशीजी तैयार नहीं है, सब झूठे तर्क है, सम्पत्ति को बनाये रखने के :

'कुछ लोगों को संदेह होता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ के बिना मनुष्य में प्रेरक शक्ति कहाँ से आये। फिर विद्या, कला और विज्ञान की उन्नति कैसे होगी? क्या गोसाईं तुलसीदास ने रामायण इसलिए लिखा था कि उस पर उन्हें रायल्टी मिलेगी? आज भी हम हज़ारों आदमियों को देखते हैं जो उपदेशक हैं, लेखक हैं, कवि हैं, शिक्षक हैं, केवल इसलिए कि इससे उन्हें मानसिक संतोष मिलता है। अभी हम व्यक्ति की परिस्थिति से अपने को अलग नहीं कर सकते, इसलिए ऐसी शंकाएँ हमारे मन में उठती हैं। समष्टि कल्पना के उदय होते ही यह स्वार्थ चेतना स्वयं संस्कृत हो जायगी।'

कहीं कोई दुविधा नहीं, झिझक नहीं है। विचारों की बड़ी लंबी और टेढ़ी-मेढ़ी यात्रा करके मुंशीजी इस जगह पहुँचे हैं, जो कि एक ठहरने का मुकाम है।

अब तो एक दूरबीन आँख उन्हें मिल गयी है, एक समग्र विराट् दृष्टि, एक पक्की कसौटी जिसमें कोई धोखा नहीं है। 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति' के उलझे हुए, संघर्षपूर्ण प्रश्न पर विचार करते हुए उन्होंने 15 जनवरी 1934 के 'जागरण' में लिखा -

'साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह उस गधे की भाँति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल चढ़ाकर आती है। हिंदू अपनी संस्कृति को कयामत तक सुरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं, यह भूल गए हैं कि अब न कहीं मुसलिम संस्कृति है न कहीं हिंदू संस्कृति, न कोई अन्य संस्कृति, अब संसार में केवल एक संस्कृति है, और वह है आर्थिक संस्कृति, मगर हम आज भी हिंदू और मुसलिम संस्कृति का रोना रोये चले जाते हैं, हालाँकि संस्कृति का धर्म से कोई संबंध नहीं। आर्य संस्कृति है, ईरानी संस्कृति है, अरब संस्कृति है लेकिन ईसाई संस्कृति और मुसलिम या हिंदू संस्कृति नाम की कोई चीज़ नहीं है।'

यही सब तो बातें हैं बगावत से भरी हुई जो बाहर आने के लिए तड़प रही हैं और तड़पती रहती हैं वर्ना क्या पड़ी थी किसी को कि यह सब आफत मोल लेता - हाँ मोल लेता, अपनी किताबों की आमदनी फूँककर, अपनी ज़िंदगी का आराम-चैन गँवाकर। कभी मुंशीजी इश्तहारों के लिए जैनेन्द्र को लिखते हैं कि बिड़ला से मिलो, मेरी खातिर मिलो और उनको बात समझाओ, कभी दयानारायन निगम को लिखते हैं कि कानपुर में फ्लेक्स और लाल इमली के इश्तहार हासिल कीजिए, कभी बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखते हैं कि बंगाल केमिकल बहुत इश्तहार करता है, क्या हमको भी उसका इश्तहार नहीं मिल सकता? छटपटाते हैं, हर तरफ़ हाथ-पैर मारते हैं। सब इसलिए कि कुछ कहना है, जिसे कहना ज़रूरी है।

लेकिन है पूरी फाँसी। 18 अगस्त 1933 के खत में चतुर्वेदी जी को उन्होंने लिखा था -

'बड़े दुःख की बात है कि मेरा कोई पत्र अभी तक अपने पैरों पर नहीं खड़ा हुआ। हंस तो मुझे बहुत महँगा नहीं पड़ रहा है लेकिन जागरण असह्य हो रहा है। मेरी अक़ल चकरा रही है कि कैसे इस स्थिति से बाहर निकलूँ। मुझे हर महीने करीब 200 का घाटा हो रहा है। आखिर कब तक यह हालत चल सकती है? एक बार उसको शुरू करने की ग़लती करने के बाद अब अहंकार उसे बंद करने की राह में आड़े आता है। लोग मुँह ही मुँह में कैसे हँसेंगे, खिल्ली उड़ायेंगे!'

हिंदी गद्य विविधा

मगर वाह रे हिम्मत, अभी कुछ ही महीने पहले तो उन्होंने निगम साहब को लिखा था -

'हाँ, रोज़ाना जागरण लखनऊ से निकालने का इंतज़ाम हो रहा है। हफ्तेवार के नुक़सान ने रोज़ाना पर आमादा किया है।' ख़ैरियत हुई कि वह बात आयी-गयी हो गयी। ... लेकिन इन छः-सात महीनों में अक़ल शायद कुछ ठिकाने आ गयी है। पहली सितंबर को उन्होंने जैनेंद्र को लिखा :

आजकल इतनी मंदी है कि समझ में नहीं आता, काम कैसे चलेगा। मज़दूरों को वेतन चुकाने में कठिनाई पड़ रही है।

फिर इसी ख़त में आगे चलकर :

'... समाचारपत्रों की आमदनी का दारोमदार विज्ञापनों पर है। मैंने बिड़ला से मिलने को कहा था। अपनी गरज़ से मत मिलो, मेरी गरज़ से मिलो, पत्र दिखाओ, उसकी चर्चा करो। ... उनके पास कई मिलें हैं, एकाध पृष्ठ का विज्ञापन उनके लिए तो कुछ नहीं है लेकिन मेरे और तुम्हारे लिए वह पचास रुपये महीने का सहारा है। भाई, यह संसार चुपके से रामभरोसे बैठने वालों के लिए नहीं है। ... यहाँ झेंपू और मेरे जैसे शर्मीले आदमियों का गुज़ारा नहीं। तुम अपने में यह ऐब न आने दो। है भी नहीं। मैं तो कौड़ी दाम का नहीं हूँ।'

अगले महीने और भी हताश होकर लिखा :

... जो कुछ आमदनी होती है वह ऊपर-ऊपर उड़ जाती है। वेतन तक को पूरी नहीं पड़ती। कागज़ के कई सौ रुपये बाकी पड़े हैं। मैं अपनी ख़ामियों को समझ रहा हूँ, अपनी ग़लतियों को देख रहा हूँ। पर यह आशा है कि शायद कुछ हो जाय। हिम्मत बाँधे हुए हूँ। इधर एक महाशय फिर एक लिमिटेड प्रकाशक संघ खोलने का विचार कर रहे हैं। मैं भी शरीक हो गया। कुछ लोगों ने हिस्से लेने का वचन भी दिया। मगर वह ऐसे ग़ायब हुए कि कुछ पता ही नहीं कहाँ है। ... हंस में दम नहीं है, पर फिर भी शहीदों में शामिल होना चाहता है। मैंने सोच लिया है, जनवरी तक और देखूँगा। अगर उस वक्त तक जागरण कुछ ढंग पर न आया तो इसे बंद कर दूँगा। शायद मेरी कामनाएँ सब यों ही रह जायेंगी। मुश्किल तो यह है कि व्यवसाय में जितना मैं कच्चा हूँ, उतने ही तुम भी कच्चे हो। वर्ना क्या बात है कि ऋषभचरण तो सफल हों और हम लोग असफल रहें। उपन्यास लिखता था, वह भी बंद है लेकिन अब ज़्यादा प्रतीक्षा न करूँगा। जनवरी तक और देखता हूँ। तुम्हारी सलाह न मानी, वर्ना इतना घाटा क्यों उठाता। लेकिन कोई काम बंद करते बदनामी होती है और यही लाज ढो रहा हूँ। ... मैं तुमसे सच कहता हूँ, प्रेस और पत्रों पर मैं मरा जा रहा हूँ। कुछ लेखों से, कुछ रायल्टियों से, कुछ उर्दू पुस्तकों से अपनी गुज़र कर रहा हूँ। लेकिन बहुत देख चुका, अब यह तमाम बंद कर दूँगा।'

कलम का सिपाही

अगले महीने लिखा :

'जागरण का भार मेरे सिर से उतरा जा रहा है। यहाँ से बाबू सम्पूर्णानन्दजी उसे अर्द्ध-साप्ताहिक रूप में निकालने जा रहे हैं। आशा है दो-तीन दिन में सब बात तय हो जाएगी।'

काश! मगर वह अभी नहीं होना था।

अगले महीने 16 सितंबर 1933 को मुंशीजी ने लिखा - 'जागरण साबिक दस्तूर चल रहा है। बाबू सम्पूर्णानन्दजी को शायद उनके मित्रों ने मदद नहीं दी। अब मैं उसको बंद करने की फ्रिक में हूँ।'

12 जनवरी 1934 को बनारसीदासजी को लिखा :

'मेरी आर्थिक दशा ठीक नहीं है। इस साल 2000 का घाटा रहा। इसने मेरी कमर तोड़ दी। मैं प्रेस और प्रकाशन और पत्र सभी कुछ लीडर प्रेस के हवाले कर देने के लिए बातचीत कर रहा हूँ। देखूँ कैसा क्या होता है।'

हालत बराबर संगीन होती जा रही है।

आखिर 14 फरवरी 1934 को उन्होंने जैनेन्द्र को लिखा :

'काशी अंक निकला। चार सौ वी.पी. गए, 175 वसूल हुए, 225 वापस आये। बस, बधिया बैठ गयी। इस वापसी का नतीजा यह कि कागजवाले को 1300 में कुल 300 दे सका। एक हज़ार पूरे उसके सर पर सवार है। जागरण के कागजवाले का भी 1000 से कुछ ऊपर ही चढ़ा हुआ है। जो-जो बातें सोची थीं, सब गायब हो गयीं। ऐसी माली हालत में क्या कोई प्रोग्राम बाँधूँ क्या करूँ। 'तुम्हें मालूम होगा कुछ दिनों से लीडर प्रेस वालों से इस सारे संकट को मिटा देने का प्रस्ताव था। बीच में वह प्रस्ताव स्थगित कर दिया था। पर जब ऐसी परिस्थिति आ पड़ी है तो अब इसके सिवा कोई राह नहीं है कि किसी तरह इस झगड़े से गला छुड़ाकर भाग निकलूँ। लीडर को एक प्रस्ताव लिख भेजा है। वे यहाँ 18 को आने वाले हैं। आशा करता हूँ कि उस दिन यह मामला तय हो जायगा। पहले इरादा था कि हंस उन्हें दे दूँगा और प्रेस चलाता रहूँ लेकिन सारी विपत्ति की जड़ तो यह प्रेस है। न जाने किस बुरी साइत में उसकी बुनियाद पड़ी थी। दस हज़ार रुपये और ग्यारह साल की मेहनत और परेशानियाँ अकारण हो गयीं। इसी प्रेस के पीछे कितने मित्रों से बुरा बना, 'कितनों से वादाखिलाफी की, कितना बहुमूल्य समय जो लिखने-पढ़ने में कटता, बेकार प्रूफ़ देखने में कटता। मेरी ज़िंदगी की यह सबसे बड़ी ग़लती है।'

हिंदी गद्य विविधा

गम की इस तमाम दास्तान में एक खुशखबरी यही है कि सेवासदन का फिल्म हो रहा है। उस पर मुझे साढ़े सात सौ मिले 'साढ़े सात सौ! वल्लाह आपने तो लूट लिया बेचारे को!!' ... लेकिन तंगी में जब कोई रकम हाथ आ जाती है तो वे सारी ज़रूरतें जो मुँह दबाये पड़ी थीं, यकायक चीख मारने लगती हैं। किसी के पास कपड़े नहीं हैं, किसी के पास जूते नहीं हैं, किसी की लड़की की शादी के लिए कुछ देना चाहिए। गरज़ वह रुपये दो-चार दिन में हवा हो जाते हैं'

महालक्ष्मी सिनेटोन ने यह शानदार (!) रकम देकर 'सेवासदन' लिया था, और चित्र का निर्देशन किया नानूभाई वकील ने, जो घटिया तरह के एण्टरटेनर्स बनाने के लिए मशहूर थे। उन्होंने किताब के उर्दू नाम को ज़्यादा पसंद किया और उसी 'बाज़ारे हुस्न' के नाम से वही घटिया नाच-गानेवाली ठेठ बंबइया तस्वीर बनाकर रख दी। मुंशीजी ने उसको देखा तो अपने लड़के को तार की जबान में बस इतना लिख सके - Sevasadan released. Saw. Fair but not satisfactory. (सेवासदन रिलीज हो गया। देखा। अच्छा ही है पर संतोषजनक नहीं।)

लेकिन यही सेवासदन, लगभग इन्हीं दिनों, तमिल में बना तो बात ही और थी। के. सुब्रह्मण्यम ने उसका निर्देशन किया और बाद की विख्यात गायिका एम. शुभलक्ष्मी के जीवन में पहली बार रंगमंच पर उतरकर सुमन की भूमिका ग्रहण की। नटेश ऐयर ने गजाधर पाण्डे के रूप में बड़ा कमाल किया। सुब्रह्मण्यम अभी जीवित है और तमिल फिल्म-जगत के चोटी के लोगों में गिने जाते हैं। अगर सफलता की कसौटी पैसा है तो न वह आज सबसे सफल लोगों में हैं और न तब थे, लेकिन अगर सफलता की कसौटी कला के इस अत्यंत सामाजिक माध्यम को वस्तु और शिल्प के नये शिखरों पर ले जाना, अभिव्यक्ति के नये रास्ते खोलना हो तो सुब्रह्मण्यम तमिल फिल्म जगत का एक ऐसा नाम है जो कभी भूला नहीं जा सकता। कथाकार के सामाजिक संदेश और कहानी की आत्मा की पूरी तरह रक्षा करते हुए सुब्रह्मण्यम ने 'सेवासदन' बनाया जो कि रुचि-सम्पन्न लोगों के बीच बहुत पसंद किया गया।

लीडरवालों से बातचीत चल रही थी - इसी आधार पर कि हंस का और पुस्तकों का मूल्य जोड़ लिया जाय और उतने हिस्से मुंशीजी को लीडर कंपनी में मिल जायें। हंस के लिए मुंशीजी ने दो हजार माँगे थे 'हालाँकि इस पर मैं 4000 से ज़्यादा भेंट कर चुका हूँ। पुस्तकों का मामला साफ है। पुस्तकों की असली लागत निकाल ली जाए। जागरण को चलाना मंजूर हो तो उसे चलाया जाय। अच्छा सोशलिस्ट पत्र बना दिया जाय। रहा यह प्रेस, यहाँ रहे या कहीं और मुझे इसमें कोई एतराज नहीं। हाँ काम ऐसे हाथों में हो जो महज 'झीमर्स' न हों, जैसा मैं हूँ और तुम (जैनेन्द्र) हो, बल्कि कुछ व्यावसायिक बुद्धि भी रखते हों।'

लेकिन सौदा पटता नहीं दिखायी देता था और उधर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सम्पूर्णानन्दजी और नरेन्द्र देव जी से भी बातें चल रही थीं। हालत रोज़-ब-रोज़ दूभर होती जा रही थी, मगर पर्चा जब तक निकल रहा है उसकी वही आनबान है और मुंशीजी हर हफ्ते कभी इस पर रद्दे कभी उस पर कोड़े लगाते चले जा रहे हैं।

यह तो खैर मुंशीजी की तबीयत है। जीवट उसका एक खास जुज है, जिसे रोने-झींखने से कुछ वास्ता नहीं। लेकिन इसमें शक नहीं कि हिंदी पत्रों, क्या दैनिक, क्या साप्ताहिक, क्या मासिक, सभी का हाल खराब है। पढ़ने वालों में रुचि की दरिद्रता, पत्रों में सामग्री की। और कैसे न हो पत्रों में सामग्री की दरिद्रता, कितने साधनहीन हैं बेचारे। मुंशीजी से ज़्यादा कौन जानता है इस बात को, जिनके पास भरोसे का प्रूफ़रीडर भी नहीं है। ढेरों प्रूफ़ खुद ही पढ़ना पड़ता है। अजब दुष्ट चक्र है। लोग, जो पत्र खरीद सकते हैं और खरीदना चाहते हैं, हिंदी पत्र नहीं खरीदते क्योंकि उनका स्तर बहुत संतोषजनक नहीं है, और स्तर संतोषजनक हो नहीं सकता जब तक लोग उन्हें अपनायें नहीं। इसी झमेले में ग़रीबों की मिट्टी खराब हो रही है। उनकी ज़िंदगी भी कोई ज़िंदगी है - कुत्ताघसीटी!

तो भी कहीं पर तो इस दुष्ट चक्र को काटना ही होगा। पत्रों को सामग्री की दृष्टि से अधिक सम्पन्न बनाओ। उसके लिए सबसे पहले देशी-विदेशी भाषाओं से अच्छे अनुवाद कराने की व्यवस्था होनी चाहिए। उसके बिना, केवल मौलिक लेखों से, पेट नहीं भर सकता।

और योजनाशूर तो मुंशीजी पुराने हैं, मई 1933 में दिल्ली के 'अर्जुन' में उन्होंने एक अनुवादक-मंडल के संबंध में अपनी विस्तृत योजना पेश की।

यह हो वह हो, ऐसे हो वैसे हो - सरपट दौड़ चला मुंशीजी का दिमाग़। इलाहाबाद में रामचन्द्र टण्डन को उसमें बहुत दिलचस्पी हुई और चिट्ठियाँ दौड़ने लगीं। अभी तक तो केवल रेखाएँ थीं अब रंग भरा जाने लगा।

मुंशीजी को एक सहृदय समानधर्मा मिला तो रही-सही कसर भी पूरी हो गयी, गो मुंशीजी कहे जाते थे (टण्डन को पत्र 23.5.33) कि - 'मैं तो एक हरकारा मात्र हूँ और सदा ऐसे कामों में हाथ डालने की चेष्टा करता रहता हूँ जिनके लिए मैं नहीं बनाया गया। पत्रकार कला से मेरा स्वभावगत विरोध है पर परिस्थितियों से विवश होने के कारण मैं उसे स्वीकार करने को बाध्य हुआ हूँ। मेरी यह भावना कि मैं किसी क्षेत्र में कोई स्थायी चिह्न अंकित करने में असमर्थ हूँ, मुझे मूर्खतापूर्ण कामों के लिए उकसाती रहती है।'

हिंदी गद्य विविधा

तय पाया कि कार्यालय इलाहाबाद में होगा। रामचन्द्र टण्डन उसकी देखभाल करेंगे। समिति ने इन्द्र वाचस्पति, बनारसीदास चतुर्वेदी, डॉ. हेमचन्द्र जोशी, श्रीप्रकाश, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल होंगे। आमदनी का तखमीना, खर्च का बजट, लेखों की विषय-सूची, पत्र-पत्रिकाओं के नाम, क्लर्क, चपरासी, अनुवादक, उनके काम, उनके वेतन आदि सब कुछ तय हो गया। आफिस के पोस्टेज खर्च तक, छोटी से छोटी चीज़ भी एक-एक समझ ली गयी, टाँक ली गयी। अब बस काम शुरू करने की देर थी, लेकिन सवाल था कि म्याऊँ का ठौर कौन पकड़े? वक्त न मुंशीजी के पास था न टण्डन जी के पास और न शायद ज़माने को अब तक इस चीज़ की ज़रूरत का एहसास ही हुआ था, बसखयाली पुलाव पककर रह गया।

कुछ-कुछ ऐसी ही चीज़ लेखक-संघ की उनकी स्कीम भी थी जिसे मुंशीजी ने लगभग इन्हीं दिनों इलाहाबाद के अपने एक और दोस्त सत्यजीवन वर्मा के ज़रिये आगे बढ़ाने की, शक्ल देने की कोशिश की। लेकिन उसका भी कुछ वैसा ही हश्र हुआ, क्योंकि जहाँ कथा-कहानी के क्षेत्र में विचारों का बीज छिड़क देना काफ़ी होता है, वहाँ इस मैदान में बीज छिड़कने भर से कुछ नहीं होता। यहाँ तो जो राह दिखाये वह आगे आये वाली बात है - और उसके लिए पहले तो मुंशीजी के पास समय ही न था और समय मान लीजिए किसी जादू से हो भी जाता तो संगठन-क्षमता कहाँ से आती, उसमें तो मुंशीजी कोरे से भी कोरे थे।

मगर खैर, वह जो भी हो, इस लेखक संघ की एक अलग दास्तान है और उसमें सबसे दिलचस्प बात यह है कि रामचन्द्र टण्डन ने ही उसका सबसे डटकर विरोध किया।

निश्चय ही किसी अभागे क्षण में इस विचार की उद्भावना हुई थी, क्योंकि जब यह विचार सम्यक् रूप से एक प्रस्ताव के रूप में हिंदी संसार के सामने आया तो उसके रूप, विधान, कर्म-सूची आदि को लेकर ऐसा बवंडर उठा कि लेखक-संघ उसमें हवा हो गया। बीज रूप में वह लेखक और प्रकाशक का झगड़ा था। रामचन्द्र टण्डन ने, जो इस संघ को लेखकों के ट्रेड यूनियन के रूप में ही देखते थे, डटकर उसकी गोलमोल कल्पना का विरोध किया और अकेले ही लेखक-संघ के संयोजक और श्री रामनरेश त्रिपाठी और श्री किशोरीदास वाज़पेयी आदि से मोर्चा लेते हुए लेखक-संघ को करीब-करीब दफ़ना दिया। खुद मुंशीजी भी, बावजूद एक भुक्तभोगी लेखक होने के, लेखक-संघ को लेखकों के ट्रेड यूनियन के रूप में, जिसका अकेला काम प्रकाशकों से टक्कर लेना हो, न देख पाते थे।

दिसंबर सन् 34 के 'हंस' में लेखक-संघ पर टिप्पणी देते हुए मुंशीजी ने लिखा था :

.... संघ लेखकों के स्वत्व की रक्षा करेगा, लेकिन कैसे? कुछ सज्जनों का विचार है कि लेखक संघ उसी तरह लेखकों के हितों और अधिकारों की रक्षा करे जैसे अन्य मजूर-संघ अपने सदस्यों की रक्षा करते हैं, क्योंकि लेखक भी मजूर ही हैं, यद्यपि वह हथौड़े और बसूले से काम न करके कलम से काम करते हैं। और लेखक मजूर है तो प्रकाशक पूँजीपति हुए। इस तरह यह संघ लेखकों को प्रकाशकों की लूट से बचाये, और यही उसका मुख्य काम हो। कुछ अन्य सज्जनों का मत है कि लेखक-संघ को पूँजी खड़ी करके एक विशाल सहकारी प्रकाशन-संस्था बनाना चाहिए, जिससे वह लेखक को उसकी मज़दूरी की ज़्यादा उजरत दे सके ...'

प्रश्न पर अपनी राय देते हुए मुंशीजी ने लिखा - 'मौजूदा हालत ऐसी नहीं है कि प्रकाशकों को लेखकों के साथ ज़्यादा न्यायसंगत व्यवहार करने पर मज़बूर किया जा सके। ... इस समय एक भी ऐसा साहित्यग्रन्थ-प्रकाशक नहीं है जो नफ़े से काम कर रहा हो। जो प्रकाशक धर्मग्रन्थों या पाठ्य पुस्तकों का व्यापार करते हैं, उनकी दशा इतनी बुरी नहीं है, कुछ तो ख़ासा लाभ उठा रहे हैं, लेकिन जो लोग मुख्यकर साहित्य ग्रन्थ ही निकाल रहे हैं, वे प्रायः बड़ी मुश्किल से अपनी लागत निकाल पाते हैं। कारण है साधारण जनता की साहित्यिक अरुचि। जब प्रकाशक को यही विश्वास नहीं कि किसी पुस्तक के काग़ज और छपाई की लागत भी निकलेगी या नहीं, तो वह लेखकों को पुरस्कार या रायल्टी कहाँ से दे सकता है? साहित्यिक रचनाओं का प्रकाशन प्रायः बन्द-सा है पहले ऐसी परिस्थिति तो पैदा हो कि प्रकाशक को प्रकाशन से नफ़े की आशा हो'

हिंदी प्रकाशन-व्यवसाय की घोर अविकसित स्थिति को देखते हुए मुंशीजी की बात कुछ ऐसी भयानक न थी, काफ़ी पते की थी, व्यावहारिक, दूरदर्शी, लेकिन टण्डन जी को अपने सैद्धांतिक उत्साहवश उसमें कुछ दूसरी ही गंध मिली और उन्होंने 31 दिसंबर के अपने पत्र में काफ़ी क्षुब्ध होकर लिखा -

' अभी-अभी पत्र में इस विषय को लेकर पंडित रामनरेश त्रिपाठी के साथ मेरा विवाद समाप्त हुआ है और मैं फिर एक नये विवाद में, और सो भी आपके साथ, नहीं पड़ना चाहता। लेकिन मैं आपके विचारों से अपनी पूर्ण असहमति व्यक्त करने के लिए आपकी अनुज्ञा चाहता हूँ। दुर्भाग्यवश ऐसा लगता है कि वे लेखक, जो प्रकाशक भी बन गए हैं, अपने पुराने सहधर्मियों के प्रति सहानुभूति की क्षमता खो बैठे हैं। आपकी भावधारा ठेठ प्रकाशकों की भावधारा है। ... प्रकाशक व्यापार की मंदी का शोर क्यों मचाते हैं? खर्च की दूसरी मंदों का भुगतान तो वह बड़े मज़े में करते हैं और जैसे ही लेखक को पैसा देने की बात आयी, बस यही बात, देखो, व्यापार कैसा मंदा जा रहा है!

हिंदी गद्य विविधा

मैं पूछता हूँ क्या यह ईमानदारी की बात है? क्या आप नहीं मानते कि प्रकाशकों में बड़े-बड़े मगरमच्छ पड़े हुए हैं? ... मैं आपसे मदद पाने की आस लगाये हूँ, यह नहीं कि आप प्रकाशक के वकील बनकर सामने आये।'

इसी सूत न कपास कोरियों में लट्ठमलट्ठा के पीछे वह चीज़ ठण्डी हो गयी - हाँ, उसका मुखपत्र 'लेखक' कुछ दिनों तक जैसे-तैसे चलता रहा।

19. बच्चन और 'क्या भूलँ क्या याद करूँ'

जीवन परिचय

हरिवंश राय बच्चन का जन्म 27 नवंबर 1907 को इलाहाबाद में हुआ था। बच्चन जी के पिता का नाम प्रतापनारायण श्रीवास्तव और माता का नाम श्रीमती सुरसती देवी था। इनका परिवार पारंपरिक ढंग का हिंदू परिवार था जो कुछ खास मान्यताओं, रूढ़ियों परंपराओं में विश्वास करता था। हरिवंश राय जी संयुक्त परिवार के सदस्य थे। साझे परिवार के दुःख सुख और दायित्व बोध का मिश्रित अनुभव बच्चनजी में देखा जा सकता है।

कविवर बच्चन की प्रारंभिक शिक्षा इलाहाबाद के म्युनिसिपल स्कूल तथा कायस्थ पाठशाला में हुई। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में बी.ए. की परीक्षा पास की। बी.ए. के प्रथम वर्ष में ही उनका विवाह कर दिया गया था। उनकी पत्नी का नाम श्यामा था। 1930 में बच्चन ने अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. प्रथम वर्ष की परीक्षा पास की। उन दिनों गांधी जी का सत्याग्रह आंदोलन जोरों से चल रहा था। उन्होंने यूनिवर्सिटी छोड़ दी। नमक बनाने, चरखा कातने, गांवों में व्याख्यान देने और पिकेटिंग करने लगे। कुछ ही महीने बाद परिवार की आर्थिक हालत खराब हो गई। उन्होंने जीवीकोपार्जन करने का निश्चय किया। उनके पिता के प्रयत्न से 1932 में उन्हें दैनिक 'पायोनियर' में जिला कचहरियों के संवाददाता का कार्य मिल गया।

1934 में इलाहाबाद के अग्रवाल विद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुए। इस पद पर तीन वर्ष कार्य किया। उनकी पत्नी श्यामा इन दिनों यक्ष्मा से पीड़ित थी। 1936 में श्यामा का निधन हो गया। इससे कवि हृदय को बड़ा आघात लगा। लगभग सालभर वे कुछ नहीं लिख सके। इसके बाद 1937 में उनकी प्रख्यात रचना 'निशा निमंत्रण' प्रकाशित हुई।

1937 में वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एम.ए. द्वितीय वर्ष के विद्यार्थी के रूप में भरती हुए। सन् 1938 में एम.ए. कर लेने के बाद वे बनारस ट्रेनिंग कॉलेज में पढ़ाने लगे। इन दिनों वह लाहौर काफी आने-जाने लगे थे। इसी समय उनका परिचय तेजीजी से हुआ। तेजीजी उन दिनों लाहौर के एक कालेज में मनोविज्ञान की अध्यापिका थी। वे इलाहाबाद

हिंदी गद्य विविधा

विश्वविद्यालय में अंग्रेजी साहित्य के जूनियर लेक्चरर नियुक्त हो गए थे। उन्होंने 24 जनवरी 1942 को तेजी बच्चन से विवाह किया।

पहली पत्नी श्यामा की बीमारी और उनके देहावसान के बाद उनके जीवन में गहरी वेदना का जो दौर प्रारंभ हुआ था, वह तेजी बच्चन से विवाह के बाद समाप्त हो गया। इन दिनों 'जो बीत गई सो बात गई' जैसी कविताएँ लिखनी शुरू की, जिसमें नवजीवन और आत्मविश्वास का संदेश था। 1952 में बच्चन अंग्रेजी साहित्य में डाक्टरेट करने के लिए केंब्रिज विश्वविद्यालय चले गए। पी.एच.डी. सामाप्त कर 1954 में वे स्वदेश लौट आए। दिसम्बर 1955 में भारत सरकार ने उन्हें विदेश मंत्रालय के हिंदी विशेषज्ञ के रूप में नियुक्त किया, जहाँ वे दस वर्ष तक रहे। अप्रैल 1966 में राष्ट्रपति डा.राधाकृष्णन ने उन्हें राज्य सभा का सदस्य मनोनीत किया।

1966 में बच्चनजी ने शिक्षा मंत्रालय की ओर से सोवियत संघ, मंगोलिया, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया आदि देशों की यात्राएं की। 1972 में उन्हें राष्ट्रपति द्वारा दुबारा राज्यसभा में मनोनीत किया गया। बच्चन को अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। 1966 में सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया। 'दो चट्टानें' संग्रह पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार से 1969 में पुरस्कृत किया गया। अफ्रो एशियन राइटर्स कान्फ्रेंस द्वारा लोटस पुरस्कार से उन्हें सम्मानित किया गया। बच्चन आज भी हमारे बीच मौजूद हैं, लेकिन वृद्धावस्था के कारण वे साहित्य और सामाजिक जीवन से अलग हो गए हैं।

साहित्यिक योगदान

छायावाद के युग में बच्चन जैसे कवि का उदय अपना एक विशेष स्थान तथा महत्त्व रखता है। छायावाद के उत्कर्ष काल में बच्चन ने रूमानी परंतु लौकिक कविता का नया मुहावरा हिंदी कविता को दिया। बच्चन के गीतों में जो सहजता और तन्मयता है, वह हिंदी कविता के लिए नई बात थी। उन्होंने रागात्मक अनुभूति को जन सामान्य की मानसिकता के स्तर पर मूर्त किया है। उनकी कविता में भावनात्मक गहनता तथा व्यक्तिपरक ममत्व के तत्व दिखाई पड़ते हैं। इसी कारण वह जनसाधारण के निकट आकर मर्मस्पर्शी बन सकी है। डॉ. विजयदेवनारायण साही ने 'छठवाँ दशक में' लिखा है कि किसी समय देवकीनंदन खत्री ने 'चंद्रकांता संतति' लिखकर हजारों (या लाखों) लोगों को उर्दू छोड़कर हिंदी पढ़ने के लिए विवश कर दिया था। कविता में यदि उस क्रांति का कोई जोड़ है तो वह बच्चन की 'मधुशाला' है। अधिक से अधिक पाठकों को सामयिक कविता का चस्का लगाने का श्रेय जितना अकेले बच्चन को है, उतना किसी अन्य कवि को नहीं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।' बच्चन की कविता गंभीरता को तोड़ती हुई कविता है।

क्या भूलूँ क्या याद करूँ

बच्चन जीवन के राग-रंग के कवि हैं। वे ऐन्द्रिक सौंदर्यबोध को भावात्मक धरातल में व्यक्त करते हैं। इसके लिए उन्होंने फारसी और उर्दू कविता की परंपरा से प्रतीक चुने हैं और उन्हें गीतात्मक भावबोध के साथ प्रस्तुत किया है। उनकी गीतात्मकता में भाषा की सहजता और लयात्मकता देखते ही बनती है। यही कारण है कि उनका काव्य इतना लोकप्रिय हो सका।

बच्चन की प्रारंभिक कविता में उत्तर छायावाद का प्रतिनिधित्व मिलता है। बच्चन की कविता का प्रकाशन काल निम्नांकित हैं : 'तेरा हार' (1932), 'मधुशाला' (1935), 'मधुबाला' (1936), 'मधुकलश' (1937) 'निशानिमंत्रण' (1938), 'एकांत संगीत' (1939), 'आकुल अंतर' (1943), 'हलाहल' (1946), 'बंगाल का काल' (1946), 'खादी के फूल' (1948), 'सूत की माला' (1948), 'मिलन यामिनी' (1950), 'प्रणय पत्रिका' (1955), 'आरती और अंगारे' (1958), 'बुद्ध और नाचघर' (1958) 'त्रिभंगिमा' (1961)। बच्चन 'मधुशाला' से लेकर 'एकांत संगीत' तक अपने श्रेष्ठतम कवि रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके बाद काव्य प्रायः उनके निजी सुख-दुख का लेखा-जोखा होकर रह जाता है।

बच्चन के यहाँ कहानी तान बन जाती है, कविता को लिखा नहीं गाया जाता है। उन्होंने गाने के मोहक तर्ज का आविष्कार किया। उनके गीत में सुख-दुख, अकेलापन, गीतकार के साथ एकाकार हो गए हैं। उनकी आत्मनिष्ठ भावना प्रणय, विछोह तथा जीवन संघर्ष के आघात सहकर ही क्रमशः व्यापक और विकसित हो सकी है।

बच्चन का गद्य पर भी असाधारण अधिकार है। उन्होंने निबंध आत्मकथा आदि अनेक गद्य विधाओं पर समान अधिकार से लेखनी चलायी। निबंध संग्रह में 'नये पुराने झरोखे' (1962), 'टूटी-फूटी कड़ियाँ' (1973), 'कवियों में सौम्य संत : पंत काव्य समीक्षा' (1960) प्रमुख रचनाएँ हैं। आत्मकथा लेखन में तो उन्होंने नई मिसाल कायम की। आत्मकथा को उन्होंने पूरी ईमानदारी और विश्वास के साथ रचा है। उनकी आत्मकथा चार भागों में विभाजित हैं : 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', (1969), 'नीड़ का निर्माण फिर' (1970), 'बसेरे से दूर' (1977) तथा 'दश द्वार से सोपान तक', 'प्रवास की डायरी' (1971), 'डायरी विधा का उत्तम उदाहरण है। हिंदी में अनुवाद साहित्य को भी उन्होंने समृद्ध किया। उमर खैय्याम की रचनाओं का अनुवाद उन्होंने 1935 में किया। गीता जैसी लोकप्रिय अमर रचना का उन्होंने अवधी में अनुवाद किया जो 'जनगीता' (1958) और 'नागर गीता' नाम से प्रकाशित हुई। शेक्सपीयर के नाटकों का पद्यानुवाद किया। शेक्सपीयर के नाटकों में मेकबेथ (1957), ओथेलो (1959) 'किंग लियर' (1972) के अनुवाद प्रमुख हैं। नेहरू का राजनीतिक जीवन चरित्र (1961) तथा यीट्स की कविताओं का 'मरकत द्वीप का स्वर' (1965) नाम से अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई ग्रंथों का संपादन का कार्य भी किया। साहित्यकार के रूप में एक लंबा जीवन बच्चन ने जीया और

हिंदी गद्य विविधा

भोगा है। उन्हें ख्याति, सम्मान और जनता का प्यार मिला जो किसी भी रचनाकार के लिए सबसे बड़ी उपलब्धि होती है।

रचना के बारे में

'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' कवि बच्चन की आत्मकथा का प्रथम भाग है जो नवंबर 1969 में प्रकाशित हुई। बच्चन ने अपनी आत्मकथा चार भागों में लिखी है। प्रथम भाग 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', द्वितीय भाग 'नीड़ का निर्माण फिर' तृतीय भाग, 'बसेरे से दूर' तथा चतुर्थ भाग 'दशद्वार से सोपान तक'।

आत्मकथा लेखक का कार्य बड़ा जटिल होता है। अपने जीवन के बारे में वस्तुगत रूप में लिखना आसान काम नहीं है। बच्चनजी ने अपने दुखते और कसकते अनुभव के साथ अपनी संवेदना के पड़ावों को आत्मकथा में प्रतिपादित किया है। सामान्य जीवन को उन्होंने असामान्य ढंग से रचा है। आत्मकथा लिखने का उद्देश्य जीवन की अच्छाई और बुराई को छिपाना नहीं अपितु उसको खुलेपन और निर्भीकता से दिखाना है। अपने अनुभव को पाठक का विश्वसनीय अनुभव बना देना बच्चन की आत्मकथा की बड़ी विशेषता है।

बच्चनजी ने अपनी आत्मकथा में अपने जीवन की कहानी कहने के अलावा अपने समय और समाज का चित्रण भी किया है। उनकी कविता और उनकी आत्मकथा एक विशेष संदर्भों में एक-दूसरे की पूरक है। आत्मकथा के माध्यम से रचना में छिपे उन तत्वों की पड़ताल उपयोगी हो जाती है, जो व्यक्ति के पूरे विकास को रेखांकित करते हैं। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में बच्चन जी एक साधारण आदमी की आत्मीयता के साथ अपनी निजता को भी सुरक्षित रखने में समर्थ हो सके हैं। उन्होंने जीवन के रंगों को विविध ढंग से पेश किया है। आत्मकथा का महत्व यह होता है कि लेखक अपने जीवन को कितनी अर्थवत्ता दे पाया है। बच्चन अपनी इस रचना में अपनी संवेदना का विस्तार करना चाहते हैं। वे अंधविश्वासों और रूढ़ियों से जूझते दिखाई पड़ते हैं। वे आर्थिक परिस्थिति के साथ-साथ भावनात्मक रिश्तों से पैदा हुई समस्याओं से भी जूझते दिखाई देते हैं। 'क्या भूलूँ और क्या याद करूँ' अनुभूति प्रवणता और किस्सागोई दोनों दृष्टियों से बेजोड़ है।

बच्चन की आत्मकथा का प्रथम भाग 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' कवि की तीस वर्ष की आयु तक का आत्मकथात्मक इतिहास है। इस आत्मकथा में उनके विद्रोह का स्वर प्रबल है। उनका विद्रोह जाति व्यवस्था, सामाजिक बंधन और आर्थिक अभाव से है। आत्मकथा में बचपन की अनुभूतियों और स्थानीय संस्कृति का तन्मयता से वर्णन किया गया है। किशोर बच्चन की भावनात्मक पीड़ा और युवा बच्चन के आर्थिक संघर्ष का पूरा ब्यौरा इसमें है। इस पुस्तक के आरंभ में वे अपने पूर्वजों और कायस्थों के जाति रूप में

क्या भूलूँ क्या याद करूँ

विकसित होने की कहानी कहते हैं। परिवार के विश्वासों और रूढ़ियों को सामने रखते हैं। अपने जन्म और युवा होने तक के अपने आत्म चरित को मूर्तिमान करते हैं। जीवन कई प्रसंगों और घटनाओं के माध्यम से खुलकर सामने आता है।

'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' कृति में घटनाएँ चलचित्र की भांति रफ्तार के साथ दौड़ती जान पड़ती हैं। बच्चनजी की भाषा पर कहीं-कहीं क्षेत्रीय प्रभाव झलकता है। सामान्यतया भाषा सहज एवं सरल है। भाषा में उर्दू - फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। अनुभूति और तन्मयता के अनुरूप रचनात्मक भाषा का प्रयोग बच्चन के गद्य की विशेषता है। शैली में बच्चन किस्सागो की तरह गंभीर से गंभीर बातों को बड़े सहज ढंग से रख देते हैं। किस्सागो की रोचकता से शैली का सौन्दर्य दूना हो जाता है। कहीं-कहीं लेखक ने विवेचनात्मक शैली का भी सहारा लिया है। बच्चन ने ऐसी आत्मीयता पूर्ण निराली शैली को रचा है कि पाठक पढ़ते-पढ़ते कथा-रस में डूब-डूब जाता है। जीवन और सृजन का एक पूर्ण चित्र इसमें उपस्थित है।

शब्दावली

कारवाँ : पुराने जमाने में व्यापार के लिए चलने वाले लोगों का समूह।

दुर्घर्ष : भीषण

वल्द : पिता

बेभुनाई हुंडी : पुराने जमाने में विनिमय के लिए प्रचलित अधिकार पत्र जिसका इस्तेमाल न किया गया हो।

उद्विग्न : बेचैन

उद्भ्रांत : परेशान रहना

नजरूल इस्लाम : रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बाद की पीढ़ी के बंगाल के महान विद्रोही कवि।

दकियानूस : पारंपरिक रूढ़ि से ग्रस्त।

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. मेरी विगत स्मृतियों, मेरे पूर्व इतिहास, मेरे वर्तमान के श्रम-संघर्ष को जैसा उसने जाना था, जैसी मेरी स्थिति की निकट भविष्य में, कम से कम अपने जीवन-काल में, उसने कल्पना की थी, उससे उसने मेरा नाम Suffering रख दिया था। शायद कोई नहीं जानता था कि वह मुझे इस नाम से पुकारती है - जब हम अकेले होते वह मुझे उसी नाम से संबोधित करती और मैं उसे Joy कहता। मृत्यु शय्या पर जब उसकी चेतना लुप्त हो रही थी, वह मुझे सबके सामने भी उसी नाम से पुकारती गई और शायद ही कोई समझा हो कि वह किसे पुकार रही है और क्या कहना चाहती है।

हिंदी गद्य विविधा

2. श्यामा चाहती कि मैं सदैव कविता में डूबा रहूँ। कविता में मेरा भविष्य शायद ही उसने देखा होगा, पर इतना तो उसने अनुभव ही किया होगा कि काव्य सृजन में ही मेरा मन कुछ शांति, कुछ मुक्ति पाता है, जो अन्यथा उद्विग्न, उद्भ्रांत अथवा अशांत रहता है। शायद अब भी मनःशक्तियों का पूर्ण केंद्रीकरण, तन्मयता, तल्लीनता, परिपूर्ण आत्म-विस्मरण में काव्य-सृजन के ही क्षणों में जानता हूँ - जिसे अब मैं 'समाधि' कहने लगा हूँ। जब मैं अपनी अनुभूतियों में जीता हूँ - कला के माध्यम से अनुभूतियों को जीना शायद जीने से अधिक घनत्व से, तीव्रता से, गहराई से जीना है - तब मैं सारे संसार के लिए मर जाता हूँ, और मैं चाहता हूँ कि कोई कुछ भी ऐसा न करे जिससे मैं संसार में जीने के प्रति सचेत हो जाऊँ, जब तक कि मेरी ही 'समाधि' न टूटे।
3. जीवन की ऐसी आकस्मिक घटनाएँ ही वास्तव में जीवन को दिशा देती है, और जिसे हम 'नियति' का गंभीर-सा नाम देते हैं वह शायद बहुत नगण्य-सी लगने वाली घटनाओं से अपने बड़े-बड़े लक्ष्य प्राप्त करती रहती है। क्या मेरे अंदर का कहानीकार मर गया? मरता जीवन में कुछ भी नहीं, केवल रूप बदलता है। कहानीकार मेरे कवि में आत्मसात् हो गया। ऐसा मेरे बहुत-से पाठक मुझसे कहते हैं कि मेरी बहुत-सी कविताओं के पीछे किसी कहानी की कल्पना कर लेना कठिन नहीं है। कुछ लोगों ने मेरी कतिपय कविताओं को लेकर वास्तव में कहानियाँ गढ़ी हैं, वे छपी भी हैं। बहरहाल, उस दिन के बाद मैंने केवल एक कहानी लिखी, अगर कहानी उसे कह सकते हों तो जो 'निशा निमंत्रण' के आरंभ में है।

व्याख्या का उदाहरण

श्यामा चाहती थी कि मैं सदैव कविता में डूबा रहूँ। कविता में मेरा भविष्य शायद ही उसने देखा होगा, पर इतना तो उसने अनुभव ही किया होगा कि काव्य सृजन में ही मेरा मन कुछ शांति, कुछ मुक्ति पाता है, जो अन्यथा उद्विग्न, उद्भ्रांत अथवा अशांत रहता है। शायद अब भी मनःशक्तियों का पूर्ण केंद्रीकरण, तन्मयता, तल्लीनता, परिपूर्ण आत्म-विस्मरण में काव्य-सृजन के ही क्षणों में जानता हूँ - जिसे अब मैं 'समाधि' कहने लगा हूँ। जब मैं अपनी अनुभूतियों में जीता हूँ - कला के माध्यम से अनुभूतियों को जीना शायद जीने से अधिक घनत्व से, तीव्रता से, गहराई से जीना है - तब मैं सारे संसार के लिए मर जाता हूँ, और मैं चाहता हूँ कि कोई कुछ भी ऐसा न करे जिससे मैं संसार में जीने के प्रति सचेत हो जाऊँ, जब तक कि मेरी ही 'समाधि' न टूटे।

संदर्भ-संकेत

उत्तर छायावाद के प्रतिनिधि कवि हरिवंश राय बच्चन को हिंदी साहित्य में हालावाद के प्रवर्तक के रूप में जाना जाता है। बच्चन की कविताओं में उनके जीवन के अनुभवों को देखा जा सकता है। जीवन का ब्यौरेवार विवरण उन्होंने अपनी आत्मकथा में प्रस्तुत किया है। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' बच्चन द्वारा रचित उनकी आत्मकथा का प्रथम भाग है। इस आत्मकथा में बच्चन ने अपने जीवन के आरंभिक तीस वर्षों का लेखा - जोखा प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त गद्यांश 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' से लिया गया है। कविवर बच्चन ने इस गद्यांश में कवि और कविता के संबंधों की अनिवार्य प्रक्रिया की ओर ध्यान आकर्षित किया है। कविता के प्रति बच्चन का दृष्टिकोण रोमांटिक रहा है। कविता की प्रेरणा को हमेशा वे प्रमुख मानते रहे हैं।

व्याख्या-संकेत

कवि की पहली पत्नी श्यामा हमेशा बच्चन के कवि रूप को उकसाने का प्रयत्न करती थी। कविता रचने की प्रेरणा के पीछे बच्चन की पहली पत्नी अदृश्य रूप में मौजूद रही हैं। कविता कवि की काव्य साधना का हेतु न होकर जीवन साधना का हेतु हो जाता है। काव्य और जीवन के बीच लय का संधान होता है। जीवन और काव्य में लय होती है। यदि लय खो जाती है तो न कविता में पूर्णता को प्राप्त किया जा सकता है और न जीवन में। यदि कवि की पत्नी चाहती है कि कवि अपनी कविता में डूबा रहे, तो उसका मतलब जीवन से अर्थ और लय प्राप्त करने से है। जीवन के संघर्ष के बीच मधुर गीत लिखना आसान कार्य नहीं है। जीवन में कोई लक्ष्य न हो तो मनुष्य में अशांति और उद्विग्नता पैदा होती है। ऐसे समय को रचनात्मक कर्म के द्वारा ही शांति से पार किया जा सकता है। बच्चन की अशांत मनःस्थिति कविकर्म में ही शांति का अनुभव करती थी। कवि जिस समय की यहाँ चर्चा कर रहा है वह उसके जीवन का लक्ष्यहीन क्षण था। एक ओर रोज़गार की तलाश और दूसरी ओर श्यामा की बीमारी।

रचनात्मक कर्म के लिए खासकर कविकर्म में पूर्ण समर्पण की आवश्यकता होती है। समर्पण में जब तक आत्मविस्मरण की स्थिति नहीं आती, उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता। राजशेखर ने इसे समाधि की दशा कहा है। समाधि में चेतना की पूर्ण तन्मयता और एकाग्रता होती है। बाह्य संसार से वह अनजान हो जाता है। अनुभूतियों की तीव्रता और घनत्व से जब कवि कुछ रचता है तो उसमें तन्मयता और सौन्दर्य का समावेश होता है। ध्यान और भाव जब तक संकेद्रित नहीं होते, तब तक श्रेष्ठ काव्य की रचना नहीं होती। चेतना का यह द्वार कवि के लिए प्रयोगशाला का कार्य करता है। जहाँ निरंतर आत्मलीनता में कविता का जन्म होता है। बच्चन इस समाधि को सयास तोड़ने का प्रयत्न

हिंदी गद्य विविधा

करते हैं। बच्चन के इस संदर्भ में अनायास अज्ञेय की लंबी कविता 'असाध्यवीणा' का प्रियंवद स्मरण हो आता है। जो कहता है :

श्रेय नहीं कुछ मेरा
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था

किसी भी रचनात्मक कर्म में अनुभूति और कला के प्रति यह तन्मयता जरूरी हो जाती है। काव्य की सृजन प्रक्रिया और जीवन के दैनिक कार्य कलाप का यहाँ वर्णन एक साथ मिलता है। आत्मकथाकार में जीवन के प्रति जितनी आस्था है, समर्पण की अनुभूति है, उतनी ही काव्य और कला के प्रति भी आस्था और समर्पण है। उपर्युक्त अंश की व्याख्या करते हुए इन बातों को ज़रूर ध्यान में रखें।

सहायक पुस्तकें

डॉ. कमलेश सिंह : हिंदी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

डॉ. धर्मवीर भारती : कुछ चेहरे : कुछ चिंतन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

बच्चन रचनावली - भाग-7 और भाग-8 - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूलपाठ : आत्मकथा

क्या भूलूँ क्या याद करूँ

मेरी विगत स्मृतियों, मेरे पूर्व इतिहास, मेरे वर्तमान के श्रम-संघर्ष को जैसा उसने जाना था, जैसी मेरी स्थिति की निकट भविष्य में, कम से कम अपने जीवन-काल में, उसने कल्पना की थी, उससे उसने मेरा नाम Suffering रख दिया था। शायद कोई नहीं जानता था कि वह मुझे इस नाम से पुकारती है - जब हम अकेले होते वह मुझे उसी नाम से संबोधित करती और मैं उसे Joy कहता। मृत्यु शय्या पर जब उसकी चेतना लुप्त हो रही थी, वह मुझे सबके सामने भी उसी नाम से पुकारती गई और शायद ही कोई समझा हो कि वह किसे पुकार रही है और क्या कहना चाहती है।

मुझे Suffering नाम देने में शायद श्यामा ने मेरे स्वभाव, मेरी प्रकृति, मेरे जीवन, मेरे व्यक्तित्व में बीज की तरह छिपे मेरे कवि को भी पहचाना था। शायद उसने समझ लिया था कि कवि तो साकार वेदना (Suffering) ही है। मैं जिस वेदना से गुज़रा हूँ या गुज़र रहा हूँ उससे कविता के बीज के लिए भूमि ही तो अपने अंदर तैयार कर रहा हूँ। वेदना के बिना मनुष्य का अहं नहीं टूटता, और अहं के टूटे बिना एक मनुष्य के हृदय से दूसरे मनुष्य के हृदय तक पहुँच नहीं होती, सेतु नहीं बनता। विचारों का सेतु एक दिमाग से दूसरे दिमाग तक बिना अहं के टूटे भी बन सकता है, पर भावनाओं का, कभी नहीं, और कविता भावनाओं के सेतु पर चढ़कर ही एक हृदय से दूसरे हृदय तक जाती है। हृदय-हृदय के बीच भावनाओं के सेतु का निर्माण किए बगैर जो शब्दों का कारवाँ रवाँ कर देते हैं उसका परिणाम इसके सिवा कुछ नहीं हो सकता कि उनका कारवाँ कागजों के मरुस्थल में खो जाए या निरर्थक ध्वनि बनकर शून्य में विलीन हो जाए। यह भावनाओं का सेतु बनाने से अधिक बन जाने पर निर्भर है। इसी से कहा जाता है कवि जन्म लेते हैं, बनाए नहीं जाते। जीवन की न जाने कैसी-कैसी स्थितियाँ-परिस्थितियाँ अपने आप आकर न जाने किसे तोड़, औरों से जोड़ जाती है। मैं तो कहता हूँ कि इतना होने से ही आदमी कवि बन जाता है। जीवन में बहुत-से कवि हैं जो शब्दों में कविता नहीं करते। शब्द कविता का, वास्तव में, बहुत-से माध्यमों में से केवल एक माध्यम है। मैंने कहीं पढ़ा था- अंग्रेज़ी में - हिंदी अनुवाद दे रहा हूँ, 'कविता लिखने का उतना विषय नहीं, जितना जीने का, और कविता जीना जीने का सबसे दुःसाध्य रूप है।' यह बिलकुल यही है जो कबीर कहते हैं,

सीस काटि भुइँ पै धरै, तापन धारै पाँव,
दास कबीरा यों कहै ऐसा होउ तौ आव!

हिंदी गद्य विविधा

इसका अर्थ सतही नहीं। इस पर गौर करना होगा। शीश काटना तो शायद संभव भी हो जाए, पर उसको उठाकर भूमि पर धरना और फिर उस पर पाँव रखना तो तभी संभव हो सकता है जब मरने के बाद भी कोई जीता रहे - जीने की चेतना अपने हाथों में बचाए रहे। अहं के कटने के बाद जो चेतना शीश को उठाती है, उस पर पाँव धरती है, उसी का नाम कवि है। और आप मेरी बात मानें तो कवि को हर कविता लिखते समय यह दुर्घर्ष चमत्कार करना होता है। या यों कहें कि जब भी सच्चे अर्थों में कविता बनती है कवि इसी प्रक्रिया से गुज़रा होता है। एक आइरिश कहावत है *It is death to be a poet.* इसे मैं अर्द्ध सत्य कहूँगा, पूर्ण सत्य यह है *It is living after death to be a poet.* कवि मरना नहीं है - कवि मरकर सचेत रहना है।

स्वस्थ पति-पत्नी के बीच शारीरिक संबंध स्वाभाविक, आवश्यक और अनिवार्य है। पर श्यामा के शरीर की जैसी स्थिति थी उसमें शरीर को दीवार मानकर प्राण-प्राणों के मिलन पर ही प्रायः संतोष करना था। 'कवि की वासना' में जो मैंने लिखा था,

'वासना जब तीव्रतम थी
बन गया था संयमी में,
है रही मेरी क्षुधा ही
सर्वदा आहार मेरा।'

या 'हलाहल' में कि

'वासना है मेरी विकराल,
अधिक, पर, अपने पर विश्वास।'

वह मेरी उन दिनों की तीव्र, तीक्ष्ण और तनावपूर्ण अनुभूति ही थी जो शब्दों में मुखरित हुई थी। हर संयम का कहीं न कहीं विस्फोट होता है और उसके लिए न मैं लज्जित हूँ, न अपने को दोषी ठहराता हूँ। यह मैं बड़ी सच्चाई के साथ कहता हूँ कि उसका अधिकतम विस्फोट निश्चय ही मेरे काव्य के रूप में हुआ।

बी.ए. में मेरे प्रथम श्रेणी के बाद मेरे कुछ संबंधियों ने मुझे सलाह दी कि मैं आई.सी.एस. में बैठने की तैयारी करूँ। बैठता तो शायद आ ही जाता और आज सरकारी नौकरी कर विद्याशंकर की तरह रिटायर हो जाता। हो जाता तो इसमें बुरा ही क्या होता। कुछ कविताएँ लिखकर रिटायर हो रहा हूँ तो कौन बड़ी लाट खड़ी कर दी है। घर में राष्ट्रीयता का ऐसा वातावरण था और आने वाले नमक सत्याग्रह आंदोलन की आहें इतनी तेज़ होती जा रही थीं कि मेरे पिता जी ने इसके लिए राय न दी। शायद यही एक बात मैंने उनकी मानी। वे चाहते थे कि मैं एम.ए. करके किसी कालेज या युनिवर्सिटी में अध्यापक बन जाऊँ। मैंने अंग्रेज़ी में एम.ए. ले लिया। पर बी.ए. करते समय मैंने जिस तन्मयता से अध्ययन किया था वह मेरे लिए अब दुर्लभ हो गई। सबसे बड़ी चिंता श्यामा

क्या भूलूँ क्या याद करूँ

की बीमारी थी। मैं अब अपने पढ़ने के लिए कमाऊँ कि श्यामा के इलाज के लिए, गो मैं जो कुछ कमा सकता था वह इलाज के लिए बिलकुल नाकाफी होता। इस बीच एक और अपमान-जनक घटना घटी।

मकान बनवाने के सिलसिले में ईंटवाले का करीब दो हजार का कर्ज़ हो गया था। उसने नालिश कर दी। ईंट वाले की डिग्री हो गई कि मकान नीलाम करा के रुपया वसूल कर लिया जाए और एक दिन कुर्कअमीन नगड़िया वाले को लेकर घर पर आ गए। उसने डिम-डिम-डिम-डिम करके यह पुकार लगाई :

'खलक खुदा का, मुलुक बादशाह का
हुकुम बड़े साहब का
बाबू प्रताप नारायण वल्द भोलानाथ का मकान नीलाम होता है
जिसको बोली बोलना हो आगे आए S....

सरे बाज़ार हमारी गरीबी को नंगा करने वाले उन शब्दों से हमने बड़े ही अपमान का अनुभव किया। घर में हर एक की यही इच्छा होती थी कि धरती फट जाए और एक-एक उसमें समा जाए! यह तो अच्छा हुआ कि नया मुहल्ला था, पुराना मुहल्ला होता तो हम इस पर घर के अंदर जाकर आत्महत्या कर लेते। दस हजार की लागत का मकान पिता जी को दो हजार में रहेन रख देना पड़ा। अब ये दो हजार रुपये कहाँ से आएँ।

मेरे छोटे भाई शालिग्राम ने बी.ए. का इम्तहान दिया था, रेज़ल्ट आने से पहले ही उन्हें इलाहाबाद बैंक में नौकरी मिल गई, और घर की स्थिति देखते हुए उन्होंने आगे पढ़ने की बात न सोची। कायस्थों के यहाँ लड़का बे-भुनाई हुंडी कहा जाता है। बाँदा के वकील बाबू गया प्रसाद की ओर से शालिग्राम के रिश्ते का प्रस्ताव आया। लड़की सुंदर, पढ़ी-लिखी, सुशील थी, साथ ही अच्छा दहेज मिलने की आशा थी। पिता जी ने शादी मंजूर कर ली। शालिग्राम के तिलक में जो रुपए नकद मिले उसमें से दो हजार देकर मकान छुड़ा लिया गया, पर उनकी शादी पर कुछ रुपया खर्च होना था, खासकर चढ़ाव के लिए गहनों पर। श्यामा ने फिर अपनी उदारता, त्याग और बड़प्पन का परिचय दिया। उसने अपने सब ज़ेवर शालिग्राम की वधू के लिए दे दिए। परिवार की लाज बचने का दूसरा तरीका न था।

मेरी एम.ए. प्रीवियस की परीक्षा से पहले ही गांधी जी की डाँडी यात्रा आरंभ हो गई थी और उनके प्रति पग से देश में राष्ट्रीय जागरण और जोश जोर मारने लगा। बे मन से मैंने परीक्षा दे दी, पास भी हो गया, पर जुलाई में जब युनिवर्सिटी खुली तो मैंने पढ़ाई छोड़ दी। कुछ पारिवारिक चिंताओं और कुछ राजनैतिक हलचलों के कारण मेरा मन

हिंदी गद्य विविधा

पढ़ने की तरफ़ से उचट गया था। मैं आंदोलन में सक्रिय भाग लेने की स्थिति में न था, जुलूसों में नारे लगाता, सभाओं में शामिल होता। घर में चर्खा चलाता, जमुना पार गाँवों में जाकर व्याख्यान देता। कुछ रचनात्मक कार्य करने को भी मैंने सोचा - हम खहर का प्रचार करेंगे! महेश, प्रकाश और मैंने एक टीम बनाई। खादी भंडार से हम लोग एक गट्ठर खादी का लेते, महेश हममें सबसे मोटे-मजबूत थे, वे गट्ठर उठाते, मैं गज़ से नापता, प्रकाश हिसाब रखते, और इस तरह हम दिन भर गली-गली घूमते। हमें एक दिन बड़ी प्रसन्नता हुई जब पंडित जवाहरलाल नेहरू का ध्यान हमारी 'खहर प्रचारक टीम' की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने भरी सभा में हमारी प्रशंसा की। उन्हीं दिनों मैंने जुलूसों में गाने के लिए कई राष्ट्रीय गीत लिखे जिनमें 'सर जाए तो जाए पर हिंद आज़ादी पाए' वाला गाना बहुत प्रसिद्ध हुआ और एक बार इसे महात्मा गांधी की उपस्थिति में श्याम कुमारी नेहरू ने हज़ारों लोगों को गवाया। तब शायद किसी ने जाना भी नहीं था कि यह गीत किसका लिखा था और न मुझे ही इच्छा थी कि कोई जाने। गीत से जोश फैल रहा था और देश के लिए मर मिटने की आन पर शान चढ़ रही थी - व्यक्ति को श्रेय देने का क्या मतलब? पर जैसे-जैसे नेता लोग गिरफ्तार होते गए आंदोलन ठंडा पड़ने लगा, फिर समझौते शुरू हुए, और असफल होने पर दमन शुरू हुआ। समझौतों के साथ ही जनता का संपर्क आंदोलन से कम होने लगा, छूट गया। समूह बिखरता है तो व्यक्ति अपने को अकेला पाता है - अब न सभा है, न जुलूस है, अपनी-अपनी फ़िक्र करो। मैंने भी कुछ ऐसा ही अकेलापन अनुभव किया। क्या करूँ? 'किंकर्तव्यविमूढ़ मुझे कर दूर खड़ी है मधुशाला।'

काम की तलाश में एक दिन 'चाँद' कार्यालय जा पहुँचा। संपादन विभाग में काम मिला, पर एक महीने बाद वहाँ से अपमानित करके निकाल दिया गया। उस अप्रिय अनुभव की बात कहीं लिख चुका हूँ। उसी साल मुट्ठीगंज के मास्टर भगवान सहाय ने माडर्न स्कूल से इस्तीफ़ा देकर एक राष्ट्रीय स्कूल इलाहाबाद हाई स्कूल के नाम से खोल दिया था। उसमें मुझे अध्यापक की जगह मिल गई। कागज़ पर पैंसठ रुपए लिखे जाते थे, तनख्वाह पचीस रुपए दी जाती थी। राष्ट्रीय स्कूल के लिए त्याग की हमसे प्रत्याशा की जाती थी, जिससे स्कूल के लिए और ज़रूरी सामान वगैरह खरीदा जा सके। ऐसा त्याग प्रायः सभी अध्यापक करते थे, और खुशी से, कि हम राष्ट्र के उत्थान में योग दे रहे हैं। मान्यता स्कूल को मिली नहीं थी, इसलिए लड़कों को पंजाब से प्राइवेटली इम्तहान देने को भेजा गया। फ़ार्म के भरने में कुछ गड़बड़ी हुई और स्कूल का कोई लड़का इम्तहान में न बैठने दिया गया। दूसरे वर्ष नवें-दसवें क्लास टूट गए। एक बंगाली सहयोगी के साथ मैं इन्हीं दर्जों को पढ़ाता था, हम दोनों को छुट्टी दे दी गई। इस वर्ष भर के अनुभव का शायद सबसे बड़ा लाभ यह था कि बंगाली महाशय ने मुझे पूरी 'अग्निवीणा' पढ़कर सुनाई और समझाई। वे नज़रुल के बड़े प्रेमी थे।

क्या भूलूँ क्या याद करूँ

बड़ी कोशिश के बाद मुझे प्रयाग महिला विद्यापीठ में 30 रु. प्रतिमास पर नौकरी मिल गई, जिसकी स्थापना हाल ही हुई थी। महादेवी जी बाद को वहाँ प्रिंसिपल बनकर आईं।

इसी समय अपने चाचा लोगों से मेरा पारिवारिक संबंध टूट गया। शालिग्राम का गौना हुआ। बहुभोज की दावत थी, केवल परिवार के सदस्यों और निकट संबंधियों की। इसके पूर्व मैंने एक ऐसा काम कर दिया था जो मेरे रिश्तेदारों के रुढ़िगत संस्कारों पर आघात करनेवाला था। मोहतशिम गंज में एक कायस्थ परिवार था। पति की मृत्यु हो गई - विधवा कई बच्चों को लेकर कहाँ जाए। बाहर से आए एक सिख सरदार ने उसे बैठा लिया। थोड़े दिनों बाद सरदार की भी मृत्यु हो गई। परिवार समाज बहिष्कृत हो गया, यानी उससे रोटी-बेटी का व्यवहार बंद। उस परिवार में किसी सयानी लड़की का विवाह एक अच्छे कायस्थ परिवार में लगा। उन लोगों ने शर्त रखी कि अगर दो-चार अच्छे कायस्थ घरों के लोग उनके यहाँ रोटी खा लें तो वे शादी मंजूर कर लेंगे। इस बहिष्कृत परिवार के लोग जितने भले थे उतने मैंने जीवन में कम देखे थे - सब की सेवा करने को तैयार और सबके सामने विनम्र। मोहल्ले-टोले में किसी के यहाँ शादी-काम-काज होता तो वे हर तरह का काम करते, पर खाने के समय गायब हो जाते - वे जानते थे कि लोग उन्हें अपने साथ बिठलाकर न खिलाएँगे। अपने उदार विचारों के कारण मुझे इस परिवार से बड़ी सहानुभूति थी। जग्गू चाचा के भाई रामू चाचा, उनके लड़के मुंशी कन्हैयालाल और दो-चार लोग, जिनमें मैं भी था, उस परिवार में रोटी खाने को तैयार हुए। उन लोगों ने बड़ी आवभगत से हमें खाना खिलाया। उनकी आँखों में आँसू थे, जैसे हमने उनके साथ जो उपकार किया था उसे वे व्यक्त न कर सकते हों। हम खुश थे कि चलो हमने एक परिवार का उद्धार किया। बिरादरी के दक्रियानूस इसपर जले-भुने बैठे थे। इनमें हमारे मोहन चाचा भी थे। हमारे यहाँ बहुभोज का भोजन तैयार - पन्द्रह-बीस निकटतम संबंधियों के लिए। आठ बजे रात का समय दिया गया था। आठ बज गए, नौ बज गए, दस बज गए, ग्यारह बजने के निकट पहुँचे, कोई न आया। हम चकित-चिंतित थे। तब किसी कहारिन ने बताया कि बाबू मोहनलाल हमारे यहाँ खाना खाने इसलिए न आए थे कि मैंने बहिष्कृत परिवार में भोजन कर लिया था। मेरे हरिजनों के साथ खाने-पीने की बात वे जानते ही थे, और उन्होंने हमारे सब निकट संबंधियों को आगाह कर दिया था कि जो हमारे यहाँ भोजन करेगा वह जाति-च्युत कर दिया जाएगा। इसी डर से कोई हमारे यहाँ नहीं आया था। मुझे बड़ा क्रोध आया। निमंत्रण न स्वीकार करना मैं समझ सकता था। न आना था तो सूचित करने की भलमंसी तो दिखानी थी, पर वे तो हमें अपमानित करना चाहते थे। पिता जी बहुत ही दुखी हुए - बिरादरी से कट जाने के भय से वे काँप उठे, अभी उनकी एक लड़की ब्याहने को थी। मैंने पिता जी को समझाया कि

हिंदी गद्य विविधा

हमें बिरादरी ने छोड़ दिया है तो अब हम मानव-परिवार के सदस्य हैं। मुझे हिंदू समाज का सारा ढाँचा इतना रुग्ण, सड़ा, गला, दुर्गंधित इससे पहले कभी नहीं लगा।

1923-24 में कविता के नाम से जो मैंने लिखा था वह मैंने नष्ट कर दिया था। उसके लिए मुझे पश्चात्ताप नहीं, उसमें वास्तविकता होगी, अभिव्यक्ति होगी, पर प्रेषण, उद्बोधन शायद ही रहा होगा, जिसके बिना कविता कविता नहीं होती। 1929 से मैं फिर कुछ लिखने लगा था, '30 से विशेषकर, जब मैंने युनिवर्सिटी छोड़ दी थी। 1930 की युनिवर्सिटी प्रतियोगिता में मेरी कहानी को प्रथम पुरस्कार मिला था, '31 में मैं युनिवर्सिटी का विद्यार्थी न था, पर प्रतियोगिता में मैंने कहानी भेज दी थी। वह कहानी 'हृदय की आँखें' इतनी अच्छी समझी गई कि प्रतियोगिता के अंत में पढ़वाई गई। प्रेमचंद ने उसे 'हंस' में छापा। यह मेरे लिए बहुत बड़ा प्रोत्साहन था। मैं सोचने लगा शायद मुझमें कहानीकार के बीज हैं और मैं अभ्यास करता जाऊँ तो संभव है मैं किसी दिन कहानी के क्षेत्र में अपने लिए कोई स्थान बना सकूँ। साथ ही कविताओं के लिए प्रेरित करने को भी मेरे पास कम न था। मेरी कविताओं को देखने वाले इने-गिने थे, घर पर शायद श्यामा अकेली, निकट के मित्रों में केवल महेश, दूर के मित्रों में केवल श्री कृष्ण सूरी, मेरे कहानीकार से मेरा कवि अधिक संकोचशील था। श्यामा की शिक्षा घर पर ही हुई थी - थोड़ी हिंदी की, थोड़ी अंग्रेज़ी की, एक ईसाई महिला उसको और उसकी चचेरी बहनों को पढ़ाने आती थी। पढ़ाने का उसे शौक था, कविता का भी, जो विशेषकर मेरे संपर्क से और बढ़ा। कविता की कोई अच्छी पुस्तक मैं देखता तो उसे खरीद लाता, उसे भेंट कर देता, वह खुद पढ़ती, अक्सर तो उसकी लंबी-लंबी बीमारियों में मैं ही उसे पढ़कर सुनाता। महेश मेरी कविताओं को पसंद करते, सूरी मेरी कविताओं की प्रशंसा करते, और श्यामा चाहती कि मैं सदैव कविता में डूबा रहूँ। कविता में मेरा भविष्य शायद ही उसने देखा होगा, पर इतना तो उसने अनुभव ही किया होगा कि काव्य सृजन में ही मेरा मन कुछ शांति, कुछ मुक्ति पाता है, जो अन्यथा उद्विग्न, उद्भ्रांत अथवा अशांत रहता है। शायद अब भी मनःशक्तियों का पूर्ण केंद्रीकरण, तन्मयता, तल्लीनता, परिपूर्ण आत्म-विस्मरण मैं काव्य-सृजन के ही क्षणों में जानता हूँ - जिसे अब मैं 'समाधि' कहने लगा हूँ। जब मैं अपनी अनुभूतियों में जीता हूँ - कला के माध्यम से अनुभूतियों को जीना शायद जीने से अधिक घनत्व से, तीव्रता से, गहराई से जीना है - तब मैं सारे संसार के लिए मर जाता हूँ, और मैं चाहता हूँ कि कोई कुछ भी ऐसा न करे जिससे मैं संसार में जीने के प्रति सचेत हो जाऊँ, जब तक कि मेरी ही 'समाधि' न टूटे। और उन दिनों मेरी 'समाधि' में किसी प्रकार की बाधा न बनने का श्यामा ने सब तरह से प्रयत्न किया। स्कूल या विद्यापीठ पढ़ाने में निश्चय मुझे उससे ज्यादा समय लगाना पड़ता था जितना युनिवर्सिटी में पढ़ाने में, ट्यूशन दो या तीन मुझे अब भी करनी पड़ती थीं, फिर भी अपने

क्या भूलूँ क्या याद करूँ

पढ़ने-लिखने के लिए मेरे पास काफ़ी समय था। सुबह जल्दी जागने, रात को देर से सोने का लंबा अभ्यास अब आदत बन गया था।

लगभग चार वर्ष अपने विविधतापूर्ण स्वाध्याय के अतिरिक्त मैं कहानियाँ भी लिखता रहा, कविताएँ भी लिखता रहा - जैसे कवि और कहानीकार दोनों मेरे अंदर परस्पर संघर्ष कर रहे हों और अभी तक मैं निश्चय न कर सका हूँ कि विजय का सेहरा किसके माथे बाँधूँ। कुछ कविताएँ-कहानियाँ पत्रों में भी छपीं। मैंने कहानियों का एक संग्रह तैयार किया। जैसे नए लेखकों के मन में प्रायः यह कमज़ोरी होती है कि कोई बड़ा आदमी उनकी कृति की भूमिका लिख देगा तो प्रकाशक उसे फ़ौज़ चम्प देगा, मुझमें भी थी। मैंने उसकी भूमिका डॉ. धीरेन्द्र वर्मा से लिखाई। ज़मीन से उड़कर मैं पेड़ की डाल पर, फुनगी पर नहीं, एकदम पहाड़ की चोटी पर बैठकर चहकना चाहता था। मैंने अपना संग्रह प्रकाशित करने के लिए प्रस्तुत किया 'हिंदुस्तानी अकादमी' को। कुछ दिनों बाद अकादमी ने प्रकाशित करने में असमर्थता व्यक्त करके संग्रह लौटा दिया। निराश होना स्वाभाविक था। पहले तो मैंने डॉ. धीरेन्द्र वर्मा की भूमिका फाड़ी, फिर कहानियाँ फाड़कर रद्दी की टोकरी में डाल दीं। चौदह वर्षों बाद जब भारती भंडार ने मेरी प्रारंभिक रचनाओं को छापना चाहा तो मुझे उन्हें पत्र-पत्रिकाओं से, अपने पुराने काराजों के फ़र्स्ट ड्राफ्टों से फिर से तैयार करने में काफ़ी परेशानी उठानी पड़ी। शायद उसी दिन मेरे मन ने यह निर्णय लिया था कि मैं कहानीकार नहीं बन सकता, अब कविता की दिशा को अपनाऊँ। संग्रह प्रकाशित हो जाता तो उसका प्रोत्साहन शायद मुझे कहानी, उपन्यास के क्षेत्र में बढ़ने को प्रेरित करता। जीवन की ऐसी आकस्मिक घटनाएँ ही वास्तव में जीवन को दिशा देती हैं, और जिसे हम 'नियति' का गंभीर-सा नाम देते हैं वह शायद बहुत नगण्य-सी लगने वाली घटनाओं से अपने बड़े-बड़े लक्ष्य प्राप्त करती रहती है। क्या मेरे अंदर का कहानीकार मर गया? मरता जीवन में कुछ भी नहीं, केवल रूप बदलता है। कहानीकार मेरे कवि में आत्मसात् हो गया। ऐसा मेरे बहुत-से पाठक मुझसे कहते हैं कि मेरी बहुत-सी कविताओं के पीछे किसी कहानी की कल्पना कर लेना कठिन नहीं है। कुछ लोगों ने मेरी कतिपय कविताओं को लेकर वास्तव में कहानियाँ गढ़ी हैं, वे छपी भी हैं। बहरहाल, उस दिन के बाद मैंने केवल एक कहानी लिखी, अगर कहानी उसे कह सकते हों तो जो 'निशा निमंत्रण' के आरंभ में है।

कविताओं के भी मैंने कई संकलनों की कल्पना कर डाली थी और उन्हें अलग-अलग कापियों में लिखकर श्री कृष्ण सूरी के पास भेज दिया था। पहला संग्रह 'तेरा हार' के नाम से छपाना चाहता था। उन्हीं दिनों मुंशी कन्हैयालाल के संपादन में श्री शुक्देव प्रसाद 'बिस्मिल' इलाहाबादी का उर्दू संग्रह 'दीवाने बिस्मिल' के नाम से शायद इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुआ था। मेरा आना-जाना मुंशी कन्हैयालाल के यहाँ था ही,

हिंदी गद्य विविधा

जिनको हम घर पर बुचुन दादा कहते थे। मैंने उनके सामने अपनी इच्छा प्रकट की। उन्होंने मेरी ओर से कटरा के रामनारायण लाल पब्लिशर और बुकसेलर से बात की। वे मेरा संकलन छापने को तैयार हो गए, शर्त यह रखी कि एक हजार प्रतियाँ छापेंगे, मगर रायल्टी कुछ न देंगे, सिर्फ़ ढाई सौ प्रतियाँ भेंट स्वरूप मुझे दे देंगे, दाम एक रु. होगा, मैं चाहे बेच लूँ, चाहे बाँट दूँ। यश के लोभ ने अर्थ के लाभ पर विजय पाई। मैंने प्रकाशक की शर्त स्वीकार कर ली। संपादक की जगह पर - हालाँकि इसकी ज़रूरत नहीं थी - मुंशी कन्हैयालाल एम.ए., एल.एल.बी. का नाम छपा - गोकि संपादन उन्होंने एक अक्षर का न किया था, मैं स्वीकार करूँगा, मेरी इच्छा से - 'रचयिता' के न-कुछ-से हल्के नाम 'बच्चन' को संपादक के एक मारी, डिप्टीधारी नाम का सहारा और वज़न देने के लिए। प्रारंभिक 'संबोधन' में भी पता उनके निवास 'कृष्ण-कुंज' का दिया गया। जिस दिन पुस्तक प्रकाशित हो गई, शायद सन् 32 की जनवरी का पहला सप्ताह था, मैं प्रकाशक के यहाँ अपनी प्रतियाँ लेने गया। मुझे ढाई सौ प्रतियों का बंडल दे दिया गया और उसे अपने कंधे पर रखकर मैं ऐसे ही गर्व से चला जैसे पक्षिराज गरुड़ भगवान विष्णु को अपनी पीठ पर बिठाकर उड़े जा रहे हों - हाँ, मैं उड़ा ही जा रहा था, मेरे पैर जैसे धरती पर नहीं पड़ रहे थे। मेरी सर्वप्रथम कृति प्रकाशित हो गई! पहली बार अनुभूति हुई कि कवि की पहली रचना का प्रकाशन उसके लिए उतना ही रोमप्रहर्षक होता है जितना प्रेयसी का प्रथमालिंगन!

20 . राहुल सांकृत्यायन और 'किन्नर देश की ओर'

जीवन परिचय

महापंडित राहुल सांकृत्यायन एक अविश्रांत यात्री, तत्वान्वेषी, इतिहासविद् और युगपरिवर्तनकामी साहित्यकार थे। उनके जीवन का मंत्र था एक जगह टिककर मत रहो सदा घूमते रहो। चरैवेति, चरैवेति का सत्य उन्होंने अपने जीवन में उतार लिया था। वे हमेशा गतिशील रहे - एक जगह से दूसरी जगह तक, एक भाषा से दूसरी भाषा तक, जिज्ञासा के एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव तक। उनमें कभी न बुझने वाली ऊर्जा और ज्ञान की प्यास हमेशा मौजूद रही।

राहुल जी का जन्म का नाम केदार पाँडे था। इनका जन्म 9 अप्रैल 1893 ई. को उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के पंदहा नामक गाँव में हुआ था। उनके गाँव का नाम कनैला था। यह स्थान उनका ननिहाल था। बचपन में ही उनकी माता का देहांत हो गया था। राहुलजी का लालन पालन उनकी स्नेहमयी नानी ने किया था।

1898 में इन्हें एक मदरसे में भेजा गया, जहाँ उनकी प्राथमिक शिक्षा उर्दू वर्णमाला के परिचय से शुरू हुई। राहुलजी का विवाह बचपन में ही कर दिया गया था। यह विवाह उनके जीवन की निर्णायक घटना थी। गृहत्याग उनकी प्रथम प्रतिक्रिया थी जिसे राहुल जी ने सामाजिक विद्रोह के प्रथम अंकुर की संज्ञा दी है। संन्यास इस विद्रोह का ही एक रूप था। घर से भागकर केदारनाथ पाँडे साधु रामउदार दास बन गए। यदि वे इतने से संतुष्ट होकर रह जाते तो हजारों साधुओं के बीच खो जाते। ज्ञान की प्यास ने उन्हें चैन नहीं लेने दिया और वे आर्य समाज के अनुयायी बन गए।

चौदह वर्ष की अवस्था में कलकत्ता भाग आए। तरुण राहुल को यायावरी ने आकृष्ट किया। उनके मन और आत्मा पर विरक्ति का भाव पूरी तरह छा गया था। एक ओर वैराग्य ने और दूसरी ओर ज्ञान की पिपासा से प्रेरित होकर राहुल सांकृत्यायन भारत के एक कोने-से दूसरे कोने की यात्रा करने लगे। सत्रह वर्ष की उम्र में उन्होंने हिमालय की पहला यात्रा की थी। 1913-14 में उन्होंने दक्षिण भारत की यात्रा की। 1916 में उन्होंने संस्कृत अध्ययन को आगे बढ़ाने का निश्चय किया। इस आयु तक आते-आते वे आर्य समाज के प्रभाव से भी मुक्त होने लगे थे। इसके बाद उनका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर

हिंदी गद्य विविधा

हुआ। बौद्ध धर्म में दीक्षा लेकर ही वे राहुल सांकृत्यायन बने। बौद्ध धर्म और दर्शन की तरफ उनके झुकाव ने उन्हें पाली, अपभ्रंश, प्राकृत आदि भाषाओं को सीखने और उनके साहित्य को जानने के लिए प्रेरित किया।

1917 की बोल्शेविक क्रांति ने उनके मानस को गहरे से आंदोलित किया। वे एक आदर्श साम्यवादी समाज का स्वप्न देखने लगे। 1919 में जलियांवाला बाग में हुए नरसंहार ने उनके सामने अंग्रेज़ी राजसत्ता का असली चेहरा ला दिया। 1922 में विदेशी राजसत्ता के विरोध में असंतोष फैलाने के आरोप में वे पकड़े गये और जेल भेज दिए गए। उन्होंने किसान आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया, जेल गए, पुलिस की लाठियाँ भी खाईं। वे अखिल भारतीय किसान सभा के महासचिव भी रहे। उन्होंने तिब्बत की चार बार यात्रा की थी। वहाँ से वे विपुल बौद्ध साहित्य लेकर आए? उनके द्वारा लाए गए साहित्य का अधिकांश अभी भी पांडुलिपियों के रूप में मौजूद है। राहुल ने कुछ समय तक श्रीलंका के विश्वविद्यालय में अध्यापन भी किया था।

1932-33 में वे योरप गए। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी में कई प्राच्यविद्या विशारदों से मिले। 1935 में जापान, कोरिया और मंचूरिया की यात्रा की। वहाँ से वे सोवियत रूस गए। फिर तेहरान गए। वहाँ से बलूचिस्तान होते हुए लाहौर पहुँचे। उन्होंने 1937 में मास्को की यात्रा की। वहाँ उनकी भेंट भारतीय तिब्बती विभाग की सचिव लोला एलेना नर्वतोवना नामक महिला से हुई। दोनों की मैत्री गहरे आकर्षण और विवाह में परिणत हो गई। यह संबंध आल्पकाल का रहा क्योंकि राहुल जी को स्वदेश वापस लौटना पड़ा। लेकिन इस अल्पकाल में उन्हें उससे पुत्र प्राप्ति हुई। 1947 - 1948 में वे फिर रूस गए।

हिंदी और हिमालय उनके जीवन की दो बड़ी निष्ठाएँ थीं। हिमालय की प्रकृति से वे हमेशा कुछ न कुछ सीखते रहे। 1950 में उन्होंने नैनीताल में अपना आवास बनाया। वहीं उनका विवाह कमला सांकृत्यायन से हुआ। वे एक पुत्र के पिता बने। बाद में वे पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग पर्वतीय स्थल पर रहने लगे। मधुमेह की बीमारी से पीड़ित रहने पर उन्हें सोवियत संघ इलाज के लिए भेजा गया।

1962-1963 में सोवियत रूस में सात महीने के इलाज के बाद 14 अप्रैल 1963 को उनका देहांत हो गया। राहुल सांकृत्यायन गहरे अर्थों में ज्ञान पिपासु थे। उनके जीवन की भटकन इसी के लिए थी। ज्ञान का शायद ही कोई क्षेत्र ऐसा था जो उनसे अछूता रहा हो। यही कारण है कि उन्हें 'महापंडित' कहकर हिंदी जगत ने सम्मानित किया। डॉ. नामवर सिंह ने उनकी आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' पर टिप्पणी करते हुए लिखा था, 'मेरी जीवन यात्रा का सबसे बड़ा आकर्षण है कनैला के केदारनाथ पाँडे का महापंडित

राहुल सांकृत्यायन में रूपांतरण। जीवन की यह यात्रा अन्य यात्राओं से कितनी लंबी है। कितनी दुर्गम! कितनी साहसिक! कितनी रोमांचक! और कितनी सार्थक! "

साहित्यिक योगदान

महापंडित राहुल सांकृत्यायन व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही दृष्टियों से अपने ढंग के अद्वितीय व्यक्ति थे। उनका संपूर्ण साहित्य उनके व्यापक अनुभव, विस्तृत अध्ययन और गहन खोजों का परिणाम है। उनके साहित्य को समग्रता में देखना उचित होगा। 1927 से 1961 तक उनकी सृजन यात्रा अबाध गति से चलती रही। यदि उन्होंने कहानियों और उपन्यासों की रचना की तो यात्रा संस्मरण, जीवनी और आत्मकथा की रचना भी की। इतिहास, दर्शन, संस्कृत, भाषा के क्षेत्रों में भी उनका योगदान साहित्य से कम नहीं था। प्राचीन साहित्य की खोज का उनका काम ही उन्हें महान् बनाने के लिए पर्याप्त था। लगभग पैंतीस साल के अपने रचनाकाल में जितना कुछ लिखा, वह किसी एक लेखक के लिए प्रायः असंभव ही कहा जाएगा। राहुलजी ने ज्यादा भी लिखा और श्रेष्ठ भी।

उनके द्वारा लिखित उपन्यासों की संख्या तेरह है जिनमें से प्रमुख हैं : 'बाइसवीं सदी' (1923), 'सिंह सेनापति' (1944), 'जीने के लिए' (1940), 'जय यौधेय' (1944), 'भागो नहीं दुनिया को बदलो' (1944), 'मधुर स्वप्न' (1949), 'राजस्थान निवास' (1953), 'विस्मृत यात्री' (1954) और 'दिवोदास' (1960)। राहुलजी मार्क्सवादी चेतना से अनुप्राणित होकर द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर इतिहास का विश्लेषण करने वाले उपन्यासकार हैं। 'सिंह सेनापति' में लिच्छवीगण के संघर्ष का चित्रण है और 'जय यौधेय' में यौधेयगण का।

उनके चार कहानी संग्रह भी प्रकाशित हुए। 'सतमी के बच्चे' (1935), 'वोल्गा से गंगा' (1944), 'बहुरंगी मधुपुरी' (1953) और 'कनैल की कथा' (1955-56)। 'सतमी के बच्चे' में दयनीय बच्चों की दुःखद और सच्ची कहानियों का वर्णन है। 'वोल्गा से गंगा' में प्राग्वैदिक काल से 1944 तक के आधुनिक भारत की बीस कहानियाँ हैं। जिनमें उन्होंने मानव इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या के आधार पर कथावस्तु का निर्माण किया है।

राहुलजी के साहित्यिक गद्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि उनके द्वारा रचित आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' है। यह आत्मकथा पाँच खंडों में है। आत्मकथा में उन्होंने ईमानदारी से अपने जीवन के अनुभवों को रखने का प्रयास किया है। लेकिन राहुलजी के जीवन के बहाने हमारे सामने उस युग का यथार्थ भी आता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई जीवनियाँ भी लिखी हैं। इनमें से 'कार्ल मार्क्स' (1954), 'स्तालिन' (1954), 'माओ त्से तुंग' (1954), का उल्लेख किया जा सकता है। वे खुले दिमाग के मार्क्सवादी थे, उन्होंने समाजवाद को पुस्तकों से ही नहीं जीवन से भी सीखा था।

हिंदी गद्य विविधा

राहुल जी सबसे अधिक अपने यात्रा साहित्य के लिए विख्यात रहे हैं। उनका जीवन देश-विदेश की यात्रा करते हुए बीता था। तिब्बत जैसे दुर्गम क्षेत्र की यात्रा उनके अदम्य साहस का परिचायक है। अनुभव संपदा उनकी व्यापक थी। गहन अध्येता और चिंतक होने के कारण उनके यात्रा साहित्य में जगह-जगह संस्कृति, पर्यावरण, भाषा, इतिहास, नृशास्त्र आदि कई बातों का एक साथ खुलासा होता जाता है। उनकी प्रमुख यात्रा संबंधी पुस्तकें निम्नलिखित हैं : 'मेरी लद्दाख यात्रा' (1926), 'लंका' (1926-27), 'मेरी यूरोप यात्रा' (1932), 'मेरी तिब्बत यात्रा' (1937), 'जापान' (1935), 'ईरान' (1935-36), 'रूस में पच्चीस मास' 'किन्नर देश की ओर' (1948) 'तिब्बत में सवावर्ष' (1937), 'घुमक्कड़ शास्त्र' (1949), 'एशिया के दुर्गम भूखंडों में' (1956) और 'चीन में क्या देखा' (1960)।

साहित्यिक महत्व के ग्रंथों के अतिरिक्त उन्होंने इतिहास, दर्शन विषयक रचनाएँ भी लिखीं। 'मध्य एशिया का इतिहास' एक बृहदाकार ग्रंथ है। इस इतिहास ग्रंथ को साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत भी किया गया है। दर्शन संबंधी उनका ग्रंथ 'दर्शन दिग्दर्शन' भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। हिंदी साहित्य के आरंभिक इतिहास पर भी राहुलजी ने प्रकाश डाला है। वस्तुतः राहुल सांकृत्यायन में लोक और शास्त्र की संवेदना साथ-साथ मिलती है। लोक के प्रति आत्मीयता ने उन्हें घुमक्कड़ बनाया और विद्वता ने उन्हें महापंडित बनाया।

रचना के बारे में

'किन्नर देश की ओर' राहुल जी की हिमाचल यात्रा से संबंधित यात्रा वृत्तांत है। इस यात्रा वृत्तांत की रचना उन्होंने 1948 ई. में की थी। उनकी यात्रा किसी सैलानी की यात्रा नहीं होती थी अपितु वह एक विचारक, सत्यान्वेषी, साहित्य और इतिहास प्रेमी यात्रा होती थी। उनके यात्रा साहित्य को पढ़ने से हमें हर कदम पर इस बात का प्रमाण मिलता है।

हिमालय के प्रति राहुल जी में गहरा लगाव है। हिमालय से उन्होंने हमेशा कुछ न कुछ सीखा है। 'किन्नर देश की ओर' उनकी हिमाचल यात्रा का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक साक्ष्य है। यात्रा भ्रमण में उस प्रदेश के मिथक, इतिहास, भाषा, और लोक अनुभव से प्राप्त सच्चाई का वे वर्णन करते हैं। यात्रा वृत्तांत पढ़ते हुए हमें उस स्थल की भौगोलिक जानकारी ही नहीं मिलती, उसके राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की भी जानकारी मिलती है।

भारत सांस्कृतिक विविधताओं वाला देश है। यहाँ की सांस्कृतिक विविधता भारत के महत्व को समझने के लिए जरूरी है। राहुलजी किन्नर देश की यात्रा रचनाकार और सांस्कृतिक अध्येता की मानसिकता को लेकर करते हैं। स्थनीय वातावरण और प्रकृति के साथ एकाकार हो जाने की आकांक्षा उनमें व्याप्त है। किन्नर देश की प्रकृति, उसके विकास

किन्नर देश की ओर

का जायजा, लोगों की वेशभूषा, भाषा आदि सभी चीजों का ज्ञान प्राप्त कर वे उस क्षेत्र का मानचित्र तैयार करते हैं। भौगोलिक बनावट, दुर्गम प्रदेश के कष्टमय जीवन और यात्रा की कठिनाई का वृतांत उनके अदम्य साहस का भी परिचय देता है। भूमंडलीकरण की इस दौड़ में जब स्थान और समय की दूरियाँ लगभग मिट सी गई हैं, हमारा ज्ञान चिंताजनक रूप से क्षीण होता जा रहा है। जिन स्थानों की यात्रा करते हैं, उनके बारे में अधिकाधिक जानने की जिज्ञासा तो हमारे में नहीं होती, हम स्वयं अपने देश, अपनी भूमि के बारे में भी जानने का प्रयत्न नहीं करते। यह तथ्य स्वयं राहुलजी के महत्व को प्रतिपादित करने के लिए काफी है।

यात्रा वृतांत की अंतर्वस्तु को राहुल जी बड़े व्यवस्थित रूप में रखते हैं। वे तिथि देने के साथ यात्रा का ब्यौरा बड़ी सावधानी से लिखते हैं। यात्रा की क्या योजना है? किस प्रकार की यात्रा है? उसके लिए क्या प्रबंध किया गया है? प्रदेश की भौगोलिक बनावट और स्थान की प्राकृतिक सुषमा को भी वे अपनी नजरों से ओझल नहीं होने देते। पथ के साथियों को भी वे नहीं भूलते। इस यात्रा वृतांत में सुबह से शाम तक की उनकी दिनचर्या का बारीकी से विवेचन किया गया है। हिमाचल की यात्रा में वे उन सारी सुविधाओं और असुविधाओं को भी नजरअंदाज नहीं करते जो अन्य यात्रियों के लिए उपयोगी हो सकते हैं। राहुलजी स्थलों की जानकारी ही नहीं देते, उनसे जुड़े लोगों के इतिहास और वर्तमान के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर भी रोशनी डालते जाते हैं। वह महज एक सैलानी की तटस्थ टिप्पणी नहीं होती उसमें उनका सांस्कृतिक चिंतक का संश्लिष्ट व्यक्तित्व भी बोलता है।

राहुल जी किताब की निर्जीव भाषा से ऊपर उठकर अनुभव की भाषा को अपनी रचना का आधार बनाने का प्रयत्न करते हैं। वे उर्दू और हिंदी के शब्दों के साथ स्थानीय भाषा के कुछ शब्दों को भी ग्रहण करते हैं। भाषा में व्यंग्य के तेवर देखने वाले होते हैं। वे पांडित्य परंपरा में होते हुए भी भाषा को जड़ नहीं होने देते हैं, भाषा में लोक अनुभव की संवेदना का महत्व दिखाई पड़ता है। इस वृतांत में रोचक शैली के साथ विद्वता का प्रभाव भी मिलता है। शैली में किंचित् बोझिलता के बावजूद प्रायः रोचकता बनी रहती है। पाठक को पूरे यात्रा वृतांत में इतनी बातें और इतना अनुभव हासिल होता है कि वह चकित-सा रह जाता है। शब्दों की ध्वन्यात्मकता, टोन और बोलने की शैली का भी उन्होंने प्रयोग में बड़ा ध्यान रखा है। कहीं-कहीं उनकी भाषा के बीच से भोजपुरी अंदाज छलक उठता है। भाषा की प्रवृत्ति उनके व्यक्तित्व के समान स्वच्छंद है।

शब्दावली

खासादार : या खासबरदार, सिपाही जो सवारी के आगे-आगे चलता है।

बखशीश : इनाम

हिंदी गद्य विविधा

बुशहरी : बुशहर का रहने वाला

पंसेरी : पाँच सेर का वजन

डॉडे : लकड़ी का डंडा

वाणासुर : पुराण में वर्णित एक राक्षस

उपत्यका : पहाड़ के पास की भूमि, तराई।

प्रातराश : नाश्ता

ताकीद : किसी काम को करने के लिए बार-बार याद दिलाना

अनूशाही : शाही रिवाज के अनुसार

कादंबरी : महान संस्कृत गद्यकार बाणभट्ट की प्रसिद्ध गद्य रचना

इंद्रायुध : इंद्रधनुष या वज्र के सामन घोड़ा

असबाब : सामान

भोटिया भाषा : तिब्बती क्षेत्र की एक भाषा।

हकीकी : यथार्थ

परिचारिका : नौकरानी

उंदुवरवर्णा : गूलर के फल जैसी दिखने वाली शराब

ऊर्णासूत्र : ऊनी धागा

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. सराहन का सतयुग का इतिहास भी ढूँढने पर मिल सकता है। द्वापर के अंत में जब श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकंद द्वारिका में वास कर रहे थे, तो इसका नाम शोणितपुर था। यही प्रचंड-भुजदंड वाणासुर की राजधानी थी। यहीं उसकी कन्या उषा ने चित्रलेखा के खींचे चित्रों से अपने स्वप्नाभिलषित प्रियतम अनुरुद्ध को पकड़ मँगवाया था। उसी अनुरुद्ध की अविच्छिन्न परम्परा पिछले महाराजा पदम सिंह और उनके वर्तमान चिरंजीवी वीरभद्र सिंह तक चली आई है। प्राचीन नाम शोणितपुर और वर्तमान नाम सराहन के महत्व के बारे में इससे बढ़कर और क्या कहा जा सकता है? और प्रमाण चाहिए, तो वह स्वयं सराहन नाम में दिया है जो शोणितपुर से ही बिगड़ कर बना है। किस भाषातत्व या व्याकरण के अनुसार, यहाँ के पंडित प्रवर मूर्खजपाटानंद से पूछ लीजिए, जो यहाँ से थोड़ा ही नीचे के रावी गाँव में सतयुग की पोथी लेकर बैठे हुए हैं। इस पोथी को न इनकी हजार पीढ़ी पढ़ सकी और न वह खुदा बल्कि वह पोथी तह पर तह कपड़ों से लिपटी सारे कलियुग में भी न खुली और यदि रामजी की इच्छा होगी, तो आग-वाग लगने पर कोयला बनकर ही खुलेगी।

किन्नर देश की ओर

2. मेरे मन में कभी ख्याल उठा था - इन्हीं की भाँति निर्द्वन्द्व हो गदहा, खच्चर और तंबू लिए एक देश से दूसरे देश में घूमूँ। काश, मैं बीस बरस का हो जाता, फिर इसी तरुण से कहता - लो दोस्त! मुझे भी अपने परिवार में शामिल कर लो, खाने के लिए ही नहीं, अपने साथ काम करने के लिए भी, अपने दुःख-सुख में शामिल होने के लिए भी।

व्याख्या का उदाहरण

अब खम्पा लोग ऊपर की ओर जा रहे थे। खानाबदोशी जीवन के बारे में पूछने पर तरुण ने कहा - जीवन तो कठिन है, किंतु उसे छोड़ कर बसते नहीं बनता। बसने पर आज की तरह की खान-पान की सामग्री जमा करना हमारे लिए संभव नहीं होगा। पश्चिमी तिब्बत में पहुँचते हैं वहाँ यथेष्ट मांस, मक्खन सुलभ होता है। यहाँ भी आस-पास के लोगों से अच्छा खाते हैं, अच्छा पहनते हैं, न उधो का लेना न माधो का देना। उसकी बात में सच्चाई थी, इससे कौन इंकार कर सकता था।

संदर्भ-संकेत

महापंडित राहुल सांकृत्यायन प्रगतिशील विचारधारा के लेखक थे। उनमें प्रखर मानवीय दृष्टि थी। उनकी यात्रा साधारण जन की पीड़ा को समझने का एक प्रयास भी है। 'किन्नर देश की ओर' उनकी हिमाचल यात्रा का वृत्तांत है। उनकी यात्रा का महत्वपूर्ण पक्ष यात्रा स्थल के लोगों के जीवन का वर्णन होता है। इस अंश में भी खंपा जाति के युवक से उनकी वार्ता का उल्लेख है। इस यात्रा में हिमाचल के सीमांत प्रदेश में बसे भारतीय ही नहीं बल्कि तिब्बत के लोगों के पिछड़ेपन को वे गहन आत्मीय भाव से प्रस्तुत करते हैं।

व्याख्या-संकेत

खंपा लोग भारत-तिब्बत सीमांत पर बसने वाली खानाबदोशी जातियों को कहा गया है। एक तरुण तिब्बती से राहुलजी उसी की भाषा में बात कर उससे अपनी आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। तरुण खानाबदोशी जीवन की कठिनाइयों का वर्णन करता है। तकलीफों के बावजूद वह खानाबदोशी संस्कृति को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। खानाबदोश लोगों में संग्रह की प्रवृत्ति नहीं होती है। संग्रह से पूँजी का जन्म होता है। पूँजी विषमता को जन्म देती है, जो समाज के लिए रोग है।

पश्चिमी तिब्बत से किन्नर देश की यात्रा करते हुए खंपा लोगों को कहीं बेहतर जीवन मिलता है तो कहीं उनकी तकलीफें बढ़ जाती हैं। इसके बावजूद वे इसलिए उस जीवन को छोड़ना नहीं चाहते क्योंकि श्रम पर टिका उनका जीवन और उनका समाज बराबरी का समाज था। लेन-देन की ऐसी व्यापारिक संस्कृति अभी उनमें विकसित नहीं हुई थी,

हिंदी गद्य विविधा

जो अपने ही लोगों को अपने लोगों से दूर कर देती है। उनके जीवन की यह निष्कपटता और सरलता लेखक को आकृष्ट करती है। यही कारण है कि वह सोचता है कि काश, इस तरुण की तरह वह भी जवान होता और उन्हीं की तरह यात्रा करता हुआ जीवन बिताता।

विशेष-संकेत

खानाबदोश लोगों के जीवन का यह चित्र हमारे आज के कथित सभ्य समाज से तुलनीय है। क्या उन्हें किसी तरह हम अपने से कम 'सभ्य' मान सकते हैं? यात्रा वृत्तांत में लोगों के ऐसे जीवंत अनुभव के वर्णन से उसका साहित्यिक महत्व भी बढ़ जाता है।

सहायक पुस्तकें

प्रभाकर पाचवे : राहुल सांकृत्यायन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

डॉ. विद्यानिवास मिश्र : राहुल चयनिका, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।

कमला सांकृत्यायन : राहुल वाङ्मय, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

गीतेश शर्मा : राहुल : मंथन एवं चिंतन, जनसंचार प्रकाशन, कलकत्ता।

शंभुनाथ (सं.) : राहुल सांकृत्यायन अंतर्विरोध में लय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूल पाठ : यात्रा वृत्तांत

किन्नर देश की ओर

17 मई को रामपुर से प्रस्थान किया। यद्यपि मेरे पास एक ही खच्चर का सामान था, किंतु पहाड़ में अकेला खच्चर ले जाया नहीं जा सकता, इसलिए सामान के लिए दो खच्चर और सवारी के लिए एक घोड़े का प्रबंध किया गया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ठाणादार से ही मैं सरकारी खच्चरों और घोड़ों का व्यवहार कर रहा था। भाड़े के भी इधर खच्चर चला करते हैं, किंतु उनका मिलना कोई निश्चित नहीं रहता। वैसे सरकारी खच्चर पर जितना खर्च आता है, उससे अधिक भाड़े के खच्चरों पर नहीं आता। मैंने शाम को ही कह दिया था कि हमें बड़े सवेरे चलना है। सवेरे समय से थोड़ी देर बाद खच्चर रवाना हो सके। सरदार साहब से और विद्याधर जी से बिदाई ली। थोड़ा आगे चलकर घोड़े पर सवार हुआ। थोड़ा ही आगे गए कि घोड़ा ठमकने लगा। समझा - शुरू है, आगे ठीक हो जाएगा। और चले, किंतु वही रफ्तार। साथ चलने वाले लड़के से पूछा - घोड़े की पीठ तो कटी नहीं है? लड़के ने पहिले इधर-उधर करना चाहा, किंतु जोर देने पर बोला - हाँ, पीठ कटी है। आखिर रियासती नौकर ठहरे। मेरे एक मित्र की सगी बहिन एक रियासत की विधवा रानी थीं। छोटे भाई के आने पर आवभगत क्यों न करती? चलते समय बहिन रानी ने भाई को मिठाई और दूसरी चीज़ों के साथ एक अच्छा साफा भी दिया। भला नौकर-चाकरों के रहते रानी साहब के भाई अपने हाथ से उन चीज़ों को कैसे उठाकर ले जाते। बाहर आकर जब गाड़ी में भेंट रखी गई, तो साफा नदारद। बिदा होकर चले आये भाई, क्या फिर लोटकर साफे के उड़ने की बात कहने जाएँगे - राज्य के नौकरों को यह बात भलीभाँति ज्ञात थी। राज्य के अतिथियों को ऐसा अनुभव अक्सर प्राप्त होता है। खैर, मुझे तो घोड़ा भेंट में मिला नहीं था और न अस्तबल के खासादार को इससे विशेष लाभ हुआ होगा। शायद अच्छा घोड़ा पाने के लिए भी अस्तबल के बड़े साईंस को पहिले से बखशीश देनी चाहिए थी जिससे मैं अनभिज्ञ था। कटी पीठ के घोड़े पर मैं चार दिन पहाड़ों को पार करके चिनी कैसे पहुँच सकता था? पहुँच सकता, तो भी मेरे पास वह दिल न था। मैंने घोड़े को लड़के के हवाले करके कहा - इसे तुरंत अस्तबल में ले जाकर दूसरा घोड़ा बदल के ले आ, मैं गौरा में प्रतीक्षा करूँगा। वह "हाँ।" करके लौट गया। मैंने विश्वास किया कि घोड़ा अवश्य गौरा आ जाएगा। थोड़ा आगे एक कनोरा पुरुष मिला। मैंने सोचा, शायद लड़का डर के मारे अस्तबल वालों से बात न करे, इसलिए मैंने इस पुरुष से खास सेक्रेटरी बाबू प्यारेलाल जी के पास संदेश भेजा।

हिंदी गद्य विविधा

नौ मील कोई बात नहीं। यद्यपि मैं इधर शरीर से निर्बल था और अभी पहाड़ की चढ़ाई-उतराई का अभ्यस्त भी न हो पाया था, तो भी घोड़ा आने के भरोसे बड़ी निश्चिंतता से आगे चला। तीन-साढ़े तीन घंटे में गौरा डाकबंगले में पहुँच गया। गौरा रामपुर से ढाई हजार फीट से अधिक, अर्थात् समुद्रतल से 6518 फुट ऊँचा है, इसलिए रास्ते में चढ़ाई भी पड़ी। मुझे दोपहर को वहाँ विश्राम करना था। दो-तीन घंटे में घोड़े के भी आ जाने की पूरी उम्मीद थी। किंतु घोड़ा कहाँ आने वाला था? आगे चिनी तक खच्चर के साथ जाने के लिए दौलतराम आ पहुँचे। घोड़े के बारे में पूछने पर बतलाया - हाँ, वह सही-सलातम अस्तबल में पहुँच गया। झुँझलाने से क्या लाभ, आखिर यह तो रियासती आतिथ्य का एक अभिन्न अंग है। तीन घंटे की प्रतीक्षा काफी थी। आगे अभी 12 मील चलना था और रास्ता और भी कड़ी चढ़ाई-उतराई का। गौरा में घोड़े की आशा नहीं थी। यही गौरा था जहाँ के कोलियों ने मास्टर अनुलाल को छुड़ा लिया था और यही डाकबंगला था जिसमें राज की पुलिस और अधिकारियों ने शरण ली थी, गोली चलाई थी और अंत में आत्मसमर्पण किया था।

10 मील के रास्ते में उतराई या समतल पथ तो कुछ नहीं मालूम हुआ, हिम्मत भी करने की ज़रूरत नहीं पड़ी, किंतु अंतिम चार मील कड़ी चढ़ाई के थे। धूप भी तेज थी, ऊपर से डायबेटिस वाले आदमी का तालू वैसे ही सदा सूखा रहता है। मत पूछिए, अंतिम चार मीलों ने मेरी क्या गत बना दी। बस यही समझिए, - 'केनापि देवेन हृदस्थितेन यथातयुक्तोस्मि तथा करोमि' वाली हालत थी। कष्ट असह्य था, किंतु हिम्मत छोड़ने की बात न थी, जानता ही था, बिना सराहन पहुँचे शरण नहीं। रास्ते में बुशहरी नारियाँ डाँडे पर के किसी मेले से खूब बनी-ठनी लौट रही थीं, कोई गीत भी गा रही थीं, किंतु यहाँ देखने-सुनने के लिए दिल कहाँ था? आगे तो चल रहा था, किंतु हर पाँच घंटे पर जान पड़ता था, पैरों में नई पंसेरी बाँधी जा रही है। क्या दिल मानने के लिए तैयार था कि आज 79वें मील पर (शिमला से) पहुँचेंगे। लेकिन आखिर 21 मील की यात्रा करके सूर्यास्त के समय सराहन के डाकबंगले पर पहुँच गया।

बंगला बंद था। कोई मेला हो और पहाड़ी जवान वहाँ से अनुपस्थित हो, यह क्या कोई होनी बात है? मालूम हुआ - चौकीदार साहेब वहाँ गए हुए हैं, आज रात को शायद ही लौटे। मेला तो होता है किसी बड़े शक्तिशाली देवता का ही। किंतु उसमें डटकर शराब पीना, नाचना-गाना सबसे आवश्यक चीज़ है। आस-पास की सारी तरुण-सौंदर्य-राशि जहाँ राशिभूत होती है, फिर "वहाँ नहीं यहीं बैकुन्ठा" मानने वाले क्यों पिछड़ेंगे। खैर, भंगी अर्थात् कोली बूढ़ा और बीमार था, इसलिए वह मेला न जा सका था, नहीं तो उस थकावट में सात हजार फुट की रात को बाहर घास पर बैठना बहुत प्रिय नहीं लगता। बूढ़े ने कहीं से कुर्सी पैदा की। पूछताछ करने पर मेट (चारस) के पास चाभी

किन्नर देश की ओर

निकल आई। अब चाहे चौकीदार रात भर मेला करता रहे, हमें पर्वाह नहीं थी। कुछ देर बाद दौलतराम भी खच्चरों को हाँके आ पहुँचे, किंतु उनकी मनहूस सूरत देखकर हमारी अवस्था बेहतर नहीं हो सकती थी। जान पड़ता था, वह हमसे भी अधिक थके-माँदे हैं। उन्होंने जो भी खच्चरों के लिए दाने-चारे की फर्माइश की, देकर पिण्ड छोड़ाया - प्रति-खच्चर प्रतिदिन दस रुपये से क्या कम खर्च था!

दोपहर को छाछ भर पिया था, इसलिए भूख तो लगनी ही ठहरी, किंतु इस समय थोड़ा लेट जाने का ख्याल था। नेगी ठाकरसेन का पत्र यहाँ के मिडिल स्कूल के मास्टर साहेब को मिल गया था और मास्टर सोहनलाल पता लगते ही आये - सराहन बस्ती कुछ फर्लांग ऊपर है। हम तो दौलतराम की रसोई में शामिल होना चाहते थे, किंतु मास्टर जी ने घर से भोजन और दूध लाने का आग्रह किया। एवमस्तु! किंतु हमें सबसे अधिक चिंता थी कल की यात्रा की, अगले दिन पैदल चलने की शक्ति नहीं थी। मास्टर साहेब ने जितनी जल्दी घोड़ा मिल जाने की बात की, उस पर मेरा विश्वास नहीं हुआ - पहाड़ी लोग न करना जानते नहीं, किंतु हर "हाँ" को पूरा करना उनकी शक्ति के बाहर है। फिर पूछने पर मास्टर सोहनलाल ने कहा - घोड़ा हमारे परिचित बनिये का है। मुझे 22 साल पहिले नौला के बनिये के साथ का अनुभव याद आ गया, कहीं यहाँ भी वैसा ही न हो। दिल पत्थर करके सोचा - खैर, यहाँ सिर पर छत तो है, साफ-सथुरा पी.डब्लू.डी. का बँगला, पलंग, मेज, कुर्सी मौजूद है। सराहन में दूध, भोजन मिल जाएगा ही, हाँ खच्चरों को भी आदमी के साथ बीस-बाईस रुपये रोज़ खिलाने पड़ेंगे। किंतु मैं आजकल के रुपयों को खर्च करते समय पहिले चार से भाग दे दिया करता हूँ, आखिर 1939 में चार आने की चीज़ का ही मूल्य तो आजकल एक रुपया है। खाना लाकर मास्टर जी ने कहा - बनिया घोड़ा दे देगा। क्यों नहीं देता? शायद उसका लड़का स्कूल में मास्टर जी के पास पढ़ता हो। और मास्टर जी के पास नेगी ठाकरसेन की महापंडित के बारे में जबर्दस्त चिट्ठी आई थी। मास्टर जी ने कहा - घोड़े का किराया नचार तक, अर्थात् 23 मील के लिए 20 रुपया माँगता है। बीस यानी 5 रुपये काई पर्वा नहीं। मैंने घोड़े को ठीक कर देने के लिए कहा।

सराहन ऐसा महत्वहीन स्थान नहीं है कि रात भर डाकबँगले में रहकर उससे छुट्टी ले ली जाए, लेकिन मुझे फिर इसी रास्ते लौटना था। सराहन का सतयुग का इतिहास भी ढूँढ़ने पर मिल सकता है। द्वापर के अंत में जब श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकंद द्वारिका में वास कर रहे थे, तो इसका नाम शोणितपुर था। यही प्रचंड-भुजदंड वाणासुर की राजधानी थी। यहीं उसकी कन्या उषा ने चित्रलेखा के खींचे चित्रों से अपने स्वप्नाभिलषित प्रियतम अनुरुद्ध को पकड़ मँगवाया था। उसी अनुरुद्ध की अविच्छिन्न परम्परा पिछले महाराजा पदम सिंह और उनके वर्तमान चिरंजीवी वीरभद्र सिंह तक चली

हिंदी गद्य विविधा

आई है। प्राचीन नाम शोणितपुर और वर्तमान नाम सराहन के महत्व के बारे में इससे बढ़कर और क्या कहा जा सकता है? और प्रमाण चाहिए, तो वह स्वयं सराहन नाम में दिया है जो शोणितपुर से ही बिगड़ कर बना है। किस भाषातत्व या व्याकरण के अनुसार, यहाँ के पंडित प्रवर मूर्खजपाटानंद से पूछ लीजिए, जो यहाँ से थोड़ा ही नीचे के रावी गाँव में सतयुग की पोथी लेकर बैठे हुए हैं। इस पोथी को न इनकी हजार पीढ़ी पढ़ सकी और न वह खुद। बल्कि वह पोथी तह पर तह कपड़ों से लिपटी सारे कलियुग में भी न खुली और यदि रामजी की इच्छा होगी, तो आग-वाग लगने पर कोयला बनकर ही खुलेगी।

सराहन रामपुर से पहिले काफी समय तक बुशहर की राजधानी रहा जो पीछे गर्मियों भर के लिए ही श्रीचरणों से पवित्र होता रहा। यहीं मैंने 1926 में महाराजा पदम सिंह के दर्शन किये थे। उस समय रामपुर से यहाँ तक टेलीफोन भी था। अब टेलीफोन खतम हो चुका है, रास्ते के खंभे भी बहुत से लेट गए हैं। 21 मील लम्बा तार मुफ्त में लुट रहा है। अधिकारियों को पता नहीं है कि जल्दी ही उन्हें नचार तक टेलीफोन नहीं, तार पहुँचाना होगा यदि हिमाचल सरकार के स्वप्न "सतलुज उपत्यका फलों की खान" को जागृति में परिणत करना है। राजा और उनकी ग्रीष्म की राजधानी न सही, सराहन अच्छा बड़ा गाँव है और यहीं सारे बुशहर की अधीश्वरी भीमाकाली आपरूप निवास करती है। मुझे इन बुशहरियों पर झुँझलाहट आती है। हमारे देखते-देखते गढ़वाली आधे दर्जन नकली काशी, नकली प्रयाग, यहाँ तक कि नकली बद्रीनारायण भी बनवाकर मालामाल हो गए - "नकली बद्रीनारायण"। यह मैं गंगोत्तरी के पंडों के गुरु वैदिक जी की बात मानकर कहता हूँ जिनका कहना था कि असली या आदि बदरी भीट देश में थोलिंग मठ में है जिन्हें लामा लोग पूजते हैं। भीमाकाली के आद्या भगवती होने में संदेह नहीं। कहते हैं, उनके खजाने में राजा रामचन्द्र जी के रुपये-पैसे रखे हुए हैं, फिर तो त्रेता तक के लिए बात पक्की ठहरी। माई के दर्शन की लालसा तो है लौटते समय, लेकिन मुश्किल है कि माई का द्वार मेरे जैसे वज्र नास्तिक तो क्या, बुशहर राज्य के बाहर पैदा हुए निपट आस्तिक के लिए भी बंद है। खैर, और नहीं तो लौटते समय चौखट का तो दर्शन हो जाएगा और अगस्त के सूर्यनारायण ने कृपा की, तो माई के मंदिर के चित्र का दर्शन आर्यावर्त के पुण्यवान् प्राणियों को भी हो जाएगा। खजाने के रामचन्द्री रुपयों के दर्शन की लालसा तो किसी की भी पूरी न होगी, क्योंकि अनूशाही प्रचार के अनुसार माई के खजाने को तोड़कर सरदार उसे न जाने कहाँ उठा ले गया।

× × × ×

मिति 18 मई दिन मंगल ईसवी साके 1948 का ब्राह्ममुहूर्त आया। मास्टर सोहनलाल कुछ प्रातराश लेकर पहुँचे और इस संदेश के भी साथ, कि घोड़ा आ रहा है,

किन्नर देश की ओर

आज ही उसे नचार से लौटा दीजियेगा। 23 मील पहाड़ी यात्रा थी, किंतु कल तो मैं पैदल ही 21 मील चला आया था। मास्टर साहब के वर्णन से बनिये का घोड़ा राजा भोज के कल वाले कठघोड़े से कम तेज न था। जलपान किया। दौलतराम को ताकीद करके सवेरे ही खाना कर दिया। शाम ही को उन्हें दिन की रोटी गाँठ बाँध लेने के लिए कह दिया था। अपनी रोटी तो आराम से मिल रही थी, चाहे आटा सेर सवा सेर का ही हो, किंतु रास्ते में कनक को पानी के बिना झुलसते देखकर चित्त खिन्न होता था। मेघ देवता प्रसन्न नहीं थे और सतलुज माई - नहीं बाबा सतलुज, क्योंकि यहाँ वालों ने सतलुज का नाम समंदर रख छोड़ा है - मुफ्त ही इतनी बड़ी जलराशि बहाये लिये जा रही हैं। सूर्यनारायण उग आये। आसमान में बादल की कहीं एक फुटकी भी न थी। थोड़ी देर में घोड़ा भी आ पहुँचा। कादम्बरी में वर्णित इंद्रायुध से डील-डौल में क्या कम था? हाँ, पहाड़ी टाँघनों में अर्थात् उसकी अपनी जाति में वह सबसे बड़ा घोड़ा था। कहते थे, उसे कोई सौदागर यारकंद से बेचने के लिए लाया। राजा पदमसिंह ने अपने लिए खरीदा था जो पीछे की राजविराजी से होते अब वाणासुर की राजधानी के बनिये के हाथ में पड़ा, और, शायद कुछ समय बाद उसके भाग्य में लदनी बदी है। मुझे उसके भाग्य पर तरस आया। क्या जाने यारकंद में आये चंगेज खां के श्यामकर्ण घोड़े का वह वंशज हो और उसकी यह भवितव्यता!

यह कहना शायद भूल गया कि चौकीदार साहेब रात को ही सही-सलामत पहुँच गए थे। चलते समय डाकबँगले का रजिस्टर मँगाया। देखा - वह पी.डब्लू.डी. का है। अपने राम 22 वर्ष पहिले की स्मृति पर समझते थे, तिब्बत-हिंदुस्तान सड़क पर के सारे बँगले वहाँ के जंगलों की तरह पंजाब के जंगल-विभाग के हैं और इसी विश्वास पर पंजाब के चीफ कंजर्वेटर साहेब से आज्ञापत्र भी लाये थे। रजिस्टर में पूछा गया था - आज्ञापत्र? पंजाब सरकार के एक विभाग का आज्ञापत्र तो था, किंतु चाहिए प्रधान इंजीनियर था। जिस चौकीदार पर हम आते समय इतना बौखलाये थे, वह आज्ञापत्र दिखलाने के लिए कह सकता था और न देने पर अर्धचन्द्र दे सकता था। किंतु सौभाग्य से सरकारी कायदे-कानून जैसे निष्ठुर होते हैं, वैसे उसके यह साधारण सेवक नहीं हैं। समझ में नहीं आता, दस-पाँच दिन छोड़कर इन बहुधन-सम्पादित बँगलों को साल भर बंद रखने से सरकार ने क्या लाभ समझा है? सरकारी अफसरों को पहिले स्थान मिले ठीक, आज्ञापत्र पाने वालों को भी पहिले स्थान दिये जाए, किंतु खाली बँगले को साधारण यात्री के लिए क्यों नहीं खोल दिया जाए? मैं डाकबँगलों को धर्मशाला बनाने की सिफारिश नहीं करता, बल्कि मैं तो कहूँगा, एक रुपया प्रतिदिन शुल्क बहुत कम है, उसे कम-से-कम दो या तीन कर देना चाहिए। बँगले और उसके असबाब इतने अच्छे हैं कि आदमी को तीन रुपया रोज़ देने में भी उज्र नहीं होना चाहिए। बस उक्त शुल्क के साथ खाली बँगले का दरवाजा सबके लिए खोल देना चाहिए। भला सोचने की बात है यदि किन्नर

हिंदी गद्य विविधा

की रम्य पर्वतस्थली में खाने रहने का अच्छा प्रबंध हो, हजारों की संख्या में यात्री मैदान से यहाँ विचरने के लिए आयें, तो इसमें यहाँ के निवासियों को लाभ है या नहीं? इंग्लैंड, स्विट्जरलैंड और दूसरे पश्चिमी देश करोड़ों रुपया विज्ञापन में खर्च कर सैलानियों को अपने यहाँ आकर जेब खाली करने का निमंत्रण देते हैं और यहाँ है एक सरकार, जो आने वाले को भी दुतकारती है। खैर, हिमाचल सरकार की भूमि दाल-भात में मूसलचन्द पंजाब सरकार का यह पी.डब्लू.डी. पुराने अंग्रेज़ प्रभुओं के चरण-चिह्न पर चल रहा था।

अब अपना जंगल, अपनी सड़क, अपना बँगला हिमाचल सरकार के हाथ में आयेगा, फिर उसे चाहिए कि यात्रियों को आने के लिए अधिक-से अधिक सुभीता दे। मैं तो यह भी आशा करता हूँ कि आगे चलकर हर बँगले के साथ रसोइया, चाय-टोस्ट और भोजन का भी प्रबंध हो और सौभाग्य से इस भूमि को यदि 'सूखा' न बनना पड़े, तो किन्नर देश को स्वयंप्रसूता उदुंबरवर्णा द्राक्षी मदिरा भी अतिथियों के लिए सुलभ होगी। उदुंबरवर्णा सुरा का नाम शास्त्रों में पढ़कर मुझे उसके प्रति बहुत सम्मान हुआ था और 'शराब गुलँगू' और 'ब्लडरेड वाइन' की सुंदर ध्वनियों से वह और बढ़ा था। किन्नर में आकर पता लगा कि वहाँ श्वेत द्राक्षी मदिरा के सामने रक्ताभा को घटिया समझते हैं। किसी भी काले अंगूर के रस को कुछ समय खास तौर से रख छोड़ने पर वह उदुंबरवर्णा सुरा में परिणत हो जाता है, किंतु महाश्वेता सुरा भाप से चुवाने पर बनती है, अतएव उसका दाम भी अधिक, मान भी अधिक है। किन्नर देश ने इधर कुछ सालों में द्राक्षी मदिरा बनाने में अधिक प्रगति की है। वैसे द्राक्षा (अंगूर) और मदिरा किन्नर के लिए नई चीज़ नहीं है। पिछली सदी में पोआडी (चिनी के पार) के जागीरदार ने अफसोस प्रकट किया था, 'किन्नर लोग द्राक्षा के बाग की ओर से उदासीन हो रहे हैं, यहाँ बहुत तरह के अंगूर थे, किंतु अब पोआडी में सिर्फ अठारह जाति के रह गए हैं।' नेगी सन्तोखदास (रोगी) ने यह कथा कहते हुए बतलाया, अब पोआडी में एक लता भी द्राक्षा की नहीं है।

किन्नर के मानसून-बाह्य इलाके में फलों के साथ द्राक्षा ने काफी प्रगति की और उसमें मदिरा का मुक्त मार्ग बड़ा सहायक हुआ है। पिछली बार 1926 में जब मैं किन्नर से गुजरा था, उस समय महाराजा पदम सिंह ने अपने राज्य में मदिरा बंद कर दी थी (शायद पीना नहीं, बनाना बंद कर दिया था जिसमें लोग सरकारी दूकानों से खरीद कर पीयें), लेकिन कायदा चलने नहीं पाया। लोग चुपचाप बनाकर पीते और राज को अंगूठा दिखला देते। पीछे युवराज के मुण्डन-महोत्सव में राजा ने मदिरा के प्रतिरोध को बंद कर दिया। बतलाने वालों ने गंभीरता के साथ कहा - यहाँ के देवताओं ने भी बहुत जोर लगाया और राजा से कहा - 'मदिरा बिना हमारा काम नहीं चलता।' उधर राजा करीब-करीब अपने परिवार का संहार करा चुका था। और कितने दिनों तक डटा रहता?

किन्नर देश की ओर

फिर जिस तरह भगवान् ईसा मसीह के नायब रोम के पोप, एकलिंग के नायब उदयपुर के राजा, उसी तरह तो भीमाकाली के नायब थे बुशहर के राजा। और भीमाकाली कम से कम द्वापर से कनोर के शिबू (लाल शराब) की आदी थी, रोगी से शिबू लाने के लिए एक परिवार'को अब भी जागीर मिली हुई है।

पाठकों को मालूम हो कि यदि मार्ग का अच्छा प्रबंध और खाने-रहने के अच्छे स्थान बन जायें, तो भाग्यवानों को यहाँ "शिबू" उदुंबरवर्णा किन्नरी सुरा सुलभ रहेगी। सिर्फ खय्यामों की आवश्यकता है, साकी हजारों सुराही लिए यहाँ तैयार मिलेंगे। शम्पेन और बरांडी को मात करने वाली किन्नरी सुरा यहाँ मौजूद है। मैं उसके घर में पहुँच गया हूँ, किंतु अभाग्य के लिए क्या किया जाए, पानी में "मीन प्यासी" कहना चाहिए। इस जन्म में तो ब्रह्मा ने सुरा चखना नहीं लिखा और अगले जन्म पर विश्वास नहीं। मैं न सही, दूसरों का ही रास्ता साफ हो। मैं चाहता हूँ, हिमाचल सरकार का संकल्प पूरा हो, नचार तक मोटर-सड़क बन जाए और मेरा भी स्वप्न पूरा हो, पचीस मील की रोपवे (तारगाड़ी) चिनी तक लग जाए। फिर क्या ज़रूरत होगी बाहर करोड़ों रुपया भेजकर अंगूरी शराब मँगाने की जब कि किन्नरी सुरा सारे भारत के लिए सुलभ हो। यह तो मुझे विश्वास है कि चाहे सारा भारत "सूखा" बन जाए, किंतु किन्नर के देवताओं से उत्प्रेरित यहाँ के मनुष्य किन्नर देश को उसी तरह सूखा नहीं होने देंगे जिस तरह उन्होंने पदम सिंह के कानून को ताक पर रख कर किया।

हाँ, तो हमें आगे चलना था और इन्द्रायुध भी आकर तैयार था, इसलिए पाठकों को भी प्रतीक्षा कराना अच्छा नहीं। इन्द्रायुध की प्रशंसा मैंने या मास्टर सोहनलाल ने, गलत नहीं की। वह वस्तुतः सुंदर, स्वस्थ और बड़े कद का घोड़ा था। घोड़े पर अच्छी चमड़े की काठी लगी हुई थी। वैसे घोड़े से मैं उतना डरता नहीं, किंतु पहाड़ी सड़क पर अड़ियल घोड़े से पाला पड़ना अच्छा नहीं है। मैंने थोड़ी देर चढ़ने के बाद समझ लिया कि इन्द्रायुध लगाम क्या हल्की छड़ी को भी बर्दाश्त कर लेता है, तीर की तरह तेज तो नहीं, किंतु बहुत सुस्त भी नहीं चलता। घोड़े के साथ साईस भी था जिसका इस बात पर बहुत जोर था कि वह बनिए का नहीं, राजा का साईस है, किसी काम के लिए सराहन आया था, बनिए ने हाथ-पैर जोड़े, इसलिए साथ चल रहा है। वह समझता होगा, उड़ते पंछी को यहाँ की बात क्या मालूम? मैं जानता था, राजा के विराज होने पर न जाने कितने घोड़े और साईस ही बेमालिक के नहीं हुए हैं, बल्कि भीमाकाली के प्रताप से जीने वाले सारे रावी गाँव के ब्राह्मणों में भी कुहराम मचा हुआ है, सरकार ने देवी के अस्सी हजार खर्च को घटाकर पन्द्रह हजार से कम कर दिया है। ब्राह्मण देवता जरूर घर का निराहार पुरश्चरण करते होंगे। उनके लिए इससे अच्छा तो फिरंगियों का राज्य था। अच्छा

हिंदी गद्य विविधा

देवताओं! कोई पर्वा नहीं, तुम्हारे पास कपड़े में लिपटी वह सतयुग की पोथी है। सुनते हैं - उसमें सोना नहीं पारस बनाने की विधि लिखी है।

सराहन पहाड़ पर ढलवाँ बंसा हुआ है और काफी नीचे तक। यह राजधानी के लायक स्थान है, लेकिन राजा केहर सिंह को न जाने किसने भाँग खिला दी जो राजधानी रामपुर ले गए। सराहन के बारे में और फिर कभी। डेढ़-दो मील चलने पर पर्वत-वाही-जिसे यहाँ वाले धार कहते हैं - कि पीछे पहुँचते ही सराहन आँख से ओझल हो गया, लेकिन अभी हम किन्नर देश में नहीं पहुँचे। अभी तीन-एक मील और चलना पड़ा। मान्योटी की धार (पर्वत-वाही) आई। यहाँ से हम असली किन्नर-देश में प्रविष्ट हुए। स्त्रियाँ ऊर्ण सारी पहने थीं। हाँ, ऊर्ण सारी को ऊनी साड़ी न मान लीजिए, यह काफी लम्बा-चौड़ा पतला कम्बल होता है जिसे स्त्रियाँ दाहिना कंधा खोले काँटे से इस प्रकार पहिनती हैं कि शिर को छोड़कर सारा शरीर ढँक जाता है। यहाँ से नीचे के लोगों को किन्नर लोग कोची कहते हैं। कोची स्त्रियाँ शिर पर रूमाल बाँधती हैं, किंतु किन्नरियाँ अपने पुरुषों की भाँति टोपी लगाती हैं जिसके तीन भाग में उठे कनपटे जाड़ों में नीचे गिरकर कनटोप का काम देते हैं।

रास्ता तिब्बत-हिंदुस्तान सड़क का था, किंतु सड़क कैसी थी, इसे इसी से समझ लीजिए कि मैंने यहाँ चलकर तय कर लिया कि यदि चिनी को अपना गर्मियों का हेडक्वार्टर बनाना है, तो प्रतिवर्ष नीचे जाने का ख्याल छोड़ना होगा। रास्ता बहुत परिश्रम से बनाया गया था, इसमें शक नहीं, किंतु वह कितनी ही जगहों पर कठिन था। यहाँ पहाड़ अधिक वृक्षसंकुल थे। पहिले की स्मृति ने धोखा देकर समझा रखा था कि इस मोड़ के कनम् तक आदमी लगातार 'देवदार जूड़ी छाँह' में ही जा सकता है, किंतु यह धारणा निराधार थी। कहीं-कहीं देवदार भी थे, मगर सभी जगह नहीं। चौरा के डाक बँगले से हमें कुछ लेना-देना न था। साईस के साथ हम आगे बढ़ते गए। बतलाया गया था, शालेडिड खड्ड के पार रास्ता बहुत बुरी तरह से टूटा हुआ है। मैंने समझा था, शायद वहाँ मुझे और घोड़े दोनों को टाँग कर पार करना होगा। रास्ता टूटा जरूर था, किंतु लोगों ने खेत से अस्थायी मार्ग बना दिया था। हम आसानी से दुकान और सराय के पास पहुँच गए। सराय के घुपहले और शायद खटमल-पिस्तुओं से भरे बरांडे को न पसंद कर मैंने दुकान की छाँह पसंद की।

खच्चर और दौलतराम न जाने कितने पीछे छूटे थे, इसलिए उनके आ जाने पर ही आगे चलना था। बनिया बीमार था। दुकान में काफी आलू पड़े थे और गुड़ की भँलियों पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। मेरे खाने, खरीदने की वहाँ कोई चीज़ न थी। पास के कटे खेत में अपनी रावटी डाल ग्यारह खम्पा पड़े थे। खम तिब्बत में चीन की सीमा पर एक प्रदेश है। शायद इनके पूर्वजों में कुछ किसी समय खम् से खानाबदोशी करने इधर

किन्नर देश की ओर

आए हों, किंतु अब यह न भाषा ही में खम् के हैं, न वेशभूषा ही में। शायद इसीलिए इन्हें सिर्फ खम्पा (खम्वाला) न कहकर ग्यंगर (भारत)-खम्पा कहते हैं। इन लोगों का कहीं घर नहीं है, किंतु यह भिगमंगे नहीं हैं। इनका काम है छोटा-मोटा सौदा खरीदकर इधर से उधर बेचना। जाइँ में ये मंडी, शिमला, हरद्वार, दिल्ली तक पहुँचते हैं और गर्मियों में सतलुज और गंगा की घाटियों से पश्चिमी तिब्बत। यह तिब्बती प्रजा हैं या भारतीय, इसका ठीक से जवाब यह भी नहीं दे सकते। पास में खम्पा बच्चों को देखकर मैंने उनसे भोटिया भाषा में कुछ कहा, उनके कान खड़े हो गए और सयानों को मालूम हुआ। एक तरुण और उसकी माँ पास आई। मेरे जैसे वेशभूषा के आदमी को फर-फर लहासा की नागरिक भाषा में बात करते देख पहिले आश्चर्य हुआ। मैं बनिये के आदमी से पीने के लिए पानी माँग रहा था। तरुण ने कहा - मैं चाय लाता हूँ। उसे न जाने कैसे विश्वास हो गया कि मैं छुआछूत नहीं मानता हूँगा। यद्यपि गर्मी में चलकर आने से मुझे ठंडा पानी अधिक पसंद था, किंतु तरुण के सत्कार को टुकरा नहीं सकता था। तरुण बहुत ही संस्कृत मालूम हुआ, कुछ पढ़ा भी था, भारत की राजनीतिक प्रगति की कुछ मोटी-मोटी बातें भी जानता था। सारनाथ, बोधगया भी एक से अधिक बार हो आया था। माँ चाय बनाने चली गयी और मैं तरुण से बातचीत करने लगा। मेरी दृष्टि उसके स्वच्छ-स्वस्थ प्रसन्न मुँह पर थी। कान और जीभ बात में लगे थे, लेकिन मन कभी-कभी अतीत की ओर चला जाता था। मेरे मन में कभी ख्याल उठा था - इन्हीं की भाँति निर्द्वन्द्व हो गदहा, खच्चर और तंबू लिए एक देश से दूसरे देश में घूमूँ। काश, मैं बीस बरस का हो जाता, फिर इसी तरुण से कहता - लो दोस्त! मुझे भी अपने परिवार में शामिल कर लो, खाने के लिए ही नहीं, अपने साथ काम करने के लिए भी, अपने दुःख-सुख में शामिल होने के लिए भी। माँ मैं तो हकीकी साझीदार नहीं बन सकता, किंतु पत्नी हमारी एक रहेगी और हम पश्चिमी तिब्बत से भारत तक ही नहीं विचरेंगे, बल्कि तिब्बत के महा-मैदान को पार करते सुदूरपूर्व खम् तक चलेंगे। रास्ते में दुर्गम पथ ही नहीं लाँघना पड़ेगा, बल्कि बंदूकधारी अश्वारूढ़ डाकुओं से भी मुकाबला करना पड़ेगा, किंतु मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। किंतु क्या पचपन साल से बीस साल के होने की औषधि दुनिया में प्राप्त हुई है?

अब खम्पा लोग ऊपर की ओर जा रहे थे। खानाबदोशी जीवन के बारे में पूछने पर तरुण ने कहा - जीवन तो कठिन है, किंतु उसे छोड़ कर बसते नहीं बनता। बसने पर आज की तरह की खान-पान की सामग्री जमा करना हमारे लिए संभव नहीं होगा। पश्चिमी तिब्बत में पहुँचते हैं वहाँ यथेष्ट मांस, मक्खन सुलभ होता है। यहाँ भी आस-पास के लोगों से अच्छा खाते हैं, अच्छा पहनते हैं, न ऊधो का लेना न माधो का देना। उसकी बात में सच्चाई थी, इससे कौन इंकार कर सकता था। चाड़,थाड़, (तिब्बत के निर्जन बयाबान) में चीनी और सिग्रेट कहाँ और यहाँ के गाँवों में रोज-रोज मक्खन-मांस कहाँ? तरुण बुद्ध-धर्म का भक्त था, बाह्यमणों के धर्म को सम्मान की दृष्टि से न देखता था और

हिंदी गद्य विविधा

साथ ही न जाने कहाँ से कम्युनिस्ट पार्टी का नाम भी जानता था। कांग्रेस की प्रशंसा करता था। कहता था, भोट में भी हांकिमों, जागीरदारों का जुल्म खतम होना चाहिए। हमारी बातचीत भोट भाषा में हो रही थी। जिसे उसकी माँ भी ध्यान से सुन रही थी। कनौरा दूकानदार चारपाई पर पड़ा हमारा मुंह देख रहा था और शायद एक भद्रवेषी (शुभ्र कुर्ता-धोतीधारी) पुरुष को भोटिया की चाय पीते आश्चर्य भी कर रहा था। आश्चर्य मेरे ही लिए, क्योंकि यद्यपि चिनी तहसील के बाहर के ये कनौरा ब्राह्मणों के जाल में फँस चुके हैं, किंतु लामा लोगों की मंत्र-शक्ति और सिद्धाई से लाभ उठाने से बाज नहीं आते। यह वस्तुतः रामखुदैया वाले लोग हैं!

दौलतराम कितनी ही देर बाद सिरदर्द लिये आये। उन्हें धीरे-धीरे शाम तक नचार तक पहुंचने के लिए कहकर हम आगे चले। अब चढ़ाई थी। धूप सीधे बायें से पड़ रही थी जिससे आड़ करने के लिए वृक्षों की छाया नहीं थी, पहाड़ वनस्पति-विहीन न था। चढ़ाई नरम इसीलिए मालूम हो रही थी कि हम दूसरे की पीठ पर थे। चढ़ाई दो मील रही होगी या ज्यादा, उसे पूरा करने के बाद अब हम अवश्य देवदारुओं के सुंदर वन में थे, सारे रास्ते का यह सुंदरतम भाग था। सारा पर्वतगात्र तुंग सरल सदाहरित देवदारुओं से ढँका था। अठारह-बीस खूँद का सुङ्गा गाँव यही है। इसी के पास किसी गुफा में वाणासुर की सुभार्या ने सात बहिन-भाइयों को जन्म दिया था जिनमें एक यहीं का मेशु है। इसके दूसरे दो भाई भावा और चगाँव (ठोलड़) के मेशु हैं और सबसे बड़ी बहिन चिनी के पास कोठी की देवी है जो सबसे होशियार निकली जिसने सभी भाई-बहिनों को चकमा देकर दाय-भाग का असली सार अपने हिस्से में कर लिया।

देवदारुओं के सघन वन में चलने में बड़ा आनन्द आ रहा था और घोड़े को मैं उसके मन से चलने दे रहा था।

23 मील की यात्रा पूरी करके साढ़े पाँच बजे हम नचार पहुँचे। नचार में पी.डब्लू.डी. का बँगला नहीं, बल्कि जंगल विभाग का बँगला था। बँगला सड़क से कुछ ऊपर है। घूमकर वहाँ पहुँचे। सहायक कंजर्वेटर ढिलन महाशय के पास ऊपर से चिट्ठी आ गई थी, किंतु उन्हें यह नहीं पता था कि मैं किस दिन पहुँच रहा हूँ। बँगला बड़ा और दो-तल्ला था, किंतु जान पड़ता था एक से अधिक परिवार वहाँ रहता था, इसलिए भरा-भरा-सा मालूम होता था। ढिलन साहब बड़े प्रेम से मिले। उनकी धर्मपत्नी ने भी नमस्ते करने में संकोच नहीं किया। अभी मुझे यह नहीं पता था कि ढिलन अपने कार्लेज (देहरादून) के सबसे मेधावी विद्यार्थी थे। बातचीत में यह तो मालूम हुआ कि वह अनुभव प्राप्त करने के लिए विदेश भी जा चुके हैं। पंजाबी जानकर मुझे कुछ खेद हुआ कि शायद उनका परिवार भी पंजाब के उन अभागे परिवारों में है, किंतु ज्ञात हुआ, वह जलंधर के रहने वाले हैं। गर्मियों में उनका दफ्तर नचार में रहता और जाड़ों में नीचे फल्लोर में। चाय

किन्नर देश की ओर

पीने के बाद वह हमें बागे में ले गए। अभी फलों के पकने में काफी देर थी, किंतु गिलास (चेरी) ने हमें खाली लौटने नहीं दिया। गोभी और दूसरी तरकारियाँ लगी हुई थीं। कुछ महीने बाद यह फल-तरकारी-सम्पन्न निवास होगा, किंतु अभी तो चीज़ों की कमी की शिकायत थी।

शाम हो रही थी और अभी दौलतराम का पता नहीं। मैंने दूसरा आदमी दौड़ाया। चिराग वाला जाने लगा, किंतु दौलतराम का अब भी पता नहीं। क्या सिरदर्द ने बुखार का रास्ता तो नहीं ले लिया? क्या वह पौंडा के डाकबंगले में तो नहीं रह गया? घोड़े वाले को लौटाते समय मैंने दौलतराम को जल्दी आने की ताकीद तो कर दी थी। मेरे पास कपड़ा मामूली था जो 7000 फूट की सर्द रात के लिए काफी नहीं था। ढिलन साहेब ने चादर दे दी, किंतु मेरी चिंता बढ़ रही थी। तीसरे आदमी को रास्ता देखने के लिए भेजने की बात हो रही थी, उसी समय किसी ने आकर कहा, खच्चर काफी दिन से ऊपर उतरने की जगह पहुँचे चुके हैं, खच्चर वाला रोटी बना रहा है। मैं नाहक डर और अपने को कोस रहा था - दौलतराम जरूर 105 डिग्री के बुखार में बेहोश होकर कहीं पड़ रहा और खच्चर मनमाने किसी ओर चले गये।

बंगला भरा हुआ था, इसलिए मुझे संकोच हो रहा था, मेरे आने में अवश्य दम्पति को कष्ट होगा। भोजनोपरांत गृहपति ने संकोच करते हुए कहा, एक दूसरा क्वार्टर है, वहाँ रहने में तो कष्ट होगा। लालटेन लिए वह उस मकान में ले गए। यद्यपि वह डाकबंगले जैसा तो नहीं था, किंतु काफी स्वच्छ था। नेवार का पलंग और मेज-कुर्सी भी थी। और क्या चाहिए? अभी तक ढिलन साहेब से ही बात होती रही, किंतु यहाँ बाबू अमीचन्द (पंगी बाबू) से भेंट हुई। उन्हें भी नेगी ठाकुरसेन का पत्र मिल चुका था। ढिलन साहेब ने तो कल के लिए घोड़ा मिलने में भारी संदेह प्रकट किया, लेकिन पंगी बाबू ने आशा दिलाई। मुझे कल के तीन मील के चढ़ाई के रास्ते की चिंता थी, बाकी सात-आठ मील की कोई पर्वा नहीं थी। अमीचन्द ने कहा, मैं स्वयं भी आपके साथ वाड़तू के बंगले तक चलूँगा, सौभाग्य से सड़क के इंस्पेक्टर बाबू लक्ष्मीनन्द आज वहीं ठहरे हैं, उनका घोड़ा मिल जाएगा। उड़नी की चढ़ाई की बात ने कुछ परेशानी पैदा कर दी थी, किंतु पंगी बाबू ने उसे हटा दिया और मैं रात को इत्मीनान से सोया। देर तक दिमाग तरह-तरह के ख्यालों में डूबा रहा। ढिलन साहेब ने बतलाया था - इधर भालू है, वह आदमी को कम किंतु गाय, भेड़, बकरी को मारकर खा जाते हैं। ज्यादातर काले भालू हैं, किंतु ऊपरी कंडों में भूरे भालू भी सुने जाते हैं। मेरी धारणा थी कि सिर्फ धुवकक्षीय सफेद भालू ही मछली खाते हैं जिसे हमारी बंगाली भाई भी जलतरोई कहते हैं, नहीं तो बाकी भालू पक्के वैष्णव होते हैं। यह घोर जंगल है। यहाँ कहीं आस-पास में यह परमशांत जंतु रात को घूमता-फिरता तो नहीं, और यदि कहीं इस बँगलिया की झाँकी करने आ जाए। नचार

हिंदी गद्य विविधा

जंगल के एक बड़े विभाग का केंद्र है, इसलिए यहाँ इस तरह के दर्जनों क्वार्टर बने हैं, फिर जांबवान हमारे ही कमरे को खासतौर से क्यों पसंद करेंगे? अंत में नींद आ गई, जांबवान् स्वप्न में भी नहीं आये।

19 मई को सवेरे ही उठे। शौच, मुँह धो-धाकर ढिलन साहब के यहाँ चाय पी। स्नान की बात मत पूछिए। सप्ताह में एक बार स्नान मैं यहाँ के लिए पर्याप्त समझता हूँ, नहीं तो हिमालय की पवित्र वायु का माहात्म्य ही क्या रहेगा? बाबू अमीचन्द के साथ नीचे उतरने लगे। नचार से तीन मील वहतू के पुल तक उतराई ही उतराई। और उतराई भी कठिन है जो इस वक्त तक बुरी नहीं थी, किंतु लौटते समय चढ़ाई बनकर दाँत खट्टे करने लगेगी। थोड़ा ही उतरने पर अब पहाड़ भी नग्नप्राय, नदी पार तो और भी। डाक बँगला सतलुज के पुल से कुछ ऊपर है और उससे भी पहिले ही खड्ड (नदी) मिली जिसका पानी नचार से चिनी तक रोपवे (तारगाड़ी) होने के समय बिजली बनाने के लिए उपयोगी साबित होगा, यद्यपि हिमपात-क्षेत्र की सारी खड्डें जाड़ों में हिमानी टूटने का मार्ग बन जाती है जिससे बचने के लिए पानी को बगल में ले जाकर वहाँ सुरक्षित जगह में पावरहौस (शक्तिभवन) बनाना होगा।

वाड्तू बँगले पर कोई घण्टे भर में पहुँचे गए। अब आठ मील और रहते थे। सड़क इंस्पेक्टर बाबू लक्ष्मी मौजूद और घोड़े का मिलना भी निश्चित, इसलिए विश्राम करने के लिए काफी समय था। इंस्पेक्टर साहब ने खाने के लिए कहा, किंतु अभी कल का ही भोजन पच नहीं पाया था। ठण्डा पानी पीना चाहता था और यहाँ के चश्मे के शीतल-मधुर जल को अमृत कहना अत्युक्ति न होगी। बँगले के आस-पास ऊँची-ऊँची जमीन है। उसमें से कुछ को फलों की बगिया और तरकारी की क्यारियों में परिणत किया जा सकता है, किंतु उसके लिए शोक और उत्साह किसे? दो-तीन चूली (खूबानी) के दरख्त थे जो अनाथ से मालूम होते थे।

चार घण्टे के विश्राम के बाद चलने का निश्चय हुआ। बाबू लक्ष्मीनन्द साथ चले और बाबू अमीचन्द लौट गए। थोड़ी उतराई के बाद सतलुज की धार पर वाड्तू का लोहे का पुल आया। अब तो रामपुर से तिब्बत की सीमा तक सतलुज पर कई लोहे के पुल बन चुके हैं, किंतु अभी पिछली सदी के मध्य में भी उनका अभाव था। उस समय घास के रस्से के झूले हुआ करते थे, चार रस्सों के जोड़े-जोड़े ऊपर-नीचे, उनके दोनों सिरों को रस्सों से नीचे के रस्सों से बाँधा गया होता और फिर नीचे के दोनों रस्सों के बीच पतली पटरियों को रस्सों से फँसा रक्खा जाता था। आदमी के चलने पर यह रस्से हिलते थे। नीचे पैरों तले नदी का खौलता पानी चमकता था। खैर, आदमी तो वानरों की संतान है, बेचारी भेड़-बकरियों के लिए उन पर चलना बहुत कठिन था। वाड्तू का पुल खूब दृढ़ लोहे का पुल है। यह न हिलता, न नीचे पाताल दिखलाई पड़ता।

किन्नर देश की ओर

पुल समुद्र-तल से 5200 फुट पर है। आस-पास की अपेक्षा इसे गरम स्थान कह सकते हैं। पुल पार हो अब हमें सतलुज के दाहिने तट से चलना था। कुछ ही दूर आगे चलने पर बाईं ओर से भाबा की खड्ड गरजती हुई सतलुज में समा रही थी। इस खड्ड में दो-तीन गाँव हैं और इसके किनारे-किनारे आगे जोत टपकर स्पिती में पहुँचाया जा सकता है। लोग आते-जाते भी रहते हैं, किंतु स्पिती के लिए सड़क यहाँ से नहीं, भारत के अंतिम गाँव नमृग्या के पास से निकाली जा सकती है जहाँ स्पिती नदी स्वयं आकर मिलती है। अभी हमें स्पिती से काम नहीं था, तो भी स्पिती को भुलाया नहीं जा सकता। सौ बरस पहिले स्पिती लद्दाख का भाग था - स्पिती वाले भोट भाषा बोलते हैं। लद्दाख को काश्मीर ने ले लिया, स्पिती किसी मालिक की खोज में थी। अंग्रेजों की कृपादृष्टि पड़ी, किंतु इलाका छोटा, सर्दी कठोर, आमदनी नहीं के बराबर, उसका शासन कैसे किया जाए? 1864 के आस-पास एक अंग्रेज अफसर भेजा गया इस धारणा के साथ, कि शासनयंत्र सबसे सस्ता होना चाहिए। अफसर ने लद्दाख के राजसेवकों में से एक को ब्रिटेन की ओर से शासक नियुक्त करने की सिफारिश की। तब से वही नोनोवंश स्पिती का बेताज का बादशाह है। कभी-कभी कुल्लू का असिस्टेंट कमिश्नर सैर-शिकार के लिए पहुँच जाता, नहीं तो स्पिती वाले अपने भाग्य पर छोड़ दिए गए थे। आज वह भारत के नक्शे के भीतर है, किंतु स्पिती वालों के लिए कोई परिवर्तन नहीं, और, जब तक वह पंजाब के हाथ में है, तब तक कुछ होगा भी नहीं। वस्तुतः काँगड़े के लाहुल-स्पिती वाले तिब्बती-भाषा-भाषी इलाकों की भलाई इसी में है कि उन्हें हिमाचल प्रदेश में मिला दिया जाए और कनोर के हड़, रड़, -जैसे भोट-भाषा-भाषी इलाके की शिक्षा और संस्कृति संबंधी योजना में सम्मिलित होने का अवसर दिया जावे।

भाबा-खड्ड को पुल से पार हो हम आगे बढ़े। आगे सतलुज एक विशाल पर्वत को तिरछे काटकर निकलती है, यद्यपि लाखों वर्ष संघर्ष करके पर्वत ने सतलुज से पराजय स्वीकार की, किंतु समुद्र से आने वाले बादलों के रास्ते को रोकने के लिए वह अब भी काफी सबल है। यहाँ से नीचे तर इलाका है और ऊपर सूखा है। जहाँ नीचे वर्षा डटकर होती है, वहाँ ऊपर 25 इंच और 15 इंच तक रह जाती है। बादलों का दल बड़े वेग से चलता है, किंतु पर्वत-गात्र से टकराकर बहुतों को निष्फल-मनोरथ होना पड़ता है। पतले मार्ग से जो कुछ भीतर घुस पाते हैं, उनमें भी कितने ही आगे सतलुज की भूल-भुलैया छोड़ उसकी परिचारिका बस्या का रास्ता लेते हैं। इस प्रकार वर्षा के संबंध में बस्या वाले चिनी से अधिक सौभाग्यशाली है, किंतु साथ ही सूखे जलवायु के फल जितने अच्छे चिनी में होते हैं, उतने बस्या में नहीं। अंगूर तो बस्या में वर्षा के मारे फट जाता है, इसलिए लोग उसका बाग नहीं लगाते।

हिंदी गद्य विविधा

चार मील के करीब रास्ता सतलुज के पास-पास से चला और बहुत कुछ समतल-सा समझिए। नदी पार छोलटू का जंगलीय डाकबंगला दिखाई पड़ा। डिलन साहेब ने सिफारिश की थी, रात वहाँ बिताने की। वह गरम स्थान है, इसलिए साग, तरकारियों और फल भी चिनी से और नचार से भी काफी पहिले तैयार हो जाते हैं। बँगले के घेरे में तरकारियों की क्यारियाँ भी दिखाई देती थीं, किंतु कौन सड़क छोड़ पुल पार हो वहाँ जाए। अंत में हम टापरी (कुटिया) पर पहुँचे। यहाँ डाक ढोने वाले ठहरा करते हैं, दूसरे भी आवश्यकता पड़ने पर ठहर सकते हैं। तीन-चार कोठरियाँ हैं। वाड़तू के इस पार वर्षा की कमी से जंगल की उत्तनी इफरात नहीं है। देवदारु भी यहाँ के उतने ऊँचे नहीं होते और बहुत रक्षा की अपेक्षा रखते हैं। तो भी काष्ठ दुर्लभ नहीं है, इसलिए टापरी बनाने में काठ की साखर्ची से काम लिया गया है। टापरी पहुँचने से पहिले ही इंस्पेक्टर सड़क में लगे अपने काम को देखने लगे और साईस के साथ मैं घोड़ी पर आगे चला। घोड़ी पतली-दुबली-सी मालूम हुई। डर लगने लगा, कहीं चढ़ाई में धोखा न दे। टापरी में साईस ने चिलम भरी। चौकीदार कनेत (राजपूत) था, इसलिए कोली उससे दूर से आग लेकर अलग ही चिलम पीने लगा। मैंने 26 महीने बाद सिगरेट का व्रत लंदन में तोड़ा था और फिर 6 महीने के बाद मध्य फरवरी से उसके पास नहीं फटकता था। सिगरेट अतिथि-सेवा का बहुत उपयोगी उपकरण है, किंतु जो स्वयं नहीं पीता, वह सेवा करने के लिए ढोये उसे नहीं फिर सकता। यदि पीता होता, तो गन्दी टापरी में साईस के चिलम पीने के लिए रुकना नहीं पड़ता। मुझे कुछ-प्यास लग आई थी, किंतु मटमैले पानी का रंग देखते वह भाग गई।

अब यहाँ से प्रायः 3 मील चढ़ाई ही चढ़ाई थी। उड़नी में 7500 फुट पर पहुँचना था। सड़क घूम-घुमौआ थी जिसके किनारे खेत भी आने लगे। यह चगाँव के खेत थे जिसके पग्रामड, राजग्राम और ठोलड, कई नाम हैं। यहाँ कहीं चाँदी की खान बतलाई जाती है, किंतु न जाने किस युग से देवता ने बंद कर रखा है। कुछ सफेद-सा पत्थर मेरे पास पीछे लाया गया, किंतु उसमें भारीपन नहीं, यदि चाँदी होगी भी तो बहुत कम। पग्रामड, खुद किन्नर देश के सात खुंदों (इलाकों) में एक है, राजग्राम इसे इसीलिए कहा गया कि पहिले यहाँ कोई राजा या ठाकुर रहता था। चगाँव चार गाँव का संक्षेप बतलाया जाता है। खेत वैसे बहुत दूर तक फैले हुए हैं, किंतु पानी उनके लिए पर्याप्त नहीं है। पानी सारे ऊपरी किन्नर देश की समस्या है जिसे हल करने के लिए बड़ी योजना और लाखों रुपयों की आवश्यकता है जो दसगुना, बीसगुना होकर लौट आयेगा, इसमें संदेह नहीं, किंतु ऐसी बहुधन-साध्य योजनाओं को हिमालय प्रदेश कैसे पूरा कर सकेगा, जबकि उसके शरीर के बड़े भाग को काटकर उसे 10 लाख की आबादी का एक जिला रखा दिया गया है।

किन्नर देश की ओर

घोड़ी दुबली-पतली जरूर थी, किंतु उसके बारे में मेरी शंका निर्मूल साबित हुई। वह धीरे-धीरे, किंतु दृढ़तापूर्वक ऊपर चढ़ती गई और शाम से बहुत पहिले 125वें मील पर उड़नी के डाकबंगले पर पहुँच गई। दौलतराम वाड़तू में रुके नहीं थे, इसलिए वह पहिले ही वहाँ पहुँचे चुके थे। पी.डब्लू.डी. का डाक बँगला, दो अच्छे कमरे, सब तरह का आराम। पास तो जंगलात का था, किंतु ठहरे बिना चारा न था। सवेरे की चाय और वाड़तू की एक गिलास लस्सी के बाद अब यहाँ भूख लग आये, तो आश्चर्य क्या? किंतु वहाँ तैयार भोजन कहाँ था। मीठे बिस्कुट से परहेज और फीके से प्रेम नहीं। दो चम्मच लूकस फाँकने से क्या काम चलता? मेवों के देश आ गए थे। अंगूर की लता थी। यद्यपि फलों के पकने में अभी देर थी, किंतु सोचा कोई सूखा फल मिल जाएगा। दूढ़ने पर मेट ने न्योजा (चिलगोजा) लाकर दिया। न्योजा का वृक्ष देवदार जाति का है, किंतु उसकी छाल सूखकर लिपटी रहने की जगह साँप की तरह बराबर केंचुल छोड़ती रहती है जिससे उसका तना और शाखाएँ सफेद या हरी-सी बनी रहती है। इन पर ही मोरकुकुट या बड़े कमलगट्टे-सा नोकदार पाँच-छह अंगुल बड़ा फल लगता है। पक जाने पर फलों में से कमलगट्टे की तरह भीतर से पतले और लम्बे-लम्बे छिलकेदार दाने निकलते हैं। इन्हें भून लिया जाता है और छिलका निकालकर खाया जाता है। न्योजा में बादाम की तरह तेल भरा रहता है, खाने में भी अच्छा लगता है। किन्नर के गरीबों का यह एक बड़ा आधार है, यह कह तो सकते हैं, किंतु अब महंगा होने से लोग इसे बेच डालने का अधिक ध्यान रखते हैं। न्योजा के वृक्ष हिमालय में सिर्फ इसी जगह होते हैं, पेशावर के उत्तर के पहाड़ों में न्योजा की दूसरी उद्गम-भूमि है। मान्य अतिथि के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते लोग ऊर्णासूत्र में गुंथी न्योजा की माला गले में डालते हैं। न्योजा के गुण तो बहुत हैं, किंतु उसके फलों को चुनने में आज तक न जाने कितने हजार आदमियों ने जान गँवाई होगी। वह बाग के वृक्ष नहीं, दूसरोह पर्वतों के स्वयंभू पादप हैं और आदमी चाहता है, किसी वृक्ष का फल छूटने न पाये। मेट ने न्योजा दिया। छीलकर खाया, चना छीलकर खाने जैसा समझिए, किंतु वहाँ दूसरा काम क्या था? बँगले के चौकीदार का कहीं पता न था, आखिर वह गाँव का रहने वाला था, उसके और भी घर के काम थे। मेट ने चाय ही नहीं, रोटी भी बनाकर खिलाई। यहाँ दोनों खच्चरों पर छह रुपये घास के लगे, और आटा सवा रुपया सेर।

एक मिडिल तक पढ़े तरुण ने स्कूल और डाकखाना के अभाव की शिकायत की। दस मील की चढ़ाई-उतराई करके लड़के नदी पार किल्बा में पढ़ने नहीं जा सकते, चिनी और नचार और भी दूर है। मैंने लड़के को इसके लिए आवेदन-पत्र लिखवा दिया। हिमाचल प्रदेश में स्कूल और डाक को बहुत फैलाने की जरूरत है।

21 . रांगेय राघव और 'अदम्य जीवन'

जीवन-परिचय

रांगेय राघव का जन्म राजस्थान के एक कस्बा बरौली में 17 जनवरी 1923 को हुआ था। उनके पूर्वज दक्षिण भारत से वहाँ आये थे। उनके पिता श्री रंगाचार्य तमिल और संस्कृत के विद्वान थे। वे काव्य और काव्यशास्त्र में गहरी अभिरुचि रखने वाले व्यक्ति थे। रांगेय राघव का वास्तविक नाम तिरुमल्ले नाम्बकम वीर राघवाचार्य था।

रांगेय राघव की ज्यादातर पढाई आगरा में हुई थी। उन्होंने विक्टोरिया स्कूल आगरा से अपनी शिक्षा शुरू की। सेंट जॉन कालेज से अंग्रेजी के साथ दर्शन और अर्थशास्त्र लेकर स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् 1943 में उन्होंने हिंदी से एम.ए. किया। 1948 में उन्होंने 'भारतीय मध्ययुग के संधिकाल का अध्ययन : गोरखनाथ और उनका युग' विषय पर प्रो. हरिहरनाथ टंडन के निर्देशन में शोधकार्य संपन्न किया। विश्वविद्यालय की उच्चतम शिक्षा प्राप्त करके भी उन्होंने अध्यापन का कार्य नहीं किया। स्वतंत्र लेखन का पेशा ही उन्होंने अपनाया। उनकी एकमात्र आकांक्षा अपने को लेखक के रूप में प्रतिष्ठित करने की थी।

सन् 1956 में उनका विवाह सुलोचना के साथ हुआ। उन्होंने सुलोचना को पढाया और उसे आत्म निर्भर बनाने का प्रयास किया। 1960 में रांगेय राघव सपरिवार जयपुर आ गए। वहाँ उनके गर्दन पर फोड़ा हो गया जिसके इलाज के लिए वे बीच-बीच में आगरा जाते रहे। बाद में डॉक्टर इसी नतीजे पर पहुँचे कि उन्हें रक्त कैंसर है। बंबई के टाटा इंस्टीट्यूट में 12 सितम्बर 1962 को उनका निधन हो गया। मात्र 39 वर्ष की अवस्था में उनका स्वर्गवास हो गया था।

साहित्यिक योगदान

अल्पायु में निधन हो जाने के बावजूद रांगेय राघव ने विपुल मात्रा में साहित्य रचना की। रांगेय राघव की सृजन यात्रा चित्रकला से प्रारंभ हुई थी। साहित्य में उनकी ऊर्जा का प्रथम विस्फोट गीतकार के रूप में हुआ। वस्तुतः कविता के प्रति उनमें गहरा आकर्षण था। संभवतः उनकी महत्वाकांक्षा भी एक कवि के रूप में ही अपने को प्रतिष्ठित करने की थी। उनके द्वारा रचा गया काव्य 'अजेय खंडहर' नात्सी आक्रमण के विरोध में

सोवियत जनता के संघर्षपूर्ण प्रतिरोध की महागाथा है। 'अजेय खंडहर' के बाद 'पिघलते पत्थर' उनकी महत्वपूर्ण रचना है। 'माधवी' (1947) को उन्होंने जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' की शैली में लिखा था। इस काव्य में रांगेय राघव ने मानव विकास की वैज्ञानिक अवधारणा को प्रस्तुत करने की कोशिश की है। 'माधवी' आदिम साम्यवादी समाज से समाजवादी समाज तक की विकास यात्रा का संकेत दे पाने की दृष्टि से सफल रही है। 'राह के दीपक' का रचनाकाल 1948 है। 'पांचाली' (1955) में वे स्त्री अस्मिता को एक नये कोण से देखने की कोशिश करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने 1956 में 'रूपछाया' की रचना की।

रांगेय राघव की सबसे ज्यादा चर्चा उनके उपन्यासों और कहानियों के कारण हुई है। उनका पहला उपन्यास 'घरौंदा' (1946) था। अपने उपन्यासों में रांगेय राघव ने समाज की अनेक समस्याओं को चित्रित किया है। उनके प्रमुख उपन्यास निम्नलिखित हैं : 'मुर्दों का टीला' (1948), 'सीधा सादा रास्ता' (1951), 'हुजूर' (1951), 'प्रतिदान' (1952), 'अंधेरे के जुगनू' (1953), 'काफी' (1953), 'उबाल' (1954), 'यशोधरा जीत गयी' (1954), 'लोई का ताना' (1954), 'रत्ना की बात' (1954), 'भारती का सपूत' (1954), 'आँधी की नींवे' (1955), 'अंधेरे की भूख' (1955), 'बोलते खंडहर' (1955), 'कब तक पुकारूँ' (1957), 'पक्षी और आकाश' (1957), 'बौने और घायल फूल' (1957), 'लखिया की आँख' (1957), 'राई और पर्वत' (1958), 'बंदूक और बीन' (1958), 'धूनी का धुआँ' (1959), 'छोटी सी बात' (1959), 'पथ का पाप' (1959), 'मेरी भवबाधा हरो' (1959), 'घरती मेरा घर' (1960), 'आग की प्यास' (1961), 'कल्पना' (1961), 'प्रोफेसर' (1961), 'दायरे' (1961), 'पतझर' (1961) तथा 'आखिरी आवाज़' (1962)।

रांगेय राघव के ऐतिहासिक उपन्यासों की विशेषता यह है कि वे उनके माध्यम से अतीत की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। वे अतीत की घटनाओं की व्याख्या तत्कालीन सामाजिक संदर्भ में करते हैं। वे अपने जीवन दर्शन को विशाल सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर देखते हैं।

रांगेय राघव की कहानियों में समकालीन सामाजिक, राजनीतिक हलचल मौजूद है। पाँचवें दशक में भारत छोड़ो आंदोलन, बंगाल का अकाल, मज़दूरों की देशव्यापी हड़तालें, सरकारी दमन, सांप्रदायिक तनाव और देश विभाजन आदि की घटनाएँ घटीं। इस समूचे दौर में रांगेय राघव ऐसे कथाकार के रूप में सामने आते हैं, जो अंतर्वस्तु की मौलिकता के साथ-साथ शैलीगत प्रयोग बहुलता के कारण कहानी के उपलब्ध चौखटे को झकझोरते और तोड़ते दिखाई देते हैं। सभ्यता के संपूर्ण विकास को आकलित कर सकने के लिए उन्होंने गाथाओं को अपना आधार बनाया। उनकी कहानी में गहरे स्तर पर नाटकीयता है। रांगेय राघव के कहानी संग्रह निम्नलिखित हैं : 'साम्राज्य का वैभव'

हिंदी गद्य विविधा

(1947), 'देवदासी' (1947), 'समुद्र के फेन' (1947), 'अधूरी मूरत' (1949), 'जीवन के दाने' (1949), 'अंगारे न बुझे' (1951), 'एय्याश मुर्दे' (1953), 'इंसान पैदा हुआ' (1957), 'पाँच गधे' (1960) तथा 'एक छोड़ एक' (1963)। इसके अतिरिक्त उन्होंने दो गाथाओं की रचना की : 'महायात्रा : भाग-1' (अंधेरा रास्ता) (1960) और 'महायात्रा : भाग-2' (रैन और चंदा) (1964)।

रांगेय राघव ने नाटक भी लिखे। उनके द्वारा लिखित तीन नाटक निम्नलिखित हैं : 'स्वर्गभूमि का यात्री' (1951), 'रामानुज' (1952) और 'विरुद्धक' (1955)। उनके नाटक रंगमंच की दृष्टि से सफल नहीं थे।

रांगेय राघव सिर्फ रचनाकार नहीं थे। रचनात्मक लेखन के साथ-साथ विचार और शोध के क्षेत्र में भी उनकी रुचि वैविध्यपूर्ण थी। हिंदी के प्रगतिशील आंदोलन में वे सक्रिय रूप से शामिल थे। लेकिन उनकी राजनीतिक समझ न तो यांत्रिक थी और न ही संकीर्णतावाद से ग्रस्त थी। वे मानवीय संवेदना को सबसे ऊपर स्थान देते थे और इसीलिए वे हर तरह की जड़बद्धता और रूढ़िवाद के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। उनके रचनात्मक लेखन को ही नहीं आलोचना लेखन को भी इसी नज़रिए से देखने की ज़रूरत है। उनकी प्रमुख आलोचना पुस्तकें निम्नलिखित हैं : भारतीय संत परंपरा और समाज (1949), संगम और संघर्ष (1953), भारतीय परंपरा और इतिहास (1953), प्रगतिशील साहित्य के मानदंड (1954), समीक्षा और आदर्श (1955), काव्य : यथार्थ और प्रगति (1955), काव्य कला और शास्त्र (1955), आधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और श्रृंगार (1961), आधुनिक हिंदी कविता में विषय और शैली (1962), और गोरखनाथ और उनका युग (1963)।

रांगेय राघव के लेखन के महत्व को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता जब तक कि हम उनके द्वारा लिखे रिपोर्टाज का उल्लेख नहीं करते। 1942-44 के आसपास बंगाल में पड़े भयावह दुर्भिक्ष के समय उन्होंने एक चिकित्सा दल के साथ यात्रा की थी और वहाँ के हालात पर रिपोर्टाज लिखे थे जो 1946 में 'तूफानों के बीच' के नाम से प्रकाशित हुए। इनको पढ़ने के बाद किसी भी पत्थर दिल व्यक्ति का हृदय भी पसीजे बिना नहीं रह सकता। रांगेय राघव ने सोफोक्लीज, शेक्सपीयर, गाल्सवर्दी जैसे महान् रचनाकारों के नाटकों का हिंदी में रूपांतरण भी प्रस्तुत किया और इस तरह हिंदी के कोष को समृद्ध किया।

रचना के बारे में

'तूफानों के बीच' बंगाल के अकाल के विषय में लिखे हुए रिपोर्टाजों का संग्रह है। 1942-44 के दौरान पड़े इस आकाल में लाखों लोग भुखमरी की वजह से मर गए। इस रिपोर्टाज संग्रह का प्रकाशन पहली बार 1946 में हुआ था। बंगाल के इसी अकाल से

प्रभावित होकर प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० अमर्त्य सेन ने अर्थशास्त्र को सामाजिक कल्याण से जोड़कर देखने का सिद्धांत प्रस्तुत किया जिस पर उन्होंने नोबेल पुरस्कार प्राप्त किया।

बंगाल के भीषण अकाल में आगरा से प्रगतिशील लेखक संघ के तत्वावधान में डॉ. कुण्डे के नेतृत्व में डॉक्टरों का एक दल पूर्वी बंगाल भेजा गया था। रांगेय राघव की उम्र उस समय उन्नीस वर्ष की थी और वे विद्यार्थी ही थे। वे इस दल के साथ रिपोर्टर की हैसियत से भेजे गए थे। पूर्वी बंगाल में भयानक विनाश का जो दृश्य उन्होंने देखा, उसे उन्होंने बहुत संवेदनशील ढंग से 'तूफानों के बीच' के रिपोर्टार्जों में अंकित किया है। 'अदम्य जीवन' नामक रिपोर्टार्ज जो आपके पाठ्यक्रम में शामिल है, इसी पुस्तक से लिया गया है।

इन रिपोर्टार्जों की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि लेखक के आगे इस बात को लेकर कोई भ्रम नहीं है कि यह अकाल प्राकृतिक आपदा नहीं था, साम्राज्यवादी उत्पीड़न का एक हिस्सा था। बंगाल की इस भुखमरी को वे इस देश की परतंत्रता से जोड़कर देखते हैं। जनता की महान शक्ति और नये साहस पर उन्हें गहरा विश्वास है। औपनिवेशिक शक्तियों ने बंगाल का बार-बार शोषण किया। लेकिन वे जनता के साहस-और विश्वास को तोड़ने में नाकामयाब रहे। बंगाल के लोगों में प्रतिरोध की क्षमता अधिक थी। उनमें अपनी धरती के प्रति गहरा लगाव था। इसीलिए वे बड़े से बड़े कष्टों को झेल जाने की क्षमता रखते हैं। व्यवस्था की अमानवीयता के कारण एक पूरा प्रदेश कृत्रिम अकाल की चपेट में आ गया था। इस रिपोर्टार्ज का सबसे बड़ा महत्व लेखक की अदम्य मानवीय शक्ति में आस्था है।

जैसा कि कहा जा चुका है, इस पाठ्यक्रम में 'तूफानों के बीच' का 'अदम्य जीवन' रिपोर्टार्ज शामिल है। जैसा कि विदित है कि रिपोर्टर के रूप में लेखक चिकित्सक दल के साथ पूर्वी बंगाल के अकाल का जायजा लेने के लिए गया था। प्रारंभ में लेखक अकाल से ग्रसित बंगाल की प्रकृति का वर्णन करता है। फिर गाँव की वीरानी का। दोनों चीज़ की टकराहट एक बड़ी नाटकीय स्थिति पैदा करती है। पुनः लेखक तूफान की चपेट में आये लोगों की गरीबी और बेबसी का मार्मिक वर्णन करता है। वहाँ के लोगों में इस गरीबी में भी कितनी भावनापूर्ण आत्मीयता है इस बिंदु को छूकर लेखक हृदय छू लेता है।

लेखक वहाँ के निवासियों के रहन-सहन और अकाल के कारण उसमें आए परिवर्तनों का लेखा-जोखा लेता है। मृत्यु के बार-बार प्रतिघात ने वहाँ के मनुष्यों को कितना जड़ और संवेदनहीन बना दिया है, इसको बहुत गहराई से लेखक ने महसूस किया है। सत्ता से जुड़ी ताकतें किस तरह राहत के लिए आए धनमाल को बीच में ही हड़प कर जाती है, लेखक ने इसका भी वर्णन किया है। इन भयावह अमानवीय स्थितियों के बीच भी अपनी

हिंदी गद्य विविधा

मनुष्यता को बचाए रखने की कोशिश करते वे लोग लेखक को यह कहने के लिए मज़बूर करते हैं कि 'मानवता जीवित रहना चाहती थी। उसे कोई मिटा नहीं सकता।'

रांगेय राघव के इस रिपोर्टाज की सबसे बड़ी शक्ति उसकी भाषा है। यह संवेदना की भाषा है। बंगाल के लोगों के दुःख और अभाव को लेखक ने आत्मीय संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है। यथार्थ की शक्ति ने भाषा में कहीं-कहीं व्यंग्य पैदा किया है। भाषा में आक्रोश का स्वर भी सुनाई पड़ता है। लेखक ने छोटी-छोटी घटनाओं के वातावरण में अपने अंतर्वेगों द्वारा पाठकों को प्रभावित किया है। इस रिपोर्टाज की शैली फिल्म कला से प्रभावित है। वे हमारे सामने एक के बाद दूसरा दृश्य प्रस्तुत करते हैं। कभी लॉग शॉट से, कभी मिडशॉट से तो कभी क्लोज अप के रूप में। एक दृश्य दूसरे दृश्य में डिजाल्व होता है तो कभी फेड इन और फेड आउट का प्रयोग किया गया है। इस शैली ने उनके रिपोर्टाज को जीवंत और गतिशील बना दिया है और शिल्प की दृष्टि से वह उत्कर्ष रचना के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है।

शब्दावली

नीरवता : जहाँ किसी भी तरह की आवाज़ न हो, एक तरह से सन्नाटा।

कालनेमि : रावण का मामा और एक राक्षस था, जिसने स्वर्ग पर अधिकार कर लिया था।

मर्मर : आवाज

अर्गला : वह लकड़ी जिसे किवाड़ बंद करके पीछे से आड़ी लगा देते हैं ताकि दरवाजे को धकेलकर बाहर से न खोला जा सके।

तवज्जह : ध्यान देना

खैराती अस्पताल : ऐसा अस्पताल जो गरीबों के लिए दान के धन से चलाया जाता है।

फासिस्तवाद : यूरोप में दूसरे विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी में प्रचलित एक राजनीतिक दर्शन जिसमें नस्लवाद और तानाशाही को आधार बनाया गया था। हिटलर का शासन इसी फासीवाद के दर्शन पर टिका था।

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. वास्तव में हमें कोई भी रोता नहीं दिखा। सब मानो अपने-अपने काम में लगे थे। मैंने देखा, डॉक्टर चुपचाप घरों की ओर देख रहा है। बांस के सुंदर-सुंदर झोंपड़े! सदियों से बंगाल - हम लोगों - पर बार-बार बाहरी हमले हो रहे, मगर आक्रमणकारी कभी भी यहाँ की शस्य-श्यामला पवित्र भूमि को नहीं रौंद सके। यहाँ मनुष्य को इतना समय मिल चुका था कि वह बैठकर आराम से इतने सुंदर और स्वच्छ घर बना सकता। और आज वही घर निर्जनता की अर्गला लगाए मूक खड़े थे! अकाल ने उनपर अपनी जो वीभत्स छाया डाली थी, उसका धुंधलका अभी तक भी मानो कानों में छिपा बैठा था।

अदम्य जीवन

2. मैं देख रहा था, जिनके शरीर में केवल हड्डियाँ ही शेष थीं आज भी उनमें जीवित रहने का साहस था। अकाल आया, बीमारी आई और फिर दूसरे अकाल की गहरी आंधी भी क्षितिज पर सिर उठाने लगी है, किंतु अविचलित हैं यह! किसलिए? इसीलिए न कि वह जनता किसी से भी दब नहीं सकती। एक दिन विजेताओं ने इन्हें कुचला था, आज भी मनुष्य का स्वार्थ और भीषण व्यापार इन्हें निचोड़ रहा है, किंतु यह तो अभी तक अदम्य, अविजेय हैं!
3. उसका यह प्रश्न उसका अपना नहीं था। उसने अनजाने नहीं, जानबूझकर ही उंगली उठाई थी उधर, जिधर मनुष्य को नंगा रखकर मनुष्य ने अपने मुनाफों के लिए बेशुमार कपड़ा तालों में बंद कर रखा था, जहाँ वस्तु मनुष्य के लिए न होकर पैसे के लिए थी। कितना बड़ा व्यंग्य और विद्रूप था यह कि आज कपड़ा बनानेवाले स्वयं नंगे थे!
4. तब तो बंगाल अभी जीवित है! आज भी वह अपना रास्ता खोज निकालना जानता और चाहता है। भूख से व्याकुल होकर भी यह भारत का संस्कृति-जनक सिर झुकाने को तैयार नहीं है। आज भी वह इन सब आंधी-तूफानों को झेलकर फिर से विराट रूप में फूट निकलना चाहता है। सचमुच कोई इनका कुछ नहीं कर सकता। यदि जनता में चेतना है, तो इन्हें भूखों मारनेवाले नर-पिशाच नाज-चोरों का अंत दूर नहीं है।

व्याख्या का उदाहरण

गर्व से मेरी छाती फूल उठी। कौन कहता है कि बंगाल मर गया है? जहाँ भूख और बीमारियों से लड़कर भी मनुष्यों के बालकों में क्रांति को चिरजीवी रखने का अपराजित साहस है, वह राष्ट्र कभी भी नहीं मर सकेगा। हड्डी-हड्डी से लड़नेवाले यह योद्धा जीवन की महान शक्ति को अभी तक अपने में जीवित रख सके हैं। संसार कहता है, स्टालिनग्राड में लोग खंडहरों में से लड़े थे और उन्होंने दुश्मन के दांत खट्टे कर दिए। उन्होंने बर्बरता की धारा को रोककर रूस को गुलाम होने से बचा दिया। किंतु मैं पूछता हूँ, क्या शिद्धिरगंज दूसरा स्टालिनग्राड नहीं?

संदर्भ-संकेत

रांगेय राघव का बहुआयामी व्यक्तित्व साहित्य, राजनीति और संस्कृति की व्यापक परिधियों को छूता है। वे अपने युग की घटनाओं के प्रति बड़े ही सतर्क और संवेदनशील सर्जक थे। बंगाल का अकाल मानवीय इतिहास का एक घृणास्पद अध्याय है। इस अकाल में लाखों-लाख लोग मारे गए थे। यह अकाल प्राकृतिक आपदा नहीं था। साम्राज्यवादी

हिंदी गद्य विविधा

शोषण की नीतियों का खुला तांडव था। लेखक ने गहरी संवेदना के साथ अकाल के बड़े दर्दनाक चित्र अपने रिपोर्टाज में पेश किए हैं।

'तूफानों के बीच' रांगेय राघव का बंगाल के अकाल पर लिखित रिपोर्टाज है। 'अदम्य जीवन' 'तूफानों के बीच' का ही एक रिपोर्टाज है। इसमें मनुष्य के साहस में गहरी आस्था रखने वाले रचनाकार ने उस मानवीय जिजीविषा और संघर्ष की प्रशंसा की है जो हमेशा विभीषिकाओं पर विजयी होती आई है।

व्याख्या-संकेत

बच्चों के मुँह से 'इन्कलाब' जिदाबाद' के नारों को सुनकर लेखक में आशा जगती है। मनुष्य बीमारी और गरीबी से लड़कर भी अपनी जिदगी को बेहतर बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। बालकों में क्रांति के लिए अदम्य साहस है। बालक राष्ट्र का भविष्य होता है। भविष्य में यदि क्रांति की पुकार शेष है, तो उस देश का अनिष्ट नहीं हो सकता। उस का उदहारण देकर लेखक अपनी बात को और भी अधिक प्रामाणिक ढंग से रखता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान रूस को अपनी स्वतंत्रता बचाने के लिए बहुत बड़े मूल्य चुकाना पड़ा था। सोवियत-रूस के लोग अभाव में भी पूरे साहस के साथ लड़े और जर्मनी को उन्होंने अपने देश से खदेड़ डाला। अपने देश की प्रतिष्ठा और सिद्धांत के प्रति निष्ठा के लिए उन्होंने बहुत बड़ी कुर्बानी दी। हिटलर की सेना की बर्बरता को सहकर भी वे राष्ट्र की मर्यादा के लिए प्राणपन से लड़े।

बंगाल के अकाल को देखकर लेखक को स्टालिनग्राद का स्मरण हो आता है। ये दोनों घटनाएँ लगभग समकालीन हैं। स्टालिनग्राद को बचाने के लिए सोवियत जनता फासीवादी शक्तियों का मुकाबला कर रही थीं और बंगाल अपनी तरह से। जान माल के नुकसान दोनों में ही कम नहीं हुए थे। लेखक को यकीन है कि इतिहास जब मूल्यांकन करेगा तो स्टालिनग्राद की रक्षा करने वाले और बंगाल के अकाल में बचे जीवित मनुष्यों के साहस के बीच स्तीर्ण अंतर नहीं करेगा। मनुष्य ने भूख और रोग के आगे घुटने नहीं टेके। उन्होंने अपना नैतिक विवेक, साहस और धैर्य नहीं खोया। उनके साहस का गवाह वहाँ की नदियाँ, और कब्रें हैं। जहाँ गाँव की आबादी मिलने से पहले कब्रों की कतार शुरु हो जाती है।

बंगाल ने हमेशा से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के क्रूर आघातों को सहा है। फिर भी अपनी संस्कृति के वे प्रखर प्रवक्ता हैं। संस्कृति उनके जीवन का हिस्सा है। उनके जीवन की शैली नहीं बदली। भूख से गुजर कर भी अपने विचारों को उन्होंने नहीं बदला। वहाँ की जनशक्ति ने दिखला दिया कि जनता की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति है। किसी बाह्य संस्कृति के आक्रमण का सबसे भयानक पहलू होता है, जनता में बसी वहाँ की संस्कृति

की स्मृति को नष्ट करना। जहाँ की जनता ने इस बात को समझ लिया, वहाँ हर नाश के बाद निर्माण का कार्य शुरू हो जाता है। पूँजीवाद के नरपिचाश और मुनाफाखोरों के सामने सारे मूल्य केवल तिजौरी में बंद हो गए। इससे ऐसी घातक संस्कृति का जन्म हुआ जिसके सामने मानवीयता का दम घुटने लगा। भूख के मारे बंगाल की बहू बेटियों को इज्जत गंवानी पड़ी। मानवीय संबंध नाम की कोई चीज़ मुनाफाखोरों के सामने टिकी नहीं रहती।

यहाँ के लोगों ने मरकर भी अपनी संस्कृति को बचाया। एक आक्रामक सभ्यता का मुकाबला किया। गुलामी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिकंजे में जकड़ा बंगाल एक प्रकार की विवशता का शिकार हुआ। स्वार्थी मनुष्य ने पूँजी कमाने के उद्देश्य से अन्न को इस तरह से गोदाम में भर दिया कि लोगों के पास खाने के लिए कुछ नहीं था। उनकी क्रय शक्ति उतनी नहीं थी कि जिससे वह खरीद कर खा सकें। इसका परिणाम हुआ कि अकाल पड़ा। लोग मरते रहे लेकिन पूँजीपतियों का गोदाम नहीं खुला। इसका वफादार गवाह शिद्धिरगंज की कब्र है। बंगाल की शस्य श्यामला धरती हड्डियों के ढेर से भर गई हैं। लोगों में जीवित साहस की भावना ने इस विभिषिका को झेला और एक उदाहरण स्थापित किया कि जब तक मनुष्य में साहस जीवित है कोई भी आक्रामक व्यवस्था उसका अंत नहीं कर सकती। इस दृष्टि से आप उक्त अंश की व्याख्या अपने शब्दों में कर सकते हैं।

उक्त गद्यांश की भाषा और शैली पर भी टिप्पणी करें।

सहायक पुस्तकें

1. मधुरेश : रांगेय राघव, साहित्य आकदमी, नई दिल्ली।

मूलपाठ : रिपोर्ताज़

अदम्य जीवन

हम पगडंडियों से बढ़ते जा रहे थे। सूर्य आकाश में चढ़ने लगा था। कहीं-कहीं कोई किसान किसी पेड़ की छाया में बैठा दीख पड़ता था। सर्वत्र नीरवता छा रही थी। आकाश में बादल तैर रहे थे, जिन्हें देखकर खेतों से एक सोंधी-सी उसांस उमंग उठती थी। दूर हरियाली की लहर तेज चलती हवा की तरंगों पर गूंज-सी उठती थी। हरी-भरी पृथ्वी पर कभी-कभी बादलों के छा जाने से कहीं धूप और कहीं छाया, बरबस हृदय को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। किंतु मेरे साथी को जैसे इन सब बातों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। बायां हाथ उठाकर वह कह रहा था - 'वही है शिद्धिरगंज, देख रहे हो न वह ताड़ का पेड़?'

दूर - लगभग मील-भर की दूरी पर - कालनेमि की तरह खड़ा था लम्बा ताड़ का पेड़। जैसे-जैसे हम उस पेड़ की तरफ बढ़ रहे थे, आकाश के बादल लहरों की तरह उस पर केंद्राकार आ-आकर फैल जाते थे। वर्षों से ताड़ का पेड़ वह इसी तरह खड़ा है और वर्षों से उसके हिलते पत्तों ने बादलों की मर्मर सुनी है, किंतु आज उसकी छाया में मनुष्य विक्षुब्ध हैं।

मेरा साथी चुपचाप बढ़ा चला आ रहा था। एकाएक वह ठिठककर खड़ा हो गया। मैं उसके पीछे था। मैंने उसका कंधा पकड़कर कहा - 'भट्टाचार्यजी, क्या हुआ?'

'कुछ नहीं, गाँव आ गया।'

'गाँव ! पर यहाँ तो कोई बस्ती शुरू ही नहीं हुई।'

साथी की आंखों में निराश मुस्कराहट कांप उठी - 'नहीं क्यों कहते हैं आप? वह देखिए, वह...!' और उसने अपना हाथ सामने की ओर उठा दिया। मिट्टी का एक छोटा-सा ढूह घास में से अपना अनगढ़ सिर निकाले चुपचाप पड़ा था। मैं समझ नहीं सका कि क्या यही गाँव है? मैंने कहा - 'यह तो मिट्टी का एक ढूह-मात्र है!'

'इस गाँव की यही तारीफ है। आदमी मिलने से पहले यहाँ कब्रें शुरू हो जाती हैं!'

मैंनेक देखा, वह सचमुच कब्र थी। कच्ची मिट्टी, सिर पर कोई साया नहीं, चारों तरफ कोई घेरा नहीं। हम लोग बढ़ चले। प्रतीक्षा की-सी नीरवता में प्रायः हर पाँच-दस कदम पर एक-न-एक कब्र थी। मेरा हृदय कांप उठा।

अदम्य जीवन

सामने एक टूटा घर था - भग्न, विध्वस्त, मानो तूफान में उसका वैभव नष्ट हो गया था। और उसके सामने केले के पेड़ों की शीतल और मनोरम छाया में चौदह कब्रें आंखें मूंदे पड़ी थीं। एक लड़का, जो वहीं बैठा एक आम की गुठली का सब-कुछ खा जाने में लगा था, अपने-आप चिल्ला उठा - 'बाबू, एक-एक में दो-दो, तीन-तीन हैं। एक-एक में दो-दो, तीन-तीन।'

और वह फिर गुठली को मुंह मारने लगा। भट्टाचार्यजी पेड़ों की घनी छाया में एक पेड़ से सटकर खड़े विश्राम कर रहे थे। वे कहने लगे - 'बाहर से तुम्हारी तरह ही बहुत-से लोग आते हैं। हम चाहते हैं कि तुम यहाँ की एक-एक कब्र से बात करो और हिंदुस्तान के कोने-कोने में जाकर कहो कि जिस ढाके की मलमल एक दिन शहंशाह पहनते थे, आज वहाँ जुलाहे चूहों की तरह मर रहे हैं। बोलो, सुना सकोगे संसार को यह?'

छोटी-छोटी पगडंडियों से होता हुआ यह स्वर कब्रों से टकराकर गूँज उठा और मानो कब्रों से आवाज़ें आने लगीं। चौदह कब्रें - आंखों के सामने एकबारगी उनमें सोए कंकाल तड़प उठे और नाच उठे यातना से व्याकुल, भूख से तड़प-तड़पकर मरते हुए प्राणियों के चित्र।

राह में एक वृद्ध अपनी चटाई पर बैठा करघा चला रहा था। हम लोग उसी के पास जाकर रुक गए। वृद्ध ने हमारी ओर दृष्टि उठाई। भट्टाचार्यजी ने कहा - 'दादा, आगरे से आए हैं यह, यहाँ का हाल देखने।'

'जियो बेटा, जियो!' वृद्ध ने गद्गद स्वर से कहा - यह आगरा कहाँ है?'

'हिंदुस्तान में?'

'हिंदुस्तान से आए हो आओ, बैठो बेटा, आओ।' उसने चटाई की ओर इशारा किया। हम लोग बैठ गए। वृद्ध कहने लगा - 'जो देखने लायक था, वह तो खत्म हो गया। मगर तुम आए हो, तो देखो, आगे जाने क्या हो?' वह क्षण-भर चिंतित-सा दिखाई दिया। फिर भी एकाएक स्वर बदलकर उसने कहा - 'तुम हमारे मेहमान हो, भैया! आराम से बैठो ज़रा। हम भूखे हैं; मगर तुमने जो इतना कष्ट किया है, किसलिए? हमें अपना समझकर ही न? फिर तुम समझते हो, हमें इसका ज्ञान नहीं है?'

मैं चुप बैठा रहा। भट्टाचार्यजी कहने लगे - 'दादा, कष्ट-वष्ट की बात छोड़ो; इन्हें इस गांव के कुछ हालचाल बताओ।'

वृद्ध एक क्षण चुप रहा। फिर बोला - 'हालचाल? वह देखो....!' और उसने एक कब्र की ओर इशारा किया और कहता गया - 'शिद्धिरगंज के हालचाल सुनना चाहते हो?'

हिंदी गद्य विविधा

एक-दो-तीन, गांव के एक छोर से दूसरे छोर तक गिनते चले जाओ। कसम है, अगर तुम किसी को हाय-हाय करते पाओ। नहीं, आज कुछ नहीं है। था एक दिन, जब गांव में रात-दिन रोने-कराहने के सिवा और कुछ भी सुनाई नहीं देता था, मगर अब तो वह सब-कुछ नहीं।'

वास्तव में हमें कोई भी रोता नहीं दिखा। सब मानो अपने-अपने काम में लगे थे। मैंने देखा, डॉक्टर चुपचाप घरों की ओर देख रहा है। बांस के सुंदर-सुंदर झोंपड़े! सदियों से बंगाल - हम लोगों - पर बार-बार बाहरी हमले हो रहे, मगर आक्रमणकारी कभी भी यहाँ की शस्य-श्यामला पवित्र भूमि को नहीं रौंद सके। यहाँ मनुष्य को इतना समय मिल चुका था कि वह बैठकर आराम से इतने सुंदर और स्वच्छ घर बना सकता। और आज वही घर निर्जनता की अर्गला लगाए मूक खड़े थे! अकाल ने उनपर अपनी जो वीभत्स छाया डाली थी, उसका धुंधलका अभी तक भी मानो कोनों में छिपा बैठा था।

मैं देख रहा था, जिनके शरीर में केवल हड्डियाँ ही शेष थीं आज भी उनमें जीवित रहने का साहस था। अकाल आया, बीमारी आई और फिर दूसरे अकाल की गहरी आंधी भी क्षितिज पर सिर उठाने लगी है, किंतु अविचलित हैं यह! किसलिए? इसीलिए न कि वह जनता किसी से भी दब नहीं सकती। एक दिन विजेताओं ने इन्हें कुचला था, आज भी मनुष्य का स्वार्थ और भीषण व्यापार इन्हें निचोड़ रहा है, किंतु यह तो अभी तक अदम्य, अविजेय हैं!

बूढ़ा फिर कहने लगा। अबके उसका स्वर दृढ़ था - 'इस गांव में आज घरों पर किसकी दृष्टि ठहरेगी, भैया? इधर देखो, वे जो छाया में सो रही हैं चुपचाप, वे मिट्टी की कच्ची कब्रें, गिनकर देख लो, अगर पांच सौ से कम दिखाई पड़ें! और एक-एक में एक ही आदमी दफनाया गया हो, यह भी कोई ज़रूरी बात नहीं है। यह है हम मुसलमानों की बात। और अगर तुम सुनना चाहते हो कि हिंदू क्यों नहीं मरे, तो जाकर शीतलकखा की धारा से पूछो कि क्यों तू शिद्धिरगंज के सैकड़ों किसानों को बहा ले गई, जिनकी हड्डियों तक का आज पता नहीं?'

और वह सहसा मुस्करा उठा। मैंने देखा और समझने की चेष्टा की। मृत्यु ने उसे विशुद्ध कर दिया था। उसने कहा - 'इस गांव में करीब-करीब हर घर में मौत हो चुकी है। हज़ारों व्यक्ति मर चुके हैं, मगर सब तो नहीं मर सकते थे, और शायद सब नहीं मरेंगे, मगर कौन जाने, आगे क्या होगा?'

इस समय कुछ और लोग भी वहाँ इकट्ठे हो गए थे। रहमत, जो अपने ताने को एक दफा ठोककर उठ आया था, आकर वहीं बैठ गया था। चर्चा चल पड़ी। रहमत कहने लगा - 'हां, काफी लोग मर गए हैं।'

'तुम्हारे घर में कितने आदमी थे?'

'पच्चीस थे, जिनमें बीस मर गए। अब पांच बाकी है।' और उसने अब्दुल के हाथ से हुक्का लेकर धुआं उगलना शुरू कर दिया। बोला - 'यह मिल जाती है, भैया बस!' उसने तम्बाकू की ओर इशारा किया। और मुस्करा उठा। पहले वृद्ध की वह क्षुब्ध आकृति अब कुछ दीन-सी हो गई थी - मानो पहले जो व्यक्तिगत दुःख सजीव होकर चारों ओर हाहाकार कर उठा था, अब सामूहिक रूप में केवल साधारण-सा होकर चक्कर काटने लगा है। कुछ देर बाद रहमत ने एक लम्बी सांस छोड़ी और फिर गंभीर भाव से कहा - 'आने दो, जो-कुछ आएगा, उसे झेलेंगे।'

पगडंडी पर मरियल भुखमरे कुत्ते भूंक उठे, मानो रहमत की बात को समझकर उन्होंने उसका समर्थन किया हो। रहमत ने फिर कहा 'उन दिनों तीस-चालीस आदमी रोज़ मरते थे। अकाल तो खत्म हो गया, मगर बीमारियों ने जो पकड़ा, तो उनसे अभी तक गला नहीं छूटा।'

डॉक्टर ने पूछा - 'क्या-क्या बीमारियाँ हैं यहाँ?'

रहमत बिना सोचे ही रटी हुई-सी बात बतला गया- 'मलेरिया, बसंत (चेचक) और चर्म-रोग।'

मैंने चारों ओर दृष्टि उठाकर देखा। लोगों के गालों को हड्डियाँ उभर आई थीं, आंखों में सूजी-सी ललाई छा रही थी, किसी-किसी के गले में सूजन थी। उन्हें लक्ष्य कर डॉक्टर ने मुझसे कहा - 'करीब-करीब सभी या तो मलेरिया के शिकार रह चुके हैं या अब भी मलेरिया-ग्रस्त है।'

एक चंचल लड़का कहने लगा - 'आपको अकाल की बात कुछ नहीं मालूम। यहाँ चावल किसी भी दाम पर नहीं मिलता था। तीन-साढ़े-तीन सौ आदमी तो इस गांव को छोड़ गए। भुखमरे नहीं, तो...।' और उसकी झंकारती हंसी एकबारगी ठितुरती-सी फैल गई। उसकी बगल में एक लड़की खड़ी थी, कोई नौ-दस बरस की। यह बीच में ही बोल उठी - 'भूल गया न कि अभी भी कई भुखमरे हैं, जो यहाँ लंगरखाने में खा रहे हैं।'

सहसा रहमत ने कहा - 'अब्दुर्रहमान, आओ, इधर बैठो।'

अब्दुर्रहमान आया ही था कि एक आदमी कह उठा - 'इसके घर में सोलह आदमी थे, जिनमें से यह अकेला बचा है।' अब्दुर्रहमान ने निराश नयनों से हमारी ओर देखकर कहा - 'क्या बताऊँ बाबू, अफसोस सिर्फ यह है कि अब घर भी नहीं रहा। रहमत के यहाँ पड़ा रहकर इन्हें दुःख देता हूँ।'

हिंदी गद्य विविधा

रहमत हंस पड़ा। वह बोला - 'क्या बात कहते हो, अब्दुर्रहमान? तुम तो एक आए हो, मगर और जो उन्नीस की जगह बाकी है...।' और सब हंस पड़े। इतने में सामने से घूँघट काढ़े एक स्त्री निकली। हठात् पूछ बैठा - 'रहमत, क्या तुम्हारे गांव में स्त्रियों को अपनी इज्जत बेचने पर भी उतारू होना पड़ा था?'

रहमत के मुँह पर एक काली छाया फैल उठी। उसने पल-भर कुछ नहीं कहा। फिर गंभीर स्वर में कुछ सोचकर बोला - 'बाबू, बात तो बुरी है, मगर है सच। कुछ थीं ऐसी, मगर बुरा कहकर भी कितनी बुरी थीं वे, मैं नहीं जानता। कुछ कहते हैं कि जैसे इतने मरे, वे भी मर जातीं, तो हर्ज ही क्या था? पर मैं सोचता हूँ, मर जाना क्या सहज है? कोई क्या अपने-आप मर जाना चाहता है? खैर, जाने दीजिए, इस बात को जाने ही दीजिए।'

अब्दुर्रहमान हर बार कह उठता था - 'क्या करेंगे हम? क्या, बताइए न? उसके स्वर में अथाह निराशा और विवशता गूँज उठती थी। 'चावल का भाव अब भी 18 या 19 रुपये मन है। कहाँ से खरीदें हम? गांव में अधिकांश अब भी एक वक्त ही खाते हैं। और चावल खरीदने वाले भी सब ही तो चावल नहीं खाते, कई तो शकरकन्द के सहारे ही जी रहे हैं।'

'इतनी आमदनी नहीं, फिर बताओ', रहमत कहने लगा, 'कोई कैसे खरीदे? अकाल खत्म हुआ ही कब, जो दूसरा शुरू होगा? हमने कच्ची कब्रों में कई लाशों को बिना कफन में गाड़ दिया। आपको शायद मालूम न हो, हम मुसलमानों के यहाँ लाश को कफन में बांधकर गाड़ने का कायदा है। मगर कायदा क्या करे, जब जिन्दों के लिए भी कपड़ा नहीं है, तो मरों की क्या कीमत है बाबू?'

उसका यह प्रश्न उसका अपना नहीं था। उसने अनजाने नहीं, जानबूझकर ही उंगली उठाई थी उधर, जिधर मनुष्य को नंगा रखकर मनुष्य ने अपने मुनाफों के लिए बेशुमार कपड़ा तालों में बंद कर रखा था, जहाँ वस्तु मनुष्य के लिए न होकर पैसे के लिए थी। कितना बड़ा व्यंग्य और विद्रूप था यह कि आज कपड़ा बनानेवाले स्वयं नंगे थे!

हम लोग काफी देर तक बैठ चुके थे। एक लड़का कह उठा, 'चलिए बाबू, गांव देखिए।' और हम लोग उठे। वहाँ एकत्र हुए लोगों में से कुछ ने हमें प्रणाम किया, कुछ ने आशीर्वाद दिया और हम लोग चल दिए।

कहीं-कहीं कब्रें टूट गई थीं। सामने के दो घर बिलकुल टूट गए थे, उनके केवल चबूतरे बाकी थे। सामने एक गाय घास चर रही थी। पेड़ों की छाया में अनेक कब्रें सोयी पड़ी थी। लड़के ने कहा, 'यह है आदू मियां का घर। मर गया बेचारा! उसके घर में

उन्नीस आदमी थे, अब कोई भी नहीं बचा है।' वायु सनसनाती हुई बह गई। आदू मियां यहाँ बैठकर हंसता था, आज उसका कोई पता नहीं। लड़के को घर का एक-एक प्राणी याद था - अभी कल ही की तो बात थी। मगर निर्विकार खड़ा था। मानवी भावनाएँ कितनी कठोर हो गई थीं! सहसा आगे चलकर वह एक कब्र पर खड़ा होकर कहने लगा, 'बाबू, यह मेरे बाप की कब्र है। बस, मैं इतनी कब्रों में से इसे पहचानता हूँ। वह मुझे बहुत प्यार करता था। सचमुच वह मेरे ही लिए मर गया।' लड़का कुछ ठिठुर गया। मैंने देखा, डॉक्टर चौंक उठा। वह मुझसे बोला, 'यह मुसलमान होकर कब्र पर खड़ा है? हमारे यहाँ तो ऐसे नहीं होता।'

भट्टाचार्यजी मुस्करा उठे। उन्होंने लड़के से वही प्रश्न दुहरा दिया। लड़का क्षण-भर चुप रहा। फिर हंस पड़ा - 'यहाँ तो सब ऐसा ही करते हैं, बाबू! कहीं पैर रखने की भी तो जगह नहीं है। कहाँ तक कोई कब्रों को बचाता हुआ, उनका चक्कर देकर चले? इतनी ताकत है कितनों में?'

हम लोग आगे बढ़े। भट्टाचार्यजी एक आदमी से कुछ बातें करने लगे। वह आदमी कह उठा, 'गांव-कमेटी के, यूनियन-बोर्ड के मेम्बर सब चोर हैं, चोर! कोई हमारी परवाह करता है? रिश्तेदारों को कारख देते हैं, अपनों को देते हैं, हमारी क्या पूछ....?' दूसरा आदमी चलते-चलते रुककर कह उठा, 'हममें एका नहीं है, वर्ना क्या मजाल कि वह अपनी मनमानी करें!'

तब तो बंगाल अभी जीवित है! आज भी वह अपना रास्ता खोज निकालना जानता और चाहता है। भूख, से व्याकुल होकर भी यह भारत का संस्कृति-जनक सिर झुकाने को तैयार नहीं है। आज भी वह इन सब आंधी-तूफानों को झेलकर फिर से विराट रूप में फूट निकलना चाहता है। सचमुच कोई इनका कुछ नहीं कर सकता। यदि जनता में चेतना है, तो इन्हें भूखों मारनेवाले नर-पिशाच नाज-चारों का अंत दूर नहीं हैं।

एकाएक लड़का एक झोंपड़े के पास पहुंचकर रुक गया। हमने देखा, भीतर कुछ जुलाहे साड़ियाँ बुन रहे थे। लड़के ने कहा, 'ढाके की साड़ियाँ प्रसिद्ध हैं न, बाबू! अब यही दो-चार घर रह गए हैं, और कुछ दिन बाद शायद....।' वह कहते-कहते चुप हो गया। जुलाहे काम छोड़कर हमारी ओर देख रहे थे। सामने ही एक औरत बैठी थी। वह विधवा थी। उसके घर के दस आदमी मर चुके थे - और सामने केवल तीन अनगढ़ कब्रें थीं।

अधिकंश घरों की टीनें उखड़ गई थीं। और न जाने कितनों ने भूख से लड़ने के लिए अपनी टीनें बेच दी थीं। भट्टाचार्यजी ने उंगली से दिखाते हुए कहा, 'वह सामने एक भद्रलोक का घर था। उसे भी टीन बेच देनी पड़ी क्योंकि!' सहसा वह रुक गए। बात

हिंदी गद्य विविधा

पलटकर उन्होंने कहा, 'वे जो टीनें दिखाई दे रही हैं उखड़ी-उखड़ी, इसकी वजह यह नहीं कि उसके मालिक उन्हें बेचना नहीं चाहते थे, मगर इसलिए कि उनमें इतनी ताकत ही नहीं रही थी कि उठाकर इन्हें बाजार तक ले भी जाते और यही कारण है कि....।'

मैंने देखा, घर के चबूतरे के बीचोंबीच एक कब्र थी। यह भी एक मनुष्य था, जो अपने घर का वक्षस्थल फाड़कर सो रहा था। फोड़ों की तरह वे कब्रें जगह-जगह सूजी हुई-सी दिखाई दे रही थी।

धूप तेज़ हो चली थी। हम हाट में पहुँच गए थे। मछलियों की बू वातावरण को भेद रही थी। एक बूढ़ा व्याकुल-सा भागा जा रहा था। भट्टाचार्यजी ने बताया, 'उसे उस समय तीव्र ज्वर था, जिसके कारण उसका दिमाग ठीक नहीं था।' हाट के एक कोने में स्थानीय डॉक्टर की एक डिस्पेंसरी थी, छोटी-सी, गमगीन-सी। डॉक्टर के दिल में यह मुफ्त दवाखाने खोले जाने की बात जमती नहीं थी। आखिर वह फिर क्या खाएगा? हमारे डॉक्टर ने उससे बातचीत की। उसके पास न कुनैन थी, न सिन्कोना, और गांव में हर घर में मलेरिया का रोगी था, बच्चे की तिल्ली और जिगर बड़े हुए थे।

दवाखाने के एक बेंच पर बैठा एक आदमी कह रहा था - 'हर एक चीज़ चोर-बाजार में है, हर एक चीज़ पर मुनाफाखारी हो रही है, कोई करे तो क्या करे?'

एक औरत, जो पास में खड़ी थी, कहने लगी, 'तुम डॉक्टर हो? पहले क्यों नहीं आए,? जाने कितनी जानें बच जाती! यहाँ एक सरकारी दवाखाना है जिसमें कोई खास दवाई नहीं, मरीजों की कोई खास तवज्जह नहीं। कहाँ, ढाकेश्वरी मिल नं. 2 में तुम्हारा दवाखाना है? अब वहीं आएं कल से, चार-पांच मिल तो हैं ही...।'

उस समय उस औरत की बात की अनसुनी करके खैराती अस्पताल का एसिस्टेंट डॉक्टर मुझसे कह रहा था - 'हमने 75 फीसदी आदमियों की हालत सुधार दी है।' भट्टाचार्यजी मुस्करा रहे थे। एक ओर हमारे शासक बोल रहे थे, दूसरी ओर वही बात जनता कह रही थी। सामने अनेक जर्जर रोगी खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे - बुझी हुई आंखें, उभरी हुई पसलियां और वही भयानक चर्म-रोग!

यहाँ से हम लंगरखानों की ओर चल दिए। लंगरखाने और जगह बंद हो गए हैं, किंतु यहाँ अभी तक खुले हैं। खुले हुए मैदान में, पेड़ों की छाया में, तीन भट्टियाँ खुदी हैं। एक बड़ों का लंगरखाना है, जहाँ खिचड़ी बंटती है। करीब सौ आदमी आज भी उसी पर पलते हैं। मैली-कुचैली औरतों के जमघट में कुछ बैठी चूल्हा फूंक रही थीं। एक औरत ने बताया, कि बच्चों के दो लंगरखाने हैं - एक हिंदू, एक मुसलमान। दोनों में सौ-सौ बच्चे खाते हैं। साढ़े सात सेर खिचड़ी बंटती है और कुछ मछली, बस इतना ही। किसी

तरह लोग जी-भर रहे हैं। भट्टाचार्यजी ने बताया कि फ्रेण्ड्स एम्बुलेन्स यूनिट इन्हें चला रहा है।

मैं और भट्टाचार्य आगे चल पड़े। फिर हम दोनों एक पेड़ के नीचे बैठ गए। भट्टाचार्यजी कहने लगे, 'तुमने देखा, साढ़े सात सेर? सौ में कितना पड़ा?'

सामने भट्टी में से धुआं निकलकर ऊपर घुमड़ रहा था। आज सारा बंगाल महानाश की आग पर लटका भुन रहा है और चारों ओर से राक्षस मानों उसे चबा जाना चाहते हैं। इतने में डॉक्टर आ गया। उसके साथ एक औरत थी, जो रो रही थी। मुझे बड़ा विस्मय हुआ। यहाँ लोग अभी तक रो सकते हैं! तब तो इनमें हृदय है। वह कह रही थी - 'दवाखान, लेकर अब आए हो? पहले आते, तो मेरे बच्चे तो बच जाते...!' अरे, वह मां थी। उसके छः बच्चे मर गए थे और सिर्फ दो बचे थे।

'मैं अब यही लंगरखाने में काम करती हूँ, किसी तरह पेट भर जाता है। भीख नहीं मांगी जाती, बाबू...!' और वह फिर रो पड़ी - 'मेरे बच्चे....!' दिल कड़ा कर हम लोग वहाँ से चल दिए। वह आंखों में आंसू-भरे हमें शत-शत आशीर्वाद देती-सी ज्यों की त्यों खड़ी रही।

खेतों में कब्रें चुपचाप उदास-सी सोई पड़ी थीं, जिन्हें चिथड़ों में लिपटा एक बुढ़ा एक पेड़ की छाया में बैठा विरक्त भाव से देख रहा था। एक टूटी-सी दीवार में तीन आले अब भी खड़े थे, मगर घर नहीं थे। आठों घर विध्वस्त पड़े थे। उनके सामने बराबर-बराबर में तीस कब्रें पड़ी थीं और एक नवयुवक, जो देखने में बूढ़ा लगता था, उनकी ओर देख-देखकर मुस्करा रहा था। वे सब एक दिन जुलाहों के घर थे, पर अकाल के ताने और बीमारियों के बाने ने सहसा उनके जीवन-व्यापार का अंत कर दिया था।

'दिन में नहीं, दिन में नहीं, रात को,' भट्टाचार्यजी कहने लगे, 'गांव में कब्रिस्तान की-सी छायाएँ नाचने लगती हैं। शिद्धिरगंज कभी भी नहीं भूलेगा कि एक दिन आदमी के बनाए अकाल ने उसका सत्यानाश कर दिया था। जो आदमी अपनी हड्डियों से - दधीचि की हड्डियों से यह अमर कथा लिख गए हैं, बंगाल उनकी ज्वलन्त स्मृति को कभी नहीं भुलाएगा।'

मेरे मुंह से हठात् निकल गया - 'उसे हिंदुस्तान कभी नहीं भुलाएगा भट्टाचार्य जी, मानवता उसे कभी नहीं भुला सकेगी।'

डॉक्टर आगे-आगे चल रहा था। हम लोग लौट रहे थे। नदी की पतली धारा में कुछ नंगे लड़के नहा रहे थे, जिनकी पतली हड्डियों से टकराकर छोटी-छोटी लहरें मानो

हिंदी गद्य विविधा

निराश-उदास लौट जाती थी। उन्होंने हमें देखा और समवेत स्वर से चिल्ला उठे - 'इन्कलाब ज़िंदाबाद! इन्कलाब ज़िंदाबाद!!'

गर्व से मेरी छाती फूल उठी। कौन कहता है कि बंगाल मर गया है? जहाँ भूख और बीमारियों से लड़कर भी मनुष्यों के बालकों में क्रांति को चिरजीवी रखने का अपराजित साहस है, वह राष्ट्र कभी भी नहीं मर सकेगा। हड्डी-हड्डी से लड़नेवाले यह योद्धा जीवन की महान शक्ति को अभी तक अपने में जीवित रख सके हैं। संसार कहता है, स्टालिनग्राड में लोग खंडहरों में से लड़े थे और उन्होंने दुश्मन के दांत खट्टे कर दिए। उन्होंने बर्बरता की धारा को रोककर रूस को गुलाम होने से बचा दिया। किंतु मैं पूछता हूँ, क्या शिद्धिरगंज दूसरा स्टालिनग्राड नहीं? मनुष्य भूख से तड़प-तड़पकर यहाँ जान दे चुके हैं, वे भीषण रोगों का शिकार हो चुके हैं, उनके घर खंडहर हो गए हैं, कब्रों से ज़मीन ढंक गयी है, नदियों में लाशों की सड़ांध एक दिन दूर-दूर तक फैल गई थी, किंतु मनुष्य का साहस जीवित है। आज भी बंगाल के बच्चे क्रांति को नहीं भूले हैं। क्या इन योद्धाओं ने भारतीय संस्कृति की जड़ों पर होने वाले आघात को सहकर आज संसार को यह नहीं दिखला दिया कि जनशक्ति कभी पराजित नहीं हो सकती, वह कभी मर नहीं सकती? जब फासिस्तवाद से भी बर्बर नर-पिशाच मुनाफाखोरों ने नाज पर बैठकर जहर उगला, कपड़ा-चोरों ने उनकी बहू-बेटियों को निर्लज्ज होने दिया, तब भी क्या इन्होंने सिर झुकाया? नहीं, ये वीरों की तरह लड़ें हैं। आज शिद्धिरगंज की पृथ्वी शहीदों के मजारों से ढंक गयी है। युग-युग तक संसार को याद रखना पड़ेगा कि एक दिन मनुष्य के स्वार्थ और असाम्य के कारण, गुलामी और साम्राज्यवादी शासन के कारण, बंगाल जैसी शस्य-श्यामला भूमि में भी मनुष्य को भूख से दम तोड़ना पड़ा था? और लोगों ने उसे पूरी शक्ति से इसलिए झेला था कि मानवता जीवित रहना चाहती थी। उसे कोई मिटा नहीं सकता।

आज अकाल का वह पहला भीषण स्वरूप समाप्त हो चुका है। किंतु रोगों की वर्षा-आंधी के बाद प्रलय उमड़ा रही है। और इस समय भी लोग कहते हैं - बंगाल का अकाल समाप्त हो चुका है! पर आज यह कुछ नहीं तो भी महामरण का भीषण नृत्य है। जब हम लोग शिद्धिरगंज से लौट रहे थे, शीतलता की प्रशांत धारा में नहाता हुआ एक आदमी गा रहा था -

'सोनार बांगला होलो शोशान, एक साथे सबे चल।'

उसका यह स्वर दूर-दूर तक लहरों पर फैल उठता था।

22 . श्रीकांत वर्मा और 'ऑक्टोवियो पॉज़'

जीवन परिचय

छत्तीसगढ़ के अंचल में बिलासपुर जैसे कस्बाई शहर में श्रीकांत वर्मा का जन्म 18 सितम्बर 1931 ई. को हुआ था। श्रीकांत वर्मा के जीवन और लेखन दोनों धरातलों पर एक प्रकार की कस्बाई देशजता मौजूद रही है। उनके व्यक्तित्व में गहरी कस्बाई संवेदना थी। यद्यपि वे जीवन भर इसे तोड़ने की कोशिश में छटपटाते रहे। श्रीकांत वर्मा के ताऊ नंदकिशोर वर्मा बिलासपुर की एक मशहूर जमींदारी केंदा के दीवान थे। केंदा के घने जंगलों का परिवेश श्रीकांत के बाल मन पर छाया रहा। शायद इसीलिए उनके लेखन में पहाड़, जंगल, तालाब, नदियों की स्मृतियाँ बराबर आती हैं। वे बचपन से ही तुनुकमिजाज थे, उनमें गहरी संवेदनशीलता और एक खास तरह का अकेलापन था। जिससे रिसता हुआ अवसाद उनके व्यक्तित्व में भरा हुआ है।

उनके पिता राजकिशोर वर्मा पेशे से वकील थे। वे स्वाधीनता आंदोलन में गांधीजी के आह्वान पर जेल गये थे। एक सम्पन्न परिवार में पैदा होने के बावजूद श्रीकांत को किशारे होते-होते कठिन दिन देखने पड़े। परिवार में बड़े होने के नाते घर की जिम्मेदारी उन पर आ पड़ी। जहाँ तक स्कूली शिक्षा की बात है, श्रीकांत के मन में शुरू से ही दिलचस्पी का अभाव रहा। यद्यपि प्रारंभिक शिक्षा के लिए बिलासपुर के अंग्रेजी स्कूल में उनका दाखिला हुआ। लेकिन वहाँ का परिवेश उन्हें रास नहीं आया। वहाँ से निकलकर उन्होंने नगर पालिका के स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। वहीं से उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास की। 1940 में आगे की शिक्षा के लिए इलाहाबाद भेजे गए। जहाँ उन्होंने क्रिश्चियन कालेज में दाखिला लिया। लेकिन वे अपने घर से दूर नहीं रह पाए। जल्दी ही बिलासपुर लौट आए। और वहीं के कॉलेज से बी.ए. तक की शिक्षा प्राप्त की। सन् 1952 तक वे बेकारी की हालत में रहे। घर की आर्थिक स्थिति खराब थी। इसी बीच उन्होंने स्कूल शिक्षक की नौकरी कर ली। प्राइवेट छात्र के रूप में उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से एम.ए. किया। 1954 में उनकी भेंट हिंदी के महान् प्रगतिशील कवि मुक्तिबोध से हुई। मुक्तिबोध की प्रेरणा से बिलासपुर में नवलेखन की पत्रिका 'नयी दिशा' का संपादन किया। सन् 1956 में नरेश मेहता के साथ 'कृति' पत्रिका का भी संपादन किया। 1956 से लेकर 1963 तक का समय संघर्ष का काल श्रीकांतजी के लिए था। इसी समय

हिंदी गद्य विविधा

रायपुर से लोकसभा की सांसद मिनी माता ने उन्हें बुला लिया और अपने सरकारी आवास में रहने को जगह दी जहाँ वे ग्यारह साल तक रहे। श्रीकांत वर्मा दिल्ली में पत्रकारिता के व्यवसाय से जुड़े रहे। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' प्रकाशन समूह से निकलने वाली प्रख्यात साप्ताहिक पत्रिका 'दिनमान' से वे लंबे समय तक जुड़े रहे। बाद में वे जब कांग्रेस की राजनीति में सक्रिय हो गए तो 'दिनमान' से उन्हें अलग होना पड़ा। पत्रकारिता और राजनीति ने उन्हें समय-समय पर देश-विदेश की यात्रा करने का अवसर भी दिया। जिसका पूरा लाभ उठाते हुए उन्होंने अपने समय के कई महान् लेखकों-बुद्धिजीवियों से मुलाकात की।

इसी दौरान उनकी वैचारिक मुठभेड़ प्रगतिवादियों, प्रगतिवाद विरोधियों, कलावादियों और आधुनिकतावादियों से चलती रही। प्रारंभ में मुक्तिबोध के प्रभाव से उनका मार्क्सवाद की ओर झुकाव था लेकिन हंगरी की घटनाओं के कारण मार्क्सवाद से उनका मोहभंग हो गया। लेकिन उनको प्रगतिविरोधी नहीं कहा जा सकता। उन पर डॉ. राम मनोहर लोहिया के समाजवादी चिंतन का गहरा प्रभाव था। 1969 में वे श्रीमती इंदिरा गांधी के काफी करीब आये। उनका यह मानना था कि साहित्य एक सीमा तक ही समाज को प्रभावित कर पाता है। उसे बदलने का माध्यम राजनीति ही हो सकती है। वे नेहरू के आधुनिक समाज बनाने के विचारों से सहमत थे और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास का समर्थन करते थे।

जीवन के अंतिम क्षणों में उनका कांग्रेस की राजनीति से भी मोहभंग हो चुका था। उन्होंने स्वीकार किया कि वहाँ मूल्य नहीं मूल्यों का क्षरण था। वे कांग्रेस के महासचिव थे। 1980 में कांग्रेस प्रचार समीति के अध्यक्ष थे। वे राज्यसभा के सदस्य भी रहे। 1985 में राजीव गांधी के काल में उन्हें महासचिव के पद से हटा दिया गया। जीवन की आखिरी दौर में वे पर वर्तमान राजनीति और व्यवस्था से उब्र चुके थे। अमेरिका में वे अपने कैंसर का इलाज कराने के लिए गए। 26 मई 1986 को न्यूयार्क में उनका निधन हो गया। अपने जीवनकाल में उन्हें कई पुरस्कारों से सम्मानित किया जिसमें 'मगध' काव्य संग्रह पर साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा मध्य प्रदेश का शिखर सम्मान भी शामिल हैं।

साहित्यिक योगदान

श्रीकांत वर्मा मुक्तिबोध की बाद की पीढ़ी के प्रतिनिधि कवि हैं। साठ के बाद की कविता का मिज़ाज़ उनकी काव्यकृतियों में पहचाना जा सकता है। बेचैनी और तनाव उनकी कविता का प्रमुख गुण है। उनकी कविता में नाराजगी, असहमति और विरोध का स्वर मौजूद है। श्रीकांतजी की कविता को तीन दौर में विभाजित करके देखा जा सकता है। उनका पहला दौर 1948 से लेकर 1959 तक का है। दूसरा दौर 1960 से लेकर 1973 तक का। यह वह दौर है जिसमें उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक विसंगति का खुलासा

ऑक्टोवियो पॉज़

किया है। 'तीसरे और अंतिम दौर की कविता वह है जिसे 1979 से 1986 के दौरान रचा गया। काव्य विकास के इन तीन चरणों का विभाजन उनकी काव्य चेतना में आये बदलावों के आधार पर देखना चाहिए। आरंभ की कविताओं में श्रीकांत में रोमांटिक आवेग है। अपनी वास्तविक काव्य भूमि की खोज की बेचैनी उनकी कविताओं में देखी जा सकती है। सातवें दशक के राजनीतिक और सामाजिक यथार्थ ने कविता की दिशा को पलट दिया। इस काल में नयी कविता के अभिजात्य का मिथ दूर हो गया था। अपने समय और समाज के भयानक यथार्थ को व्यक्त करने के लिए श्रीकांत को नयी काव्यभूमि की खोज करनी पड़ी। वे काव्य के उन प्रतिमानों को भी तोड़ते रहे जिन्हें वे स्वयं अपनी कविताओं से बनाते थे। उनके निम्नलिखित काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं : 'भटका मेघ' (1957), 'मायादर्पण' (1967), 'दिनारंभ' (1967), 'जलसाघर' (1973), 'मगध' (1983) और 'गरुड़ किसने देखा है' (1986)। 'मगध' और 'गरुड़ किसने देखा है' ऐसे कवि की करुणा की पुकार है जो युग संधि पर खड़ा अपने समय के मनुष्य, समाज, राजनीति, इतिहास और काल के प्रति बेहद निर्मम होकर उसके संकट को परिभाषित करना चाहता है।

श्रीकांत वर्मा मूलतः कवि हैं लेकिन उन्होंने कविता के साथ-साथ कहानियाँ भी लिखीं। उनकी कहानियों का रचनाकाल 1955 से प्रारंभ होता है। उनकी पहली कहानी 'बहिन जी' 'नयी दिशा' में प्रकाशित हुई थी। उनके कहानी संग्रहों में 'झाड़ी' (1964), 'संवाद' (1969), 'घर' (1981), 'दूसरे के पैर' (1984), 'अस्थी' (1988), 'ठंड' (1989), 'वास' (1993) और 'साथ' (1994) प्रमुख हैं। यानी उनकी कहानियाँ उनकी कविता की पूरक हैं - उनके कहानी के पात्र उसी यथार्थ से जूझते हैं जिस यथार्थ को श्रीकांत वर्मा कविता में व्यक्त कर रहे थे। नयी कहानी आंदोलन से अलग हटकर उन्होंने सामाजिक यथार्थ के भीतर जूझ रहे अभिशप्त चेहरों को उजागर किया है। वे नयी कहानी के ढाँचे को तोड़कर कहानी विधा को बदलते नये यथार्थ से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। श्रीकांत की कहानियाँ एक ऐसे कथाकार की अभिव्यक्तियाँ हैं जो नयी कहानी के दौर में प्रेम भरे खेल के मैदान से बाहर जाकर ठंड, झाड़ी, अस्थी, शवयात्रा और घर जैसे सामाजिक यथार्थ की अविस्मरणीय दुनिया रचती हैं। 'दूसरी बार' (1968), उनका अकेला उपन्यास है जहाँ वे साबित करना चाहते हैं कि आज प्रेम मानवीय दुनिया से बहिष्कृत हो गया है।

श्रीकांत वर्मा गद्य की अनेक विधाओं में लिखते रहे हैं, आलोचना, डायरी, यात्रा वृत्तांत और साक्षात्कार में उन्होंने अपनी रचनात्मकता का परिचय दिया है। पत्रकारिता के कारण उन्हें अपने गद्य को संवारने का भरपूर अवसर मिला था। उन्होंने विदेशी साहित्य का अनुवाद किया। विचार प्रधान और आलोचनात्मक लेख लिखे और दुनिया के कई प्रतिष्ठित लेखकों और विचारकों से साक्षात्कार भी लिया। 'फैसले का दिन' रूसी कवि आंद्रे

हिंदी गद्य विविधा

बेंजनेसेंस्की की कविता का अनुवाद है। आलोचना में उनकी एक पुस्तक 'जिरह' (1975) प्रकाशित हुई। 'अपोलो का रथ' (1973) उनके द्वारा लिखा यात्रा संस्मरण है। 'बीसवीं शताब्दी के अंधेरे में' (1982) उनके द्वारा लिए गए साक्षात्कार एवं बातचीत का संग्रह है। श्रीकांत वर्मा का लेखन एक अनवरत चलने वाली बहस और जिरह है, कभी दूसरों से, कभी स्वयं से।

रचना के बारे में

ऑक्टैवियो पॉज़ लैटिन अमेरिका के समर्थ साहित्यकार थे। वे भारत में मेक्सिको के राजदूत रहे। उसी दौरान श्रीकांत वर्मा ने पॉज़ का इंटरव्यू लिया था। यह एक कवि की दूसरे कवि के साथ वैचारिक बहस भी कही जा सकती है। बीसवीं शताब्दी की उपलब्धियों पर श्रीकांत वर्मा ने उनसे साक्षात्कार लिया था। यह साक्षात्कार 'बीसवीं शताब्दी के अंधेरे में' पुस्तक में संकलित है। इस पुस्तक का प्रकाशन 1982 ई0 में हुआ। दो रचनाकार जब किसी समस्या के आमने-सामने होते हैं तो साक्षात्कार बड़ा ही दिलचस्प और रचनात्मक हो जाता है। कला, विज्ञान, संस्कृति, इतिहास और मिथक कई ऐसे अनुसुलझे प्रश्न हैं, जिसे चिंतकों ने बार-बार सुलझाने का प्रयत्न किया है। ऑक्टैवियो पॉज़ एक रचनाकार ही नहीं चिंतक भी थे। उन्होंने इन प्रश्नों का अपने अनुभव की रोशनी में उत्तर देने का प्रयत्न किया है। बीसवीं शताब्दी में जो प्रश्न बार-बार उठते रहे उन्हें वे नई दृष्टि से देखने की कोशिश करते हैं।

बीसवीं शताब्दी के अंधेरे पर टिप्पणी करते हुए श्रीकांत मानते हैं बीसवीं शताब्दी की कल्पना बिना आधुनिकता के असंभव है। प्रखर बुद्धिजीवी पॉज़ ने श्रीकांत वर्मा के प्रश्नों का बड़े संतुलित ढंग से उत्तर दिया है। पॉज़ ने विचारधाराओं की तानाशाही के विरुद्ध मानवीय स्वतंत्रता का पक्ष लिया है। श्रीकांत वर्मा प्रश्नों को छोटे से घेरे में नहीं समेटते हैं। उनका कैनवास विशाल है। व्यवस्था, सत्ता राजनीति, साहित्य, कला और दर्शनों के बीच उलझी हुई गुथी को लगातार साफ और सुलझे ढंग से उठाते हैं। पॉज़ ईमानदारी और विवेक से प्रश्न का रास्ता तय करते हैं। उनकी पीढ़ी में बीसवीं शताब्दी के मनुष्य के भविष्य की चिंता समाहित है।

बीसवीं शताब्दी के दो महत्वपूर्ण घटना चक्र प्रथम और द्वितीय महायुद्ध से श्रीकांत वर्मा अपना प्रश्न आरंभ करते हैं। लेखक और सामाजिक प्रतिबद्धता, साहित्य और दर्शन के बीच का संबंध, विचारधारा और मनुष्य, कला आंदोलन, और भविष्य का समाज तथा साहित्य आदि कई प्रश्नों के उत्तर के लिए श्रीकांत पॉज़ को उकसाते हैं। विश्व के साहित्य और विभिन्न विचारधाराओं की यात्रा करते हुए वे भारत के विषय में उनकी राय जानने की कोशिश करते हैं। बीसवीं सदी के मनुष्य की समस्याओं से दोनों रचनाकार भली भाँति परिचित हैं। भारतीय जीवन को पॉज़ गहराई से देखने की चेष्टा करते हैं और

ऑक्टेवियो पॉज़

कहते हैं कि यहाँ का अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा व्यक्ति अपने समाज से कटा हुआ है। औपनिवेशिक सभ्यता के दबाव को वे यहाँ के जीवन पर महसूस करते हैं। दम तोड़ती लोक संस्कृति भी उनकी नज़र से ओझल नहीं होती है। प्रश्न को श्रीकांत वर्मा कुछ इस तरह से रखते हैं कि ये प्रश्न श्रीकांत वर्मा के नहीं रह जाते हैं। उनका प्रश्न एक जागरूक भारतीय का प्रश्न बन जाता है।

साक्षात्कार पत्रकारिता के क्षेत्र की विधा है। साक्षात्कार में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सवाल करता है जिसका दूसरा व्यक्ति जवाब देता है। यह दूसरा व्यक्ति किसी क्षेत्र विशेष में विशिष्ट स्थान रखने के कारण ही साक्षात्कार के लिए चुना जाता है। जैसा कि इस साक्षात्कार में ऑक्टेवियो पॉज़ है। लेकिन जब प्रश्नकर्ता भी महत्वपूर्ण हो तो साक्षात्कार कुछ हद तक बातचीत या बहस में बदल जाता है। दोनों ही लेखक हैं, इसलिए इस साक्षात्कार की भाषा में गंभीरता, वैचारिक गहनता और संश्लिष्टता नज़र आती है। प्रश्न जितने गंभीर हैं, उत्तर भी उतनी ही गंभीरता से दिए गए हैं। इसलिए दोनों की भाषा में वैचारिकता का गुण होना स्वाभाविक है। यहाँ यह जानना भी ज़रूरी है कि साक्षात्कार मूल रूप में अंग्रेज़ी में लिया गया था। इसलिए सवालों और जवाबों दोनों का स्वयं श्रीकांत वर्मा ने अनुवाद किया है। हमारे पास यह जानने का कोई माध्यम नहीं है कि ऑक्टेवियो पॉज़ ने अंग्रेज़ी में किस तरह की भाषा इस्तेमाल की, हमारे सामने यह साक्षात्कार हिंदी में ही प्रस्तुत है और इसकी भाषा की विशेषता पर ही टिप्पणी कर सकते हैं।

शब्दावली

कमिटमेंट : प्रतिबद्धता

नात्सी विचारधारा : जर्मनी की राजनीतिक विचारधारा जिसका प्रतिनिधि हिटलर था।

सार्त्र (ज्यां पाल) : फ्रांस के रचनाकार और अस्तित्ववादी विचारक।

कामू (आल्बेयर) : फ्रांस के रचनाकार और अस्तित्ववादी चिंतक।

ब्रेख्त (ब्रतोल्त) : जर्मनी के महान् नाटककार और कवि।

बॉल्जाक : फ्रांस के उपन्यासकार।

वॉन गॉग : फ्रांस के चित्रकार। आपने प्रभाववादी चित्रकला को एक आंदोलन के रूप में जन्म दिया।

यास्पर्स (कार्ल) : अस्तित्ववादी दार्शनिक।

जार्ज ऑरवेल : अंग्रेज़ी उपन्यासकार।

क्लासिस्ट : शास्त्रीय परंपरा से बंधी हुई ऐसी रचना जिसे प्रातिनिधिक रचना कहा जा सकता है।

डब्ल्यू एच ऑडेन : अमेरिका के अंग्रेज़ी कवि।

हिंदी गद्य विविधा

सिमोन द बुआ : फ्रांस की नारीवादी रचनाकार और ज्यां पॉल सार्त्र की साथी।

प्रूस्त : अंग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध उपन्यासकार।

ज्वायस (जेम्स) : अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार।

गिन्सबर्ग : बीटनिक कवि। व्यवस्था के विरोध में चलाए गए आंदोलन के प्रतिनिधि अंग्रेज विचारक और कवि।

मैलार्मे : फ्रांस के प्रसिद्ध कवि जिनकी रचना पर चित्रकला का प्रभाव है।

सुर्रियलिस्ट : अतियथार्थवाद। कला का एक आंदोलन था जिसमें कलाकारों, कवियों और फिल्म निर्माताओं ने स्वप्न सृष्टि, अवचेतन मन के विचार और इच्छाओं को जन्म दिया।

सिम्बलिस्ट : चित्रकला का एक आंदोलन।

सहायक पुस्तकें

अरविन्द त्रिपाठी : श्रीकांत वर्मा, साहित्य अकादमी नई दिल्ली।

पूर्वग्रह : श्रीकांत वर्मा पर विशेष : जनवरी-जून 1998, भारत भवन, भोपाल।

आलोचना : अंक 78 जुलाई सितम्बर 1986।

दस्तावेज़ : अप्रैल जुलाई 1986, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, गोरखपुर।

अशोक वाजपेयी : फिलहाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

मलयज : कविता से साक्षात्कार, संभावना प्रकाशन, हापुड।

राजेंद्र मिश्र : श्रीकांत वर्मा का रचना संसार, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूलपाठ : साक्षात्कार

ऑक्टेवियो पॉज़

ऑक्टेवियो पॉज़ इस्पहानी दुनिया के प्रमुख कवि हैं। पाब्लो नेरूदा और पॉज़ की गिनती लैटिन अमेरिका के सबसे जबरदस्त कवियों में होती है। नेरूदा की मृत्यु के बाद लैटिन अमेरिका में अब पॉज़ जैसा कोई कवि नहीं रह गया है। नेरूदा और पॉज़ की प्रकृति एक-दूसरे से न केवल भिन्न है, बल्कि प्रतिकूल भी। नेरूदा समाजवादी हैं और उनकी कविता की बनावट भी उसके अनुकूल है। सपाटबयानी और जनवादी स्वर। पॉज़ की कविता सुर्रियलिस्ट और रोमैण्टिक है। पॉज़ और नेरूदा दोनों में सिर्फ एक चीज़ समान है। दोनों में लैटिन अमेरिका की अस्मिता को लेकर न केवल बेचैनी बल्कि दर्प है। एक में यूरोप के सांस्कृतिक अतिक्रमण के प्रति विक्षोभ है, दूसरे में साम्राज्यवाद का तीखा विरोध है।

लैटिन अमेरिका की अस्मिता को कविता में शायद ही किसी कवि ने इतनी खूबसूरती और गरिमा के साथ प्रदर्शित किया हो, जितना कि ऑक्टेवियो पॉज़ ने किया है। ऑक्टेवियो पॉज़ एक महान् कवि हैं। उनकी कविता में अनन्तता का स्वर है और एक अनन्त प्रवाह है। बिम्ब पर बिम्ब उछलते चले आते हैं और बिम्बों का एक विश्व तैयार हो जाता है। उनकी गिनती यूरोप के किसी भी बड़े कवि के समकक्ष की जा सकती है।

ऑक्टेवियो पॉज़ सिर्फ एक कवि नहीं हैं। वह एक महान् विचारक भी हैं। उन्होंने कला पर जो लेख और पुस्तकें लिखी हैं, वे अमूल्य दस्तावेज हैं। 'दुशाँ' पर उनकी पुस्तक एक अनोखी कलाव्याख्या है। वे मेक्सिको की राजनीति में सक्रिय हिस्सा लेते रहे हैं। समूचा इस्पहानी संसार ऑक्टेवियो पॉज़ को एक कवि, विचारक और राजनीतिक योद्धा के रूप में जानता है। कई वर्ष तक वह मेक्सिको के विदेश विभाग और राजनयिक सेवा में रहे। इसी सिलसिले में उनकी नियुक्ति पहले जापान और बाद में भारत में हुई। मैंने कला और साहित्य को लेकर उनसे दो बार लम्बी-लम्बी बातचीत की। एक बार दिल्ली में मेक्सिको के राजदूत के पद पर उनकी नियुक्ति के कुछ महीने बाद और दूसरी बार 1968 में उनके त्याग-पत्र के बाद। ऑक्टेवियो पॉज़ ने अपने देश में छात्र-आंदोलन के समर्थन तथा अपनी सरकार की नीति के विरोध में इस्तीफा दे दिया था।

ऑक्टेवियो पॉज़ बहस पसंद करते हैं। उनमें विनय है, मगर झूठी विनय नहीं। वह दूसरे की बात गौर से सुनते हुए भी उसकी बात काटकर अपने वाक्य प्रवाह में बह सकते हैं और कह सकते हैं कि मैं बहस में विश्वास करता हूँ। वे शिष्टाचार बरतते हैं, मगर झूठे आडम्बर में विश्वास नहीं करते। वे अपनी बढ़िया सिगरेट खत्म हो जाने पर

हिंदी गद्य विविधा

दूसरे से माँगकर सस्ती सिगरेट भी पी सकते हैं, राजदूत का प्रोटोकॉल तोड़कर फ़र्श में, घास पर बैठ सकते हैं और नंगे पाँव बाहर निकल सकते हैं। कविता से चित्रकला, चित्रकला से वज्रयान, वज्रयान से बीटनिक, सुर्रियलिज्म, पॉल एलुआर- एक के बाद एक कई विषयों और उनकी तहों में पहुँचते हुए वह एक चित्रमय भाषा में बात करते चलते हैं। जहाँ भाषा टूटती है, वहाँ उनके चेहरे की रेखाएँ बोलने लगती हैं, और जहाँ यह रेखा भी उन्हें अभिव्यक्त नहीं कर पाती, उनके कंधे, उनके हाथ और उनकी अँगुलियों में दबी हुई सिगरेट उन्हें व्यक्त करती है।

ऑक्टैवियो पॉज़ कला और संस्कृति के पक्षधर हैं। दिल्ली में एक शाम शामलाल ने अपने घर पर एक छोटी-सी पार्टी का आयोजन किया था। पार्टी में पॉज़ के साथ मेक्सिको के प्रसिद्ध पत्रकार तमायो भी पधारे थे। तमायो पिकासो, ब्रॉक और बुफ़े तथा अन्य चित्रकारों के बारे में अपनी धारणाएँ बता रहे थे और अपने दिलचस्प संस्मरण सुना रहे थे। अचानक वहाँ एक अन्य विदेशी राजनयिक का आना हुआ। उनके आने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता, अगर यह दिलचस्प बातचीत वह सिर्फ़ सुनते रहते। मगर वह बीच-बीच में अप्रासंगिक टिप्पणियाँ करते रहे। साहित्य तथा साहित्यकारों के विषय में कुछ हल्की बातें करने के उपरांत उन्होंने कहा, 'साहित्य राजनीति से अलग नहीं रह सकता।' श्रीमती तमायो ने उनसे पूछा, 'आर यू ए पॉलिटिशियन?' तमायो रसभंग से क्षुब्ध थे। मगर ऑक्टैवियो पॉज़ इस टिप्पणी से नाराज़ थे। राजनयिक राजनयिक कारणों से आम तौर पर इस प्रकार की बहस से बचते हैं। सामान्य स्थिति में ऑक्टैवियो पॉज़ ने इस टिप्पणी को हँसकर टाल दिया होता। मगर कला की यह अवमानना एक महान् चित्रकार की उपस्थिति में हुई थी और पॉज़ के लिए यह बर्दाश्त कर सकना कठिन था। पॉज़ ने तर्क पर तर्क दोहराते हुए कुछ ही समय में आगन्तुक राजनयिक को निहत्था और बेबाक कर दिया।

ऑक्टैवियो पॉज़ की मान्यता है कि कला आदमी का सबसे कीमती आविष्कार है और राज्यसत्ताएँ कला को चेहरा बदलकर नये-नये ढंग से भ्रष्ट करने की कोशिश कर रही हैं।

भारत में रहते ऑक्टैवियो पॉज़ के अनेक मित्र बने - चित्रकार, कवि, उपन्यासकार, संगीतकार और सम्पादक। राजधानी में औरंगजेब रोड पर उनका निवास-स्थान कलाकारों का मिलनस्थल बन गया था। वह एक-एक को उनके नाम और काम से जानने लगे थे। कोई भी प्रमुख कला प्रदर्शनी नहीं, जिसमें पॉज़ न गए हों और अंग्रेज़ी, फ़्रेंच और इस्पहानी में उपलब्ध भारतीय कविता का कोई भी अनुवाद नहीं, जिसे पॉज़ ने न पढ़ा हो।

ऑक्टैवियो पॉज़

वह सबसे अधिक प्रभावित थे भारतीय दर्शन और भारतीय संगीत से। भारतीय संगीत को वह विश्व सभ्यता की एक महान् उपलब्धि मानते थे। उनके पास शास्त्रीय संगीत की एक दुर्लभ लायब्रेरी थी। भारतीय मूर्तिकला पर ऑक्टैवियो पॉज़ ने अनोखी टिप्पणियाँ की हैं।

बहुत-से विदेशी आते और जाते हैं। लेकिन थोड़े-से लोग ऐसे हैं, जिन पर कि भारत अपनी अमिट छाप छोड़ जाता है। पॉज़ उन्हीं थोड़े-से लोगों में से हैं। भारत से लौटने के बाद उन्होंने भारत को लेकर दर्जनों कविताएँ लिखीं, जो उनके बाद के संग्रहों में शामिल हैं।

भारत में रहते हुए उनके जीवन की कुछ प्रमुख घटनाएँ घटीं - उन्होंने दूसरा विवाह किया और राजनयिक सेवा से इस्तीफ़ा दिया। त्यागपत्र के बाद वह कुछ वर्षों तक यूरोप और अमेरिका में अध्यापन करते रहे। फिर मैक्सिको जाकर 'प्यूरल' नामक एक पत्रिका का प्रकाशन किया।

ऑक्टैवियो पॉज़ अब बूढ़े हो चुके हैं। लेकिन रचना की दृष्टि से वह अब भी सक्रिय हैं और उनकी बौद्धिक क्षमताएँ अब भी बरकरार हैं। मेक्सिको के युवा लेखकों के आकर्षण और बहस का मुख्य विषय अब भी ऑक्टैवियो पॉज़ है। 1970 में मैं अमेरिका गया। तब मुझे पता नहीं था कि ऑक्टैवियो पॉज़ मेक्सिको लौट चुके हैं। लेकिन 1978 में अमेरिका-यात्रा के बाद मैं मेक्सिको जाकर उनसे मिलना चाहता था। कुछ कारणों से यह संभव नहीं हुआ। लेकिन प्रोग्राम में मेरे एक भारतीय सहयोगी पार्थसारथी मेक्सिको गए और पॉज़ से मिले। ऑक्टैवियो पॉज़ ने भारत के विषय में, अपने मित्रों के बारे में उनसे देर तक पूछताछ की और मेरे संबंध में पूछा कि वह क्यों नहीं आये?

1963 में जब मैंने उनसे पहली बार बातचीत की, तब साहित्य में, विशेषकर पश्चिमी साहित्य में, 'इंगेज्ड आर्ट' और 'कमिटमेंट' को लेकर ज़ोर-शोर से बहस चल रही थी। भारतीय साहित्य में भी इसकी गूँज सुनायी पड़ रही थी। मैंने ऑक्टैवियो पॉज़ से बातचीत इसी सवाल को लेकर शुरू की।

इस पर उन्होंने कहा, 'मैं यह सोचता हूँ कि, 'कमिटमेंट' एक साहित्यिक समस्या नहीं है।'

श्री. व. : कैसे?

ऑ.पॉ. : पश्चिम में यह प्रश्न दो महायुद्धों के बीच, कम्युनिस्ट पार्टियों की उठान के दिनों में और नात्सी ख़तरों के संदर्भ में उठाया गया था। मगर उस समय भी यह सवाल राजनीतिक कारणों से और राजनीति में पैदा हुआ था। मैं अब भी यही सोचता हूँ उस समय भी साहित्य को 'कमिटमेंट' के नाम पर राजनीति और शिविरों में घसीटा

हिंदी गद्य विविधा

गया था। साहित्य के लिए 'कमिटमेंट' या 'एन्टी-कमिटमेंट' जैसी बात कोई अर्थ नहीं रखती।

श्री.व. : आपकी बात स्पष्ट नहीं हुई। कमिटमेंट एक राजनीतिक ही क्यों, लेखक के लिए एक नैतिक सवाल भी हो सकता है। राजनीतिक और नैतिक दोनों ही धरातलों पर इसे उठाने की कोशिश पिछले दिनों सार्त्र ने की है।

ऑ.पॉ. : मगर अचानक यह प्रश्न साहित्यिक प्रश्न कैसे बन बैठा। सन् तीस से चालीस के बीच जब सारा यूरोप 'इन्जेड' की बात कर रहा था, सार्त्र 'डिस-इन्जेड कला' की बात कर रहे थे। और अब जब इंग्लैंड और फ्रांस के कुछ लेखकों को छोड़ पश्चिम के अधिकांश लेखकों के लिए यह प्रश्न कोई प्रश्न ही नहीं रहा, तब (जर्मन आधिपत्य के दिनों से) सार्त्र के लिए यह समस्या साहित्य की सबसे बड़ी समस्या बनी हुई है। मैंने अपने मित्र कामू से - जो इन्जेडमेंट में कतई विश्वास नहीं करते थे - इस पर बातें की हैं और सार्त्र से भी चार बार लम्बी बहसों की हैं। मुझे कहना ही पड़ेगा सार्त्र पर राजनीति सवार है। क्रांति के दिनों में वह क्रांतिकारी नहीं रहे। अब जब क्रांति मर चुकी है, वह क्रांति का ताज़िया अपने कंधों पर उठाये हुए हैं।

आपने सार्त्र की बात की है, तो मैं सार्त्र के साहित्य के बारे में भी आपको अपनी राय बता देना चाहता हूँ। पहली बात तो यह है कि सार्त्र और कॉमू दोनों ही महान् लेखक नहीं हैं। मगर कॉमू निस्संदेह एक अच्छे लेखक हैं। मगर यही बात मैं सार्त्र के विषय में नहीं कह सकता - केवल उनकी डिक्लेरेंट (ह्लासोन्मुख) अच्छी कहानियों को छोड़। सार्त्र के उपन्यास खराब हैं और उनका बाकी साहित्य भी विशेष महत्व नहीं रखता। मैं उन्हें एक महत्वपूर्ण रचनाकार नहीं, मगर मौलिक विचारक ज़रूर मानता हूँ और मेरे मन में अगर उनके प्रति आदर है तो वह उनके साहित्य के कारण नहीं बल्कि उनके आदर्शों के कारण है, जो सही या ग़लत जैसे भी हों, उनके अपने हैं।

श्री.व. : मगर ऐसा कह आप अपनी ही बात का विरोध कर रहे हैं। अभी आपने कहा कि कोई लेखक केवल अपनी प्रतिबद्धता के कारण महत्वपूर्ण नहीं हो जाता और अब आप यह कह रहे हैं कि आपके मन में सार्त्र के प्रति आदर उनके साहित्य नहीं आदर्शों के कारण है।

ऑ.पॉ. : नहीं, ऐसी बात नहीं। यह मेरा क्रसूर नहीं कि सार्त्र की ईमानदारी और नीयत मेरे लिए आदर योग्य हो सकी, उनका साहित्य नहीं। इसके लिए मैं ज़िम्मेदार नहीं कि जितने बड़े उनके आदर्श हैं, उतना बड़ा उनका साहित्य नहीं। बल्कि मैं तो यह मानता ही हूँ और मैंने पहले भी कहा है कि आदर्श बड़ा हो तो ज़रूरी नहीं कि उस

ऑक्टोवियो पॉज़

आदर्श का दावेदार साहित्य भी बड़ा हो। कला के अपने प्रतिमान हैं। कोई भी आदर्श कला का प्रतिमान नहीं हो सकता।

श्री.व. : मगर ब्रेख्त को आप क्या कहेंगे, और मायकोव्स्की! जिनके लिए साम्यवाद और साहित्य, प्रतिमान और आदर्श दो अलग चीज़ें नहीं रहीं। दोनों इस तरह संगठित हो गए कि कला के लिए एक नया ही 'प्रतिमान' तैयार हो गया।

ऑ.पॉ. : बेहतर उदाहरण ब्रेख्त हैं। मगर मैं ज़ही मानता कि ऐसा कोई नया प्रतिमान तैयार हुआ है। ब्रेख्त की कला का रहस्य साम्यवाद नहीं बल्कि ब्रेख्त के अंदर का विद्रोही है। स्वभाव में, रचना में यह विद्रोह ही लेखक को लेखक बनाता है, फिर इस विद्रोह की कर्मभूमि कुछ भी हो। विद्रोह अपने अंदर होता है, बाहर से उसे जुटाया नहीं जा सकता। मगर इससे भी बड़ा खतरा तब पैदा होता है, जब 'कमिटमेंट' को साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक मानदण्ड मान लेने का आग्रह किया जाता है।

माक्स की दृष्टि से बॉल्ज़क जिन कारणों से बड़ा लेखक था, क्या सचमुच ही वे किसी लेखक के बड़े होने के निर्णयात्मक कारण हैं? किसी पाठक के लिए यह बात क्या महत्व रखती है कि बॉल्ज़क जनवादी था या प्रतिक्रियावादी? खजुराहो, साँची और कोणार्क के कारीगर और कलाकार, कलाकार थे या प्रचारक? धर्म अगर उनकी कला की परिणति है तो यह न उनका दोष है न उपलब्धि। वॉन गॉग किसके प्रति कमिटेड थे? और संगीत, आपका अपना शास्त्रीय संगीत, जो सभ्यता की सबसे बड़ी उपलब्धियों में से एक है, किससे प्रतिश्रुत है? कमिटमेंट हमेशा मनुष्य का मनुष्यता के प्रति, कलाकार का कला के प्रति होगा। संस्थाएँ, विचारधाराएँ, अमूर्त वस्तुएँ हैं। और महज़ विचारधारा की कसमें खाता हुआ, विचारधाराओं की बाइबिलें उठाता हुआ कोई लेखक न मनुष्यता के प्रति ज़िम्मेदार हो सकता है न कला के प्रति।

श्री.व. : मगर यह आप कैसे कह सकते हैं कि केवल वामपंथी लेखकों ने ही स्वाधीनता जैसे सवालों को केवल कुछ विशेष सामयिक राजनीतिक संदर्भों में रखकर देखा है। औरों की बात छोड़ दीजिए, क्या आप कह सकते हैं कि दार्शनिक यैस्पर्स ने भी जब स्वाधीनता की बात की है तो उसका कोई राजनीतिक संदर्भ नहीं रहा है?

ऑ.पॉ. : यैस्पर्स क्यों! अगर उदाहरण ही लेना है तो, और बहस को और प्रमाणिक बनाना है तो हीडेग्गर का उदाहरण लिया जाय। फ्रेंच अस्तित्ववादी भी अस्तित्ववादी हैं और हीडेग्गर भी। लेकिन हीडेग्गर का दर्शन निर्विकार है। फ्रेंच अस्तित्ववादीयों की तरह वह कुछ विशिष्ट संदर्भों का मुँह नहीं जोहते। स्वाधीनता और अस्तित्व, ये मनुष्य के बुनियादी सवाल हैं और हीडेग्गर ने उन्हें आधिभौतिक धरातल पर बुनियादी सवालों के ही रूप में उठाया है। समय ने उन्हें भ्रष्ट नहीं किया है। मैं आप -

हिंदी गद्य विविधा

जैसे नवयुवक लेखकों से, जो इस बात को ज़रूर ही और भी तीखे ढंग से अनुभव कर रहे होंगे, विशेष रूप से कहना चाहता हूँ कि विचारधाराएँ समाज के चेहरे पर पड़ा हुआ झूठा पर्दा हैं और धीरे-धीरे वह उतर रहा है। विचारधाराओं का युग समाप्त हो रहा है और अब हम यथार्थ को अधिक नज़दीक से देख सकते हैं।

श्री.व. : क्या आप यह कहना चाहते हैं कि विचारधाराएँ मनुष्य और मनुष्य के साक्षात्कार में रुकावट हैं?

ऑ.पॉ. : हाँ। शायद आपको नहीं मालूम होगा और मैं आपको बतलाना चाहता हूँ कि अपने अन्य सुर्रियलिस्ट दोस्तों की तरह मैं भी एक अर्से तक मार्क्सवादी रहा हूँ और अंत में मैंने पाया कि इतिहास ने हमें धोखा दिया और हमने अपने-आपको। ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाने के बाद ही लेखक के सामने सबसे बड़ा संकट उपस्थित होता है। सबसे बड़ा संकट यही अनुभव है कि सोचने के लिए आगे क्या है? मगर यही एक और भी नयी सृष्टि की शुरुआत है। बात यह है कि मार्क्सवाद अपने चौथे कल्प में है। मार्क्स और एंगल्स ने उसकी परिकल्पना एक आलोचनात्मक दर्शन के रूप में की, लेनिन और ट्राट्स्की ने उसे संघर्ष और कर्म के धरातल पर अधिष्ठित किया, स्तालिन ने उसे एक प्रतिक्रियावादी दर्शन और एक घटिया किस्म के जादू में बदल दिया और अब ख्रुश्चोव के ज़माने में वह सुव्यवस्था और प्रशासन होकर रह गया। साम्यवादी समाज के विधाता अपने समाज के मैनेजर होकर रह गए। साम्यवादी दुनिया वहीं पहुंची जहाँ अमेरिका। अंतर केवल इतना है कि अमेरिका में समृद्धि अभी भी सोवियत रूस से ज्यादा है। राजनीतिज्ञों और इतिहासकारों की बहुत-सी भविष्यवाणियाँ झूठी साबित होती हैं, क्योंकि वे सतह पर जो कुछ हो रहा है केवल उसे देखते हैं, देख पाते हैं। मगर लेखक भीतर को, भीतर के अविज्ञप्त सत्य को पहचानता है। तमाम इतिहासशास्त्रियों की तुलना में जार्ज आरवेल जैसे लेखक सत्य के अधिक नज़दीक हैं। मैं भारत के लिए, जिसकी कोई राजनीतिक परंपरा नहीं रही है, यह बात और भी आग्रह के साथ कह सकता हूँ कि यहाँ के लेखकों की कर्मभूमि राजनीतिक नहीं हो सकती।

भारत और भारतीय साहित्य के बारे में, श्री ऑक्टैवियो पॉज़ की राय जानना दिलचस्प होगा, यह सोच लेखक की ज़िम्मेदारी की इस बहस को यहीं रोककर मैंने पूछा, 'अगर भारतीय लेखक दिग्भ्रमित हैं तो आप क्या सोचते हैं, इसके कारण क्या हैं?'

ऑ.पॉ. : इसका मुख्य कारण यह है कि वे ब्रिटेन और अमेरिका को ही पश्चिम, बल्कि काफ़ी हद तक संसार मानकर चलते हैं। और अमेरिका और इंग्लैण्ड उनकी प्रेरणाओं के केंद्र बन गए हैं जबकि यह बात मुझे अजीब लगती है कि भारतीय समाज, जिसकी परम्पराएँ क्लासिक परम्पराएँ हैं, ब्रिटेन और अमेरिका के साहित्य के

ऑक्टोवियो पॉज़

साथ अपना रिश्ता कैसे कायम कर सकता है, जिसकी परम्पराएँ एण्टी-क्लासिक हैं। इंग्लैंड ने अपने सबसे बड़े जीनियस शेक्सपीयर के रूप में भी इक्सेण्ट्रिक पैदा किया, दाँते-जैसा क्लैसिसिस्ट नहीं। अंग्रेज़ी साहित्य में मिल्टन है, मगर सर्वान्तीज नहीं। यह सही है कि भारत में भी खजुराहों-जैसी धुरी से खिसककर एक अलग ही दुनिया में निकल आयी अपूर्व कलाएँ हैं। लेकिन भारतीय साहित्य की परंपराएँ केंद्रीय हैं और मेरा निश्चित मत है कि अमेरिका और इंग्लैण्ड का उत्केन्द्रित साहित्य उसक आदर्श नहीं हो सकता।

श्री.व. : क्या आप यह कहना चाह रहे हैं कि भारतीय लेखक का पश्चिमी साहित्य के सम्पर्क में आना गलत हुआ?

ऑ.पॉ. : नहीं, मैं यह बिलकुल ही नहीं कह रहा हूँ। इसके विपरीत मैं यह कह रहा हूँ कि भारतीय लेखक पश्चिमी साहित्य के संपर्क में पूरी तरह आये ही नहीं। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसकी प्रतिध्वनि गलत न हो, इसलिए मैं पहले ही स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं हिंदुस्तान ही नहीं, हर देश के तथाकथित 'राष्ट्रीय साहित्य' से सबसे अधिक नफ़रत करता हूँ, हालाँकि मुश्किल यह है कि देशभक्ति, परम्परा और समाज के नाम पर हर देश में इस प्रकार का झूठा साहित्य पैदा होता है। मैं एक 'सुरियलिस्ट' कवि रहा हूँ और कम से कम मेरे लिए तो देश और राष्ट्र के नाम पर की गयी इस बकवास को साहित्य मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं केवल यह कह रहा हूँ कि ब्रिटेन और अमेरिका संसार की खिड़कियाँ नहीं हैं।

श्री.व. : जैसे मुल्कराज़ आनन्द और राजा राव हिन्दुस्तान की खिड़कियाँ नहीं हैं।

ऑ.पॉ. : मैं जानता हूँ। मगर मैं अपनी बात केवल इन्हें ध्यान में रखकर नहीं कर रहा हूँ।

श्री.व. : ज़ाहिर है कि आप पिछले दिनों भारत के अनेक बुद्धिजीवियों के सम्पर्क में आये हैं। उनसे मिलकर आपके मन पर क्या प्रतिक्रिया हुई?

ऑ.पॉ. : मुझे लगा कि भारत में साधारण जनता की तो बात ही छोड़िए, बुद्धिजीवी कहलाने वाले वर्ग के बीच भी बौद्धिक वातावरण का अभाव है।

श्री.व. : शायद आप कहना चाहते हैं कि भारतीय बुद्धिजीवी काफ़ी हद तक छद्म हैं। अगर सचमुच ही ऐसा है तो इनके कारण - सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक - क्या हैं?

ऑ.पॉ. : कारण बहुत से हो सकते हैं। मगर एक कारण और भी हो सकता है - प्रतिभा का अभाव। मगर ये सब तो बाद की बातें हैं। मुझे तो सबसे अधिक हैरानी और

हिंदी गद्य विविधा

निराशा भारत के समाचारपत्रों और पत्र-पत्रिकाओं को देखकर होती है। छोटे-छोटे देशों के समाचारपत्र भी देश-विदेश के साहित्य और कला में गहरी दिलचस्पी रखते हैं। मगर यहाँ आकर मैंने देखा कि उन्हें राजनीति की ओछी से ओछी बातों में रुचि है, साहित्य से उन्हें कोई सरोकार नहीं। यहाँ तक कि उनके 'साप्ताहिक संस्करण' भी साहित्य और कला का मखौल जान पड़ते हैं। एक लोकप्रिय पत्र लोकरुचि को आधुनिक बनाने में कितना सहायक हो सकता है, इसका उन्हें अदांज़ ही नहीं।

श्री पॉज़ ने पास में पड़ा हुआ स्पेनिश भाषा का एक पत्र उठाया और फिर उसमें प्रकाशित रचनाएँ बताने लगे। उन्होंने बताया कि यह मेक्सिको का एक 'मनोरंजन-पत्र' है, मगर इसमें जिन रचनाओं से पाठकों का मनोरंजन किया गया है वे हैं डब्ल्यू.एच.ऑडेन की नवीनतम कविताओं के अनुवाद, सार्त्र का इण्टरव्यू, सिमन दे बुआ की पुस्तक की समीक्षा, और उन आधुनिकतम कलाकृतियों की प्रतिच्छवियाँ जिन्हें लेकर पिछले दिनों बहस होती रही है। फिर उन्होंने भारत में प्रकाशित एक लोकप्रिय अंग्रेज़ी साप्ताहिक उठाया और कहा इसे पढ़ने की ज़रूरत नहीं। इसका आवरण देखकर ही अनुमान किया जा सकता है कि इसके भीतर क्या होगा। उन्होंने कहा कि 'आप यह न समझें कि मैं यह सब भारत की निन्दा और अपने देश की प्रशंसा में कह रहा हूँ। कहना मैं यह चाहता हूँ कि भारत - जैसे देश में, जहाँ यह ज़रूरी था कि अधिकधिक बौद्धिक वातावरण तैयार किया जाता, यह नहीं हुआ। भारतीय भाषाओं के बारे में मैं नहीं जानता। लेकिन मैं सोचता हूँ साहित्य को हमेशा बदलती चलने वाली साहित्यिक पत्रिकाएँ यहाँ अधिक नहीं होंगी।

'मगर यह बातचीत पश्चिम से हटकर भारत पर आ गयी और आप पश्चिम के बारे में जानने को अधिक उत्सुक होंगे।' उन्होंने कहा।

श्री.व. : शायद हमारे देश के नवयुवक कवि पश्चिम की कविता के बारे में आपके विचार जानने को उत्सुक हों, खासकर उन देशों की कविता के बारे में जो अंग्रेज़ी के बावजूद अभी भी अंधेरे में पड़ी हुई है।

ऑ.पॉ. : व्यक्तिगत रूप से मुझे सबसे अधिक ब्रेताँ ने प्रभावित किया है। पुराने कवियों में मेरे सबसे प्रिय कवि मलार्ने हैं। मगर बाद के कवियों में एलुआर, नेरूदा, हेनरी मिशाँ और सेण्ट जॉन पर्स मेरी पसंद के कवि हैं और उनकी कविताओं में इतनी क्षमता है कि उन्हें दुबारा भी पढ़ा जा सकता है। शायद आपने पांश और चॉर का नाम न सुना हो। ये फ्रांस की युद्धोत्तर पीढ़ी के सबसे महत्वपूर्ण कवि हैं। आप इनकी कविताएँ ज़रूर पढ़ें। मैं सोचता हूँ पश्चिम की समूची कविता को नवजीवन देने में जितना बड़ा योगदान सिम्बलिस्ट और सुर्रियलिस्ट आंदोलन ने दिया है, अन्य किसी ने नहीं।

श्री.व. : अमेरिका के नवयुवक कवियों के बारे में आपके क्या विचार हैं?

ऑ.पॉ. : आपका मतलब बीट कवियों से है? हो सकता है वे आपके मनपसंद कवि हों। मगर जहाँ तक मैंने उन्हें पढ़ा है, उनकी कविताओं में मानवीय अपील तो है, मगर कला और कविता की दृष्टि से वे इतनी बड़ी नहीं कि दस साल से अधिक जीवित रहें। यही बात सोवियत कवि एब्दिशेंको और बोज्नेसेंस्की की कविताओं के बारे में भी कही जा सकती है।

श्री.व. : यह भविष्यवाणी आप कैसे कर सकते हैं?

ऑ.पॉ. : मैं भविष्यवाणी नहीं कर रहा हूँ। मगर कविता को देखकर उसकी उम्र का अंदाज़ लगाया जा सकता है। गिन्सबर्ग में मेरी दिलचस्पी है। उनका व्यक्तित्व मुझे लुभाता भी है। लेकिन उनकी कविताएँ भावुकतापूर्ण हैं और मुझे नहीं लगता वे कविता की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

श्री.व. : और फ्रांस का नया उपन्यास?

ऑ.पॉ. : बकवास है। मैंने आपसे अभी अस्तित्ववादियों की आलोचना करते हुए कई बातें कहीं हैं। मगर मैं एक बात कह देना चाहता हूँ कि मैं अस्तित्ववादियों के नीरस और ऊब से भरे हुए उपन्यास तो पढ़ सकता हूँ क्योंकि वे अपनी तमाम असमर्थताओं के बावजूद उपन्यास हैं। लेकिन रॉब ग्रिये और उनके दोस्तों और प्रशंसकों का यह 'नया उपन्यास' मैं नहीं पढ़ सकता। यह कलाकारों का नहीं, टेकनीशियनों का साहित्य है।

श्री.व. : क्या आप यह कहना चाहते हैं कि फ्रांस में, जो पश्चिम के नये आंदोलन का अग्रदूत है, उपन्यास की स्थिति निराशाजनक है?

ऑ.पॉ. : निराशाजनक और आशाजनक जैसे शब्दों में इस स्थिति को नहीं तौला जा सकता। उपन्यास के बारे में मेरी धारणाएँ अलग हैं और हो सकता है आप उनसे कतई सहमत न हों। मैंने उपन्यास और उसकी संभावनाओं को लेकर कुछ समय हुए एक लेख लिखा था। मुझे लगता है उपन्यास की जीवनी-शक्ति खत्म हो रही है।

श्री.व. : कैसे?

ऑ.पॉ. : बात यह है कि उपन्यास का जन्म इतिहास की एक खास अवस्था में, एक खास ज़रूरत के कारण हुआ था। वह साहित्य का आदि और मूल रूप नहीं। साहित्य की आदि शक्ति ट्रेजेडी है। उपन्यास ट्रेजेडी और ट्रेजेडी के बीच की, एक अंतराल की, चीज़ है। उपन्यास समाज के नाम इतिहास का एक एजेण्ट है। अगर वह

हिंदी गद्य विविधा

ट्रेजेडी के स्थान को भर सकता तब तो कोई बात नहीं थी। मगर ट्रेजेडी के स्थान को केवल ट्रेजेडी ही भर सकती है। उपन्यास के जन्म में ही उसकी मृत्यु की संभावनाएँ थीं और जहाँ तक मैं सोच पाता हूँ, धीरे-धीरे उपन्यास के इतिहास में फिर से गुम होते जाने के लक्षण नज़र आ रहे हैं।

श्री.व. : कौन-से लक्षण?

ऑ.पॉ. : ये लक्षण प्रूस्त और ज्वायस हैं जो अंतिम महान् उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों में उपन्यास अपनी पराकाष्ठा और साथ ही साथ अपनी तर्कसंगत परिणति पर पहुँच गया है। उन्होंने अपने युग की शंका, अविश्वास, यथार्थ, अयथार्थ सबको उनकी पूरी गरिमा और गरीबी के साथ रखा है। लेकिन आप सोचिए, उपन्यास के विकास की इस प्रक्रिया में भाषा कहाँ तक पहुँची, प्रूस्त बुद्ध तक पहुँचे जहाँ 'मैं' नहीं रह जाता और ज्वायस वेबल की मीनार तक। एक में 'मैं' का उन्मूलन हो गया, दूसरे में 'अर्जुन, अर्जुन है' की अर्थवत्ता रह गयी। आप यही देख लीजिए न कि फ्रांस की, जिसे आप 'नये से नये आंदोलन का अग्रदूत' कहते हैं, वास्तविक उपलब्धि उपन्यास नहीं, कविता है। आगे की अवस्थाएँ उपन्यास नहीं, ट्रेजेडी और महाकाव्य हैं।

यह सोचकर कि चित्रकला के बारे में उनके विचार जानना मनोरंजक होगा जब मैंने अमूर्त चित्रों के बारे में उनसे सवाल किया तो उन्होंने अपने तीन कमरों की दीवार पर लगे तीन अमूर्त चित्र मुझे दिखाये और कहा कि इनमें से एक कलाकृति एक भारतीय चित्रकार की है, दूसरी, एक इटैलियन चित्रकार की और तीसरी, एक फ्रेंच की। लेकिन अगर हस्ताक्षर मिटा दिये जायें तो मेरे लिए यह भी पहचानना मुश्किल होगा कि कौन किसकी है? मेरा मतलब यह नहीं कि कलाकृति में जातीय विशिष्टता का होना ज़रूरी है, बल्कि यह है कि उसमें कलाकारों की मुहर होनी ज़रूरी है। फ़िलहाल अमूर्त कला की दुनिया में अत्यधिक नकल है और इसका कारण यही है कि उसकी खोज का क्षेत्र संवेदना नहीं, फार्म है। लेकिन इससे आप इस नतीजे पर न पहुँच जायें कि पश्चिम की कला में गतिरोध है या पश्चिम में सांस्कृतिक संकट है। गतिरोध नहीं है, गति है, भयानक गति है।

श्री.व. : मेक्सिको में कविता की क्या स्थिति है?

ऑ.पॉ. : वही, जो अन्यत्र है। वहाँ भी कविता 'अल्पमत' है। मगर यह 'अल्पमत' एक परंपरा है जिसे दुनिया के अन्य कवियों की तरह मेक्सिको के कवि भी जीवित रखे हुए हैं।

ऑक्टोवियो पॉज़

चार घंटों की इस बातचीत को समाप्त करते हुए श्री ऑक्टोवियो पॉज़ ने कहा, 'बात 'कमिटेमेंट' से शुरू हुई थी और वहीं खत्म होनी चाहिए। ज़रूरी यह है कि लेखक अपने आपको पहचाने और स्वीकार करे। आप इस महानगर में अकेले रहते हैं, हो सकता है आप मित्रहीन हों, हो सकता है आपने प्रेम किया हो, अपने संघर्ष में टूट रहे हों, सहानुभूति के दो शब्द भी आपको न मिलते हों। मानवीय स्थितियाँ ये हैं या समाज और मनुष्यता के वे बड़े-बड़े नारे जिनका न साहित्य के लिए कोई अर्थ है न मनुष्य के लिए?'

चलते-चलते उन्होंने कहा, 'मैं चाहता हूँ भारतीय बुद्धिजीवियों और आपके देश के समाचारपत्रों को लेकर मैंने जो कहा है मेरी ओर से उसका उल्लेख आप अपने लेख में ज़रूर करें। मैं सचमुच ही चाहता हूँ कि जो बौद्धिक जड़ता मुझे यहाँ दिखायी पड़ रही है, जल्द से जल्द समाप्त हो?'

उनके इस्तीफे के बाद, मैंने उनसे इस्तीफे में उठाये गए कुछ नैतिक प्रश्नों पर बातचीत की।

'छात्र असंतोष' पर बात शुरू करते हुए उन्होंने कहा कि 'इसे पीढ़ियों के संघर्ष के रूप में देखना ग़लत है। दरअसल इसकी जड़ें दूसरी जगह हैं और यह किसी एक देश की समस्या न रहकर सारे संसार की समस्या हो गयी है। हम जिस संसार में रह रहे हैं, वह संभवतः ग़लत संसार है और जब और लोग मौन हैं, तब छात्र आगे बढ़कर इस ग़लत संसार का विरोध कर रहे हैं।'

श्री.व. : यह विरोध और किस चीज़ का संकेत है?

ऑ.पॉ. : जो कुछ पश्चिम में हो रहा है, उसका। यह बात हमको स्वीकार कर लेनी चाहिए कि सारी विचारधाराएँ विफल हो चुकी हैं। हम यह मानें या न मानें, छात्र इन तमाम विचारधाराओं को अपर्याप्त मानकर टुकरा रहे हैं। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में क्रांति का जो अर्थ विकसित हुआ, वह झूठा पड़ चुका है। क्रांति का अर्थ मर चुका है। छात्र क्रांति के इसी अर्थ के विरोधी हैं। राजनीतिक क्रांति की अवधारणा पश्चिम की देन है। पूर्व में ऐसी कोई कल्पना नहीं की गयी - यहाँ क्रांति को धार्मिक या सांस्कृतिक संदर्भों में समझा गया। पश्चिम में तीन बड़ी राजनीतिक क्रांतियाँ हुईं : फ्रांस, अमेरिका और रूस की। तीनों ने अपने परिणामों में मनुष्यता के गहरे अर्थों को नष्ट किया, या अगर यह न भी कहा जाय तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पश्चिम की समस्त राजनीतिक क्रांतियाँ मनुष्यता की समग्र आकांक्षा को स्वरूप देने में नाकाम साबित हुईं हैं। शायद इसका कारण ही यह है कि वे महज़ राजनीतिक क्रांतियाँ थीं।

हिंदी गद्य विविधा

श्री.व. : छात्र क्या करना चाहते हैं? क्या वे क्रांति के विरुद्ध क्रांति करना चाहते हैं?

ऑ.पॉ. : वे क्रांति से विद्रोह कर रहे हैं। जैसा कि मैंने कहा, क्रांति के अर्थ का अधूरापन वे अच्छी तरह पहचान चुके हैं। वे इस नतीजे पर पहुंचने के लिए विवश हुए हैं कि प्रत्येक समूह-क्रांति का स्वरूप राजनीतिक होगा जो अंत में सत्ता और जड़ता तक पहुंचेगा। समाज को बदलने के लिए 'विद्रोही' गहरे अर्थों और समग्र व्यक्तित्व की तलाश करता है। सजग व्यक्तित्व के लिए एकमात्र रास्ता रह गया है विरोध और विद्रोह का : राज्य के ग़लत निर्णयों का विरोध और समाज की खोखली बुनियाद से विद्रोह। हमारे युग का विद्रोह छात्र-आंदोलन के रूप में व्यक्त हो रहा है। यह विद्रोह पश्चिम की समस्त जीवन-पद्धतियों और समाज-व्यवस्थाओं के लिए, चाहे वे पूंजीवादी हो या समाजवादी, एक चुनौती है। इस विद्रोह ने, इन समाज-व्यवस्थाओं के सुख, सुविधा, समृद्धि और अवकाश को कटघरे में खड़ा कर दिया है।

श्री.व. : इसका अर्थ हुआ कि पश्चिमी समाज-व्यवस्थाएँ स्वयं अपने ही पैदा किये हुए सवालियों से घिर गयी हैं।

ऑ.पॉ. : हाँ, छात्र उनकी परीक्षा ले रहे हैं और इस इम्तिहान में ये जीवन-पद्धतियाँ लगातार अनुत्तीर्ण हो रही हैं। छात्र आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के उत्स की ओर जा रहे हैं। शायद इससे यह जाना जा सके कि क्या ग़लत था कि सब कुछ ग़लत हो गया।

श्री.व. : क्या सभी देशों में छात्र असंतोष के एक - जैसे कारण हैं?

ऑ.पॉ. : मौटे तार पर मुख्य चुनौती एक है। मगर अलग-अलग देशों की अलग-अलग परिस्थितियाँ हैं। अमेरिका, फ़्रांस और पश्चिमी यूरोप में छात्र-असंतोष एक जैसे कारणों से है।

श्री.व. : क्या मेक्सिको का छात्र-आंदोलन, जिसके दमन के विरुद्ध आपने इस्तीफ़ा दिया, लगभग उन्हीं कारणों से पैदा हुआ है जिनसे पश्चिमी यूरोप या अमेरिका का आंदोलन?

ऑ.पॉ. : मेक्सिको के छात्रों का विद्रोह मध्यवर्ग के नैराश्य और आक्रोश को अभिव्यक्त करता है। यह सही है कि मेक्सिको की क्रांति इस अर्थ में सफल रही कि उससे स्थायित्व आया और आर्थिक प्रगति हुई। मगर उसी अनुपात में विषमता बढ़ी और लोगों के राजनीति में हिस्सा लेने की परिस्थितियाँ सिकुड़ती गयीं। मेक्सिको के छात्र-विद्रोह की मुख्य आकांक्षा है देश की राजनीति में अधिक से अधिक हिस्सेदारी। इसका

कारण यह है कि आज मेक्सिको की सत्ताधारी पार्टी सिण्डीकेट बनकर रह गयी है। उसने जनता को उसकी राजनीतिक हिस्सेदारी से वंचित कर दिया है। मेक्सिको की राजनीति को समझने के लिए इस पार्टी का इतिहास जानना ज़रूरी है। एक ज़माने में यह पार्टी 'राष्ट्रीय क्रांतिकारी पार्टी' कहलाती थी। उन दिनों वह वामपंथी पार्टी थी। दस साल बाद उसे 'मेक्सिको क्रांति की पार्टी' का नाम दिया गया। तब तक वह वामपंथी न रहकर महज़ एक राष्ट्रीय पार्टी बन चुकी थी। और अब वह अपने को 'प्रतिष्ठानों की क्रांतिकारी पार्टी' कहना पसंद करती है। 'प्रतिष्ठान' और 'क्रांति' को एक-दूसरे का दुश्मन बताने वाले बर्ट्रण्ड रसेल इस पार्टी के अंतर्विरोध को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं। आज यह पार्टी समूचे मेक्सिको का राजनीतिक नियंत्रण किए हुए है। इस 'नियंत्रण' का स्वभाव तानाशाही से भिन्न है। इस नियंत्रण का संदर्भ पूँजीवादी है और इसमें साम्यवाद जैसी कठोरता नहीं है। यह लोकतंत्र के भीतर मुट्ठीभर लोगों की अपने को सत्ता में बनाये रखने की इच्छा का प्रतीक है। मेक्सिको के छात्रों ने इसी नियंत्रण से विद्रोह किया था।

श्री.व. : यानी कि वे सत्ता को बदलने की क्रांतिकारी इच्छा रखते थे।

ऑ.पॉ. : क्रांति की इच्छा नहीं, 'परिवर्तन' की इच्छा। मुझे शब्दों से खेलना पसंद नहीं। मगर 'क्रांति' और 'परिवर्तन' दोनों के अलग-अलग अभिप्राय हैं और दोनों को एक कर देखने से हम ग़लत नतीजों पर पहुँच सकते हैं। मैं पहले कह चुका हूँ छात्र 'क्रांति' नहीं 'परिवर्तन' चाहते हैं। वे समस्त क्रांतियों का पतन देख चुके हैं।

श्री.व. : मगर फ्रांस के छात्र आंदोलन के दर्शनकार मारकुस का कहना है कि छात्र बीसवीं सदी की भावी क्रांतियों के वाहक हैं और छात्र-आंदोलन के दौरान फ्रांस की कम्युनिस्ट पार्टी के विश्वासघात पर टिप्पणी करते हुए ज्याँ पाल सार्त्र ने भी कहा था कि क्रांति का अगला दस्ता अब पार्टी नहीं, छात्र हो गए हैं।

ऑ.पॉ. : यह मारकुस का भ्रम है। छात्र और बुद्धिजीवी दोनों में से कोई भी क्रांति का वाहक नहीं। जहाँ तक मज़दूर वर्ग का प्रश्न है, वह अब क्रांति की इच्छाएँ अर्जित नहीं करता - यह बात पश्चिमी समाज के अध्येता ज़्यादा अच्छी तरह समझेंगे। छात्र और बुद्धिजीवी दोनों केवल विरोध कर सकते हैं और विरोध करते हुए परिवर्तन ला सकते हैं।

श्री.व. : सत्ता और बलप्रयोग के समाने यह विरोध कैसे टिक सकता है? क्या वह महज़ सांकेतिक होकर नहीं रह जायेगा। क्या फ्रांस के छात्रों का ज़बर्दस्त आवेग फ्रांस में कोई बुनियादी परिवर्तन कर सका? बल्कि अड़े हुए लोकमत और जमी हुई सत्ता के आगे वह पराजित हुआ।

हिंदी गद्य विविधा

ऑ.पॉ. : मैं यह नहीं मानता कि फ्रांस के छात्रों का आवेग पराजित हो गया या कि अकारण गया। उसने पश्चिमी समाज की जड़ों को हिला दिया। इतनी जल्दी हमें नतीजों पर नहीं पहुँचना चाहिए। प्रतीक्षा करनी चाहिए। मैं जो बात कहना चाहता हूँ वह यह है कि समाज के पास छात्रों के प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं। मारकुस हों या सार्त्र, उनके पास इस बात का क्या उत्तर है कि पश्चिम की समस्त राजनीतिक क्रांतियाँ, चाहे वे पूंजीवाद की हों या साम्यवाद की अंततः नौकरशाही राज्यतंत्र बनकर क्यों रह गयीं क्या कारण है कि लेनिन की संतान चेकोस्लोवाकिया में अपने टैंक लेकर जाती हैं और लिंकन के उत्तराधिकारी वीएतनाम पर अनन्तकाल तक बमबारी करते-से जान पड़ते हैं? पश्चिमी सभ्यता इतिहास की बहुत बड़ी दुर्घटना है। एशिया में मौतों का हिसाब रखने वाले पश्चिमी विशेषज्ञों से मैं यह कहना चाहता हूँ कि अगर भारत में हज़ार आदमी कालरा से मरता है, तो यह कोई संतोष का कारण नहीं - पश्चिम में कई कार-दुर्घटना में मरते हैं। भारत यदि भुखमरी के कगार पर खड़ा है तो पश्चिम परमाणु बमों के ढेर पर खड़ा है। इसलिए पश्चिमी सभ्यता का यह गर्व झूठा है कि उसने इतिहास के प्रश्नों को सुलझा लिया है। प्रश्न सुलझाने के बजाय उलझ गए हैं।

श्री.व. : क्या आप यह सोचते हैं कि मार्क्सवाद भी इतिहास के प्रश्नों को सुलझाने में विफल रहा?

ऑ.पॉ. : मुझे यहाँ स्वीकार कर लेना चाहिए कि मैं मार्क्स को पिछली एक शताब्दी का सबसे बड़ा दार्शनिक और द्रष्टा मानता हूँ। मगर इतिहास के विषय में मार्क्स के निष्कर्ष अधूरे हैं। मार्क्स ने वर्ग सत्ता की स्थापना का स्पष्टीकरण किया था। किंतु आगे चलकर वर्ग-सत्ता निर्मम राज्यसत्ता में परिणत हो गयी। आज मनुष्य के 'एलीनिशन' के लिए राज्यसत्ताएँ जिम्मेदार हैं।

श्री.व. : आपकी बातों से लगता है कि मनुष्य अवसादग्रस्त है और रोशनी की कोई लकीर नज़र नहीं आती।

ऑ.पॉ. : रोशनी का झूठा दावा करने से बेहतर है यह स्वीकार करना कि अँधेरा है। छात्र या बुद्धिजीवी या कवि या कलाकार पैगम्बर नहीं हैं। वे दुनिया को रास्ता नहीं दिखा सकते। मगर राजनेताओं ने संसार को जिस जहन्नुम में पहुँचा दिया है, उससे विद्रोह अवश्य कर सकते हैं। और पश्चिम के छात्र और बुद्धिजीवी यही कर रहे हैं।

श्री.व. : क्या भारत पर भी यह बात लागू होती है?

ऑ.पॉ. : विश्व-सभ्यताओं में भारत का एक अनोखा स्थान रहा है। उसने अपने दर्शन से संसार का पथ-प्रदर्शन किया। लेकिन भारत, राजनीतिक अर्थों में, कभी भी

ऑक्टोवियो पॉज़

महान् सत्ता नहीं रहा। वह हमेशा विचारों के स्तर पर जीवित रहा। दूसरे 'गुप्त युग' को छोड़ वह हमेशा विश्व-सांस्कृतिक के प्रवाह में रहा। मौर्यों ने पश्चिमी प्रभाव को उसी तरह स्वीकार किया जिस तरह कि आज के कांग्रेसी शासकों ने। बल्कि बहुत-सी बातों में मौर्य उस ज़माने के कांग्रेसी थे। मध्ययुग में भारत ने मुगल संस्कृति को आत्मसात किया। राजनीतिक अर्थों में यह भारत की विफलता है। लेकिन गहरे अर्थों में यही भारत के बने रहने का कारण है कि उसने अपने अस्तित्व के लिए राजनीति के स्तर पर नहीं बल्कि दर्शन के स्तर पर संघर्ष किया।

श्री.व. : क्या आप यह कहना चाहते हैं कि मनुष्य केवल दर्शन के स्तर पर बचा रह सकता है?

ऑ.पॉ. : बहुत हद तक। महान् राज्य बनने का कोई अर्थ नहीं रह गया है। एक तो अब भारत चाहकर भी महान् राज्य नहीं बन सकता। इसके लिए अब बहुत देर हो चुकी है। लेकिन अगर वह महान् राज्य बन भी जाता है तो क्या हो जाता। माओ त्से-तुंग जैसे घटिया कवि हैं, लेकिन अगर वह महा कवि होते, तब भी मैं यह कहने में संकोच नहीं करता कि उन्होंने चीन को नष्ट कर दिया। उसे केवल राजनीतिक स्तर पर जीवित रखकर। शायद इसमें कुछ चीन की परम्पराओं का भी दोष है। चीन की दार्शनिक सूक्तियों में भी राजनीति है और चीनी जब भी पीछे की ओर मुड़ते हैं तो इन सुक्तियों से केवल राजनीतिक अर्थ प्राप्त करने के लिए - लेकिन इसकी तात्कालिक ज़िम्मेदारी 'सांस्कृतिक क्रांति' के प्रवर्तक माओ त्से-तुंग पर है। भारत की परंपरा चीन से भिन्न है। अगर भारत पीछे की ओर मुड़ता है तो राजनीति या कौशल के लिए नहीं बल्कि मनुष्य के दर्शन के लिए।

श्री.व. : अर्थ और राजनीति की दुनिया में लड़खड़ाते हुए भारत से आप दर्शन के स्तर पर जीवित रहने का आग्रह कर रहे हैं?

ऑ.पॉ. : मैं संन्यास नहीं सिखा रहा हूँ और न ही यह आग्रह कर रहा हूँ कि भारत को राजनीति से संन्यास ले लेना चाहिए। मेरे कहने का मतलब केवल इतना है कि आज हमें एक ऐसी विश्व-सभ्यता की आवश्यकता है जो वैज्ञानिक आकांक्षा और कविता के आंतरिक अनुशासन का समन्वय हो। यह संभावना मुझे केवल भारत में नज़र आती है। हो सकता है इसमें सौ साल लग जायें। मगर भविष्य के लिए दृष्टि शायद भारत से ही मिल सकती है?

श्री.व. : अतीतोन्मुख भविष्यदृष्टि?

हिंदी गद्य विविधा

ऑ.पॉ. : जीवन-प्रवाह को अतीत और भविष्य में बांटकर नहीं देखा जा सकता। मेरे विचार में बौद्ध धर्म केवल अतीत की चीज़ नहीं, बल्कि आज की चीज़ है। मैं सभी धर्मतंत्रों में बौद्ध धर्म से सबसे अधिक प्रभावित हुआ क्योंकि वह अधिक से अधिक दर्शन और कम से कम धर्म है, जबकि इस्लाम अधिक से अधिक धर्म और कम से कम दर्शन है। जो धर्म जितना अधिक दर्शन होगा वह उतना ही कालजयी होगा और जो दर्शन जितना ही अधिक धर्म होगा वह उतना ही अधिक क्षणभंगुर होगा।

श्री.व. : बौद्ध धर्म अब भी जीवित है, यह आप किस आधार पर कह रहे हैं।

ऑ.पॉ. : साँची के स्तूप के आधार पर, भारत की उस समस्त कला के आधार पर जिस पर बौद्ध दर्शन की छाप है। मुझे भारत में सबसे अधिक उसकी कला-परम्पराओं ने प्रभावित किया। मुझ पर तीन कला-पद्धतियों ने गहरी छाप छोड़ी। मथुरा का बौद्ध शिल्प, महाबलिपुरम का मंदिर और कार्ला की गुफाएँ। खजुराहों की कला भ्रष्ट है। उसमें स्थापत्य की आकांक्षा कम है, यौनाचार की अतिरंजना अधिक है। इसके अलावा यहाँ की लोककला की परम्पराएँ बहुत महान् हैं। लोककला भारतीय जीवन का अविभाज्य अंग है। मुझे यह देखकर पीड़ा होती है कि भारतीय बुर्जुआ इस लोकसंस्कृति को नष्ट कर रहा है।

श्री.व. : केवल लोकसंस्कृति को या और भी बहुत कुछ को?

ऑ.पॉ. : सब कुछ को। मुझे सबसे अधिक घृणा यहाँ के अंग्रेज़ी पढ़े वर्ग से है, जो एक ओर साहित्य और संस्कृति का स्वाँग करता है, दूसरी ओर अपने ही देश की सांस्कृतिक आकांक्षाओं को नष्ट करता है। इसने कला को संग्रहालय की चीज़ बना दिया है। इसकी रुचि घटिया और भद्दी है। और यही यहाँ का शासक वर्ग बन बैठा है। यह पाखण्डी और नक्काल वर्ग है। इसने अंग्रेज़ी साहित्य का भी अधूरा अध्ययन किया है। शेक्सपीयर उसके लिए ड्राइंगरूम की सजावट की चीज़ है। जब तक यह वर्ग बना रहेगा तब तक भारत का साहित्य और कला विकसित नहीं हो सकते। बल्कि मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि उसके रहते भारत राजनीतिक अर्थों में भी कभी स्वाधीन नहीं हो सकता। लोग यह बात भूल जाते हैं कि संस्कृति के माध्यम से भी शासन किया जाता है, संस्कृति की भाषा में भी राजनीति की इच्छाएँ व्यक्त होती हैं। ब्रिटेन और अमेरिका भारत के अंग्रेज़ीपरस्त शासक वर्ग के माध्यम से भारत में पूर्ववत् बने हुए हैं। भारतीयों को यह पहचानना होगा कि वे अभी एक दूसरे अर्थ में दास बनाकर रखे गए हैं।

अपनी बात जारी रखते हुए ऑक्टवियो पॉज़ ने कहा, "वैसे मैं राजनीति से परहेज नहीं करता। मगर मैं यह मानता हूँ कि बुद्धिजीवी की राजनीतिक हैसियत में अकसर छल होता है - वह अकसर राजनेताओं का दास होता है। राजनीति को बदलने के

लिए राजनीति से विद्रोह और समाज को बदलने के लिए समाज की आलोचना, गहरी शंका आवश्यक होती है। यहाँ आकर मैंने पाया कि अधिकतर राजनीतिज्ञ अबौद्धिक हैं और अधिकतर बुद्धिजीवी राजनेताओं के दास हैं। मैं स्वामिनाथन और शामलाल से इसलिए प्रभावित हुआ कि उनमें शंका की प्रवृत्ति है और अलोचनात्मक दृष्टि है। वे प्रतिष्ठित मूल्यों से उदासीन हैं। एक और आदमी ने मुझे बहुत प्रभावित किया। नीरोद चौधरी। हालाँकि नीरोद चौधरी खबती है, मगर मेरी राय में वह बहुत बड़ा लेखक है। वह दक्षिणपन्थ का वाल्टेयर है, हालाँकि मुझे भारत में वामपन्थ के वाल्टेयर की प्रतीक्षा है। मुझे भारत के राजनीतिज्ञों से बहुत उम्मीदें नहीं। मगर यहाँ के कवियों और कलाकारों से बहुत आशाएँ हैं। उनमें विरोध की प्रवृत्ति है और जूझने का एक अनोखा संकल्प है। उन्हें केवल इतना ध्यान रखना होगा कि किसी भी कलाकार का संकल्प उसके अपने माध्यम से व्यक्त होता है। दूसरों के माध्यम से नहीं। भारत के कवि और कलाकार क्या करते हैं, इसके बारे में मुझे उत्सुकता बनी रहेगी।'

Notes

Notes

Notes